हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज़

हिन्दी साहित्यकी भूमिका

हजारीप्रसाद द्विवेदी शास्त्राचार्य
विश्वभारती, शान्तिनिकेतनके संस्कृत-हिन्दीके अध्यापक

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई नं० ४.

संशोधित परिवर्धित
तीसरी आवृत्ति

प्रथम बार फरवरी सन् १९४०
दूसरी बार जून १९४४
तीस ार फरवरी १९४८ ई०

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६, केळेवाडी, गिरगांव, मुंबई नं. ४

स्वर्गीय पितृव्य
पूज्य 'पण्डितजी' के चरणोंमें

प्रकाशककी ओरसे

जिन बहुतसे विषयोंके संबंधमें गत २५—३० वर्षोंमें दुनियाका दृष्टिकोण बदल गया है, उनमें साहित्यकी आलोचना और उसका इतिहास भी एक है। जिस तरह इतिहासके सम्बन्धमें लोगोंका ख़याल था कि उसे बनानेवाले कुछ राजे-महाराजे और सेनानी हुआ करते हैं और उनके नामोंकी सूची तथा उनके पैदा होने, राज करने, जीतने और हारनेकी तारीखोंकी सूची दे देने मात्रसे इतिहास-लेखकके कर्तव्यकी इतिश्री हो जाती है, उसी तरह भाषा और उसके साहित्यके इतिहासके सम्बन्धमें भी था। तब पुराने लेखकों और कवियोंके नामोंका संग्रह करनेमें विशेष परिश्रम किया जाता था और फिर उनकी रचनाओंके अधूरे नमूने तथा तारीफके कुछ शब्द जोड़कर उनका गलत-सही वर्गीकरण कर दिया जाता था।

पर, जैसे जैसे सब विषयोंपर वैज्ञानिक ढंगसे विचार होने लगा है, वैसे वैसे यह बात स्पष्ट होने लगी है कि संदर्भके लिहाजसे ये बातें भले ही जरूरी हों, और इसके लिए संसार उन लेखकोंका सदैव ऋणी रहेगा, पर इनसे किसी भाषाके साहित्यमें वह अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती जिसके पाये बिना साहित्यका अध्ययन निष्फल हो जाता है। प्रत्येक देशका साहित्य, समाज, संस्कृति और चिन्तन, एक अविच्छिन्न विकास-परंपराका और उसमें होनेवाली क्रिया-प्रतिक्रियाओंका प्रतिबिम्ब हुआ करता है जिसे गति देनेमें भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और वैयक्तिक कारण काफी हिस्सा लेते हैं। जब तक इन बातोंका ज्ञान नहीं होता, तब तक साहित्यके इतिहासको पढ़नेका डिक्शनरीको याद करनेकी अपेक्षा अधिक मूल्य नहीं हो सकता।

मेरी बहुत समयसे इच्छा थी कि हिन्दी साहित्यके बारेमें इस नवीन दृष्टि-कोणसे कोई ग्रन्थ लिखा जाय। इस पुस्तकके द्वारा यह इच्छा कुछ अंशोंमें

पूरी हो रही है और मुझे प्रसन्नता है कि इसे प्रकाशित करनेका सौभाग्य भी मुझे मिल रहा है।

पर यहाँ मेरा यह आशय नहीं है कि जिन विद्वानोंने हिन्दी साहित्यके इतिहासपर कलम उठाई है, उन्होंने नवीन दृष्टिकोणका सर्वथा विचार ही नहीं किया। नहीं, बहुत कुछ किया है। पर इस पुस्तकमें उस दृष्टिकोणको जिस स्पष्टता और योग्यतासे व्यक्त किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

दूसरे, यह पुस्तक हिन्दी साहित्यका इतिहास नहीं है और न यह ऐसे किसी इतिहासका स्थान ही ले सकती है। आधुनिक इतिहासोंको यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्यमें लिखे जानेवाले इतिहासोंकी मार्गदर्शिका है। इसीमें इसका महत्त्व है।

निवेदन

'विश्वभारती' के अहिन्दी-भाषी साहित्यिकोंको हिन्दी साहित्यका परिचय करानेके बहाने इस पुस्तकका आरंभ हुआ था। बादमें कुछ नये अध्याय जोड़कर इसे पूर रूप देनेकी चेष्टा की गई है। मूल व्याख्यानोंमेंसे ऐसे बहुतसे अंश छोड़ दिये गये जो हिन्दी-भाषी साहित्यिकोंके लिए अनावश्यक थे। फिर भी इस बातका यथासंभ ध्यान रखा गया है कि प्रवाहमें बाधा न पड़े। इसके लिए कभी कभी कोई कोई बा दो जगह भी आ जाने दी गई है। ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्यवं सम्पूर्ण भारतीय साहित्यसे विछिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तकमें बार बार संस्कृ पाली, प्राकृत और अपभ्रंशके साहित्यकी चर्चा आई है, इसी लिए कई लंबे परिशि जोड़कर संक्षेपमें वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्योंका परिचय करा देनेकी चेष्टा की ग है। रीति-काव्यकी विवेचनाके प्रसंगमें (पृ० ११६ पर) कविप्रसिद्धियाँ और स्त्री-अंगवं उपमानोंकी चर्चा आई है) मध्यकालकी कविताके साथ संस्कृत कविताकी तुलनाके लि आवश्यक समझकर परिशिष्टमें इन दो विषयोंपर भी अध्याय जोड़ दिये गये हैं

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने जिस प्रेम और उत्साहसे इस ग्रंथको छापा है उसके लि लेखक उनका सदा कृतज्ञ रहेगा। प्रेमीजीने प्रेम-पूर्वक इसे सुंदर रूपमें उपस्थित ह नहीं किया है, आवश्यक स्थानोंपर परिवर्तन-परिवर्धनकी भी बातें सुझाकर पुस्तकवं अधिक त्रुटियुक्त होनेसे बचा लिया है।

बौद्ध साहित्यवाले अध्यायमें प्रो० विंटरनित्स, पं० विधुशेखरशास्त्री और श्र वेणीमाधव वाडुआके लेखोंसे बहुत सहायता मिली है। पुस्तक जब प्रेसमें थी तव श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायनने भी इसके एक अंशकी आलोचना करके लेखकव सहायता की है। शान्तिनिकेतनके पाली और संस्कृतके अध्यापक पण्डित-प्रवर श्र नित्यानन्द विनोद गोस्वामीने इसे देख लिया था और आवश्यक सुधार सुझाये थे इन बातोंके लिए लेखक सभीका अत्यन्त कृतज्ञ है।

सन्त-साहित्यके संबंधमें लिखते समय आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन महाशयसे अनेक स्थानोंपर बहुत सहायता मिली है। लेखकके ऊपर उनका स्नेह इतना अधिक रहा है कि इस स्थानपर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें भी उसे बहुत संकोच हो रहा है।

अनेक विद्वानोंकी लिखी हुई अनेक पुस्तकोंसे अनेक सहायतायें मिली हैं। पुस्तकमें ही यथा-स्थान उनका उल्लेख कर दिया गया है। वस्तुतः इस पुस्तकमें जो कुछ भी अच्छा है वह अन्य विद्वानोंकी चीज़ है, लेखकका काम संग्रह करना ही अधिक रहा है। सबके प्रति वह अपनी कृतज्ञता निवेदन करता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य : भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

हिन्दी साहित्य : भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

परिशिष्ट

हिन्दी साहित्यकी भूमिका

हिन्दी साहित्य :

भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

१

आजसे लगभग हज़ार वर्ष पहले हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षोंमें भारतवर्षका हिन्दीभाषी जन-समुदाय क्या सोच-समझ रहा था, इस बातकी जानकारीका एकमात्र साधन हिन्दी साहित्य ही है। कमसे कम भारतवर्षके आधे हिस्सेकी सहस्रवर्ष-व्यापी आशा-आकांक्षाओंका मूर्तिमान् प्रतीक यह हिन्दी साहित्य अपने आपमें एक ऐसी शक्तिशाली वस्तु है कि इसकी उपेक्षा भारतीय विचार-धाराके समझनेमें घातक सिद्ध होगी। पर नाना कारणोंसे सचमुच ही यह उपेक्षा होती चली आई है। प्रधान कारण यह है कि इस साहित्यके जन्मके साथ ही साथ भारतीय इतिहासमें एक अभूतपूर्व राजनीतिक और धार्मिक घटना हो गई। भारतवर्षके उत्तर-पश्चिम सीमान्तसे विजयदृप्त इस्लामका प्रवेश हुआ जो देखते देखते इस महादेशके इस कोनेसे उस कोनेतक फैल गया। इस्लाम जैसे सुसंगठित धार्मिक और सामाजिक मतवादसे इस देशका कभी पाला नहीं पड़ा था, इसीलिए इस नवागत समाजकी राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक गति-विधि इस देशके ऐतिहासिकका सारा ध्यान खींच लेती है। यह बात स्वाभाविक तो है, पर उचित नहीं है। दुर्भाग्यवश, हिन्दी साहित्यके अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करनेका भार जिन

विद्वानोंने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्यका सम्बन्ध हिन्दू जातिके साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमीको दो ढंगसे सोचनेका मौक़ा देते हैं—एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जातिकी सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जातिके राजनीतिक उत्थान-पतनके साथ अङ्गाङ्गि-भावसे संबद्ध है, और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जातिकी चिन्ताओंका मूर्त प्रतीक है जो अपने आपमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातोंका प्रतिवाद करता हूँ, और अगर ये बातें मान भी ली जायँ तो भी यह कहनेका साहस करता हूँ कि फिर भी इस साहित्यका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि दस सौ वर्षोंतक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्योंकी बात भी मानवताकी प्रगतिके अनुसंधानके लिए केवल अनुपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्यज्ञातव्य वस्तु है। ऐसा करके इस्लामके महत्त्वको भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्यका बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।

अपनी बातको ठीक ठीक समझानेके लिए मुझे और भी हजार वर्ष पीछे लौट जाना पड़ेगा। आजके हिन्दू समाजमें आजसे दो हजार वर्ष पहलेसे लेकर हजार वर्ष पहले तकके हजार वर्षोंमें, जो ग्रंथ लिखे गये, उनकी प्रामाणिकतामें बादमें चलकर कभी कोई सन्देह नहीं किया गया और उन्हें ही यथार्थमें हिन्दू धर्मका मेरुदण्ड कह सकते हैं। मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियाँ, सूर्यादि पाँचों सिद्धान्त ग्रंथ, चरक और सुश्रुतकी संहितायें, न्यायादि छहों दर्शन-सूत्र, प्रसिद्ध पुराण, रामायण और महाभारतके वर्तमान रूप, नाट्य-शास्त्र, पतंजलिका महाभाष्य आदि कोई भी प्रामाणिक माना जानेवाला ग्रंथ क्यों न हो, उसकी रचना, संकलन या रूप-प्राप्ति सन् ईसवीके दो-ढाई सौ वर्ष इधर-उधरकी ही है। उसके बादकी चार-पाँच शताब्दियों तक इन ग्रंथोंके निर्दिष्ट आदर्शका बहुत प्रचार होता रहा और इसी प्रचार-कालमें संस्कृत साहित्यके अनमोल रत्नोंका प्रादुर्भाव हुआ। अश्वघोष, कालिदास, भद्रबाहु, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, कुमारिल, शंकर, दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े बड़े आचार्योंने इन शताब्दियोंमें उत्पन्न होकर भारतीय विचार-धाराको अभिनव समृद्धिसे समृद्ध किया। वेद अब भी आदरके साथ मान्य समझे जाते थे पर साधारण जनतामें उनकी महिमा नाम-मात्रमें ही प्रतिष्ठित रही।

भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास

अगर आप भारतवर्षके मान-चित्रमें उस अंशको देखें जिसकी साहित्यिक भाषा हिन्दी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ़ तो उत्तरमें भारतीय सीमाको छुए हुए है जहाँसे आगे बढ़नेपर एकदम भिन्न जातिकी भाषा और संस्कृतिसे सम्बन्ध होता है और दूसरी तरफ़ पूर्वकी ओर भी भारतवर्षकी पूर्व सीमाओंको बनानेवाले प्रदेशोंसे सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिणमें भी वह एक ही संस्कृति, पर भिन्न प्रकृतिके प्रदेशोंसे सटा हुआ है। भारतवर्षका ऐसा कोई भी प्रान्त नहीं है जो इस प्रकार चौमुखी प्रकृति और संस्कृतिसे घिरा हुआ हो। इस घिरावके कारण उसे निरन्तर भिन्न भिन्न संस्कृतियों और भिन्न भिन्न विचारोंके संघर्षमें आना पड़ा है। पर जो बात और भी ध्यान-पूर्वक लक्ष्य करनेकी है वह यह है कि यह मध्यदेश वैदिक युगसे लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पावित्र्याभिमानी रहा है। एक तरफ़ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियोंके निरन्तर संघर्षने और दूसरी तरफ रक्षण-शीलता और श्रेष्ठत्वाभिमानने इसकी प्रकृतिमें इन दो बातोंको बद्ध-मूल कर दिया है—एक अपने प्राचीन आचारोंसे चिपटे रहना पर विचारमें निरन्तर परिवर्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, सम्प्रदायों और संस्कृतियोंके प्रति सहनशील होना। अब देखा जाय कि हिन्दी साहित्यके जन्म होनेके पहले कौन-कौनसे आचार-विचार या अन्य उपादान इस प्रदेशके समाजको रूप दे रहे थे।

इस बातका निश्चित प्रमाण है कि सन् ईसवीकी सातवीं शताब्दीमें युक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल, आसाम और नेपालमें बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनोंकी बात है जब इस्लाम धर्मके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मदका जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्मके प्रभावशाली होनेका सबूत चीनी यात्री हुएन्त्सांगके यात्रा-विवरणमें मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्धधर्म महायान सम्प्रदायसे विशेष रूपसे प्रभावती था क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखाका भी था तो भी महायान शाखाके प्रभावसे अछूता नहीं था।* सातवीं शताब्दीके बाद उस धर्मका क्या हुआ, इसका ठीक विवरण हमें नहीं मिलता पर वह एकाएक गुम तो नहीं ही हुआ होगा। उस युगके दर्शन-ग्रन्थों, काव्यों, नाटकों आदिसे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ईसाकी पहली सहस्राब्दीमें वह इन प्रान्तोंसे एकदम लुप्त नहीं हो गया था। इधर हालमें जो सब प्रमाण संग्रहीत

*देखिए, परिशिष्ट : बौद्धोंका संस्कृत-साहित्य।

किये जा सके हैं उनसे इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमणके आरंभिक युगोंमें भारतवर्षसे इस धर्मकी एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन प्रदेशोंके धर्ममत, विचार-धारा और साहित्यपर इस धर्मने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है।

लेकिन जब मैं ऐसा कहता हूँ तो 'प्रभाव' शब्दका जो अर्थ समझता हूँ उसको ध्यानमें रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हिन्दीभाषी प्रदेशका जनसमुदाय इन दिनों बौद्ध था। वस्तुतः सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध था या नहीं, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कारण यह है कि बौद्ध धर्म संन्यासियोंका धर्म था, लोकके सामाजिक जीवनपर उसका प्रभुत्व कम ही था। जिस प्रकार आजके नागा सम्प्रदायको देखकर कोई विदेशी यात्री कह सकता है कि भारतवर्षमें नागा सम्प्रदाय खूब प्रबल है, परन्तु यह बात सच होते हुए भी इसकी सचाईके साथ सामाजिक जीवनका गहरा सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार चीनी यात्रीके यात्रा-विवरणका भी विचार होना चाहिए। हम उस विवरणसे इतना ही मान सकते हैं कि लोग बौद्ध संन्यासियोंका आदर-सत्कार करते थे और उनके ही ढंगपर अपने आपके विषयमें, अपनी दुनियाके विषयमें और लोक-परलोकके विषयमें सोचने लगे थे। हमारे सामने आज भी भारतीय गृहस्थ परस्पर-विरोधी मतोंके माननेवाले साधुओंकी तथा भिन्न भिन्न सम्प्रदायके भिन्न भिन्न प्रकृतिके देवताओंकी पूजा करता है। हुएन्त्सांगके युगमें यही अवस्था रही होगी। इससे यह समझना सरल है कि उन दिनों हिन्दू समाजमें लोग बौद्ध भिक्षुओंके उपदिष्ट देवताओंकी, कल्याण-कामनासे पूजा करते थे और उनके बताये हुए ढंगसे जप आदि भी करते थे। इस प्रकार पुश्तदर-पुश्तसे होता आता था और लोगोंके मनमें इन देवताओं और पूजापद्धतियोंके प्रति एक अपनापनका भाव आ गया था जो बौद्ध मठोंके उठ जानेके बाद भी उठ नहीं गया; बल्कि समाजमें ज्योंका त्यों रह गया। पर चूँकि बौद्ध संन्यासी ही उसका असली तत्त्व समझाया करते थे इसलिए उनके अभावमें वह नाना विकृत रूपोंमें और कभी कभी नाम-रूप बदलकर मूलरूपमें ही चलने लगा। 'प्रभाव' पड़नेका मेरी दृष्टिमें यहाँ यही अर्थ है।

बौद्ध धर्मका इस देशसे जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वेदान्तिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। इस कथनको ऐतिहासिक दृष्टिसे तो असत्य सिद्ध किया जा सकता है—लोगोंने

ऐसा करनेकी चेष्टा भी की है, पर इसका अन्तर्निहित अर्थ एकदम सत्य है। ये आचार्यगण दार्शनिक पंडित थे, इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता अनुपम थी। इसलिए इनके द्वारा बौद्ध धर्मके निर्वासन और निरसनका यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धिजीवियों और ऊपरले स्तरके लोगोंके मनपरसे बौद्धधर्मके दार्शनिक युक्ति-जालकी आस्था उठ गई। ये लोग असलमें बौद्ध तत्त्ववादके कायल थे, भक्तिवादके नहीं। पर साधारण जनताका तत्त्ववादसे कोई संबंध नहीं था। ऐसा हो सकता है कि राजा लोग जब बौद्ध तत्त्ववादके कायल नहीं रहे तब बड़े बड़े बौद्ध मठ, जो अधिकांशमें राजकीय सहायतासे चल रहे थे उठ गये होंगे। पर उन्होंने निचले स्तरके आदमियोंमें जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें केवल नाम-रूपका परिवर्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्यके तत्त्ववादकी पृष्ठ-भूमिमें बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदल कर रह गया। बड़े बड़े बौद्ध मठोंने शैव मठोंका रूप लिया और करोड़ोंकी संख्यामें जनता आज भी उन मठोंके महन्तोंकी पूजा करती आ रही है। वस्तुतः हर्षके बाद उत्तर भारतमें (विशेष कर इन प्रदेशोंमें) बहुत दिनोंतक बौद्ध धर्मको कोई राजकीय सहारा नहीं मिला। न मिलनेके कारण या तो बौद्ध संन्यासियोंको उन स्थानोंपर चला जाना पड़ा जहाँ उन्हें संरक्षण मिल सकता था, या निचले स्तरके लोगोंको अधिकाधिक आकृष्ट करना पड़ा। आठवीं-नवीं शताब्दीमें बौद्ध महायान सम्प्रदाय लोका-कर्षणके रास्ते बड़ी तेजीसे बढ़ने लगा। वह तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान, धारणा* आदिसे लोगोंको आकृष्ट करता रहा। यद्यपि 'सद्धर्म-पुण्डरीक' आदि प्राचीन महायानीय ग्रंथोंमें ही इन बातोंके जीवाणु वर्तमान थे पर इन शताब्दि-योंमें वह इस रास्ते बड़ी तेजीसे मुड़ पड़ा। महायान शाखाकी अन्तिम परिणति अभिचारादिमें ही हुई।

आठवीं शताब्दीमें बंगालमें पाल-राज्य कायम हुआ। यही वंश भारतवर्षमें बौद्ध धर्मका अन्तिम शरणदाता रहा। यहाँ आकर और नेपाल और तिब्बतमें जाकर बौद्ध धर्मका संबंध तंत्रवादसे और भी अधिक बढ़ गया। जिन दिनों हिन्दी साहित्यका जन्म हो रहा था उस दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसामें बड़े बड़े बौद्ध विहार विद्यमान् थे जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटनकी विद्याओंसे और नाना प्रकारके रहस्यपूर्ण तान्त्रिक अनुष्ठानोंसे जन-समुदायपर अपना प्रभाव

* देखिए, परिशिष्ट : बौद्धोंका संस्कृत-साहित्य।

फैलाते रहे। नेपालमें तो अब भी बौद्ध धर्म किसी न किसी रूपमें प्राप्त हो जाता है पर अत्यन्त हालमें बंगाल, उड़ीसा और मयूरभंजकी रियासतमें बौद्ध गृहस्थोंके दल पाये गये हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथका मंदिर पहले बौद्धोंका था, बादमें बुद्धमूर्तिके सामने किसी वैष्णव राजाने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों *जिसे जगन्नाथ ठाकुरकी मूर्ति कहते हैं वह भी बुद्ध देवके अस्थि* रखनेके पिटारेके सिवा और कुछ नहीं है! उड़ीसाका महिमा सम्प्रदाय, बंगालके रमाई पंडितका शून्यपुराण, वीरभूममें पाई जानेवाली धर्म-पूजा आदि बातें आज भी इन प्रदेशोंमें बौद्ध धर्मके भग्नावशेष हैं।

महिमा सम्प्रदायकी कहानी बड़ी मनोरंजक है। सन् १८७५ ई० में इस सम्प्रदायके एक अन्ध मनुष्यको, जिसका नाम 'भीम भोई' था, बुद्धदेवने स्वप्न दिया कि वह उनके धर्मका प्रचार करे। इस कार्यके पुरस्कार-स्वरूप बुद्धदेवने भीम भोईकी आँखें पहले ही ठीक कर दीं। देखते देखते हजारोंकी संख्यामें उसके शिष्य जुट गये। भीम भोईने हजारों शिष्योंके साथ जगन्नाथके मंदिरपर आक्रमण कर दिया; उद्देश्य था, दीवार तोड़कर बुद्धमूर्तिका उद्धार करना। पर उड़ीसाके राजाने उसके आक्रमणको रोक लिया और भीम भोईको दबा लिया। आतंकित होकर उसके शिष्य उड़ीसाके दूर दूरके कोनोंमें जा छिपे और अब भी किसी न किसी रूपमें अपनी गुरु-परंपरा रखते आ रहे हैं। इन बातोंसे यह अनुमान आसानीसे किया जा सकता है कि हिन्दी साहित्यके जन्म-कालके समय बौद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था, जीवित जोशके साथ वर्तमान भी था। जनसाधारणके साथ उसका योग तो था ही। मगध और बंगालमें मुसलमानी धर्मके आक्रमणसे बौद्ध और हिन्दू मन्दिर समान भावसे आक्रान्त हुए; मंदिरों, मठों और बिहारोंको समान भावसे ध्वंस किया गया। फिर भी पौराणिक धर्म नहीं बच सका। क्योंकि पहलेका सम्बन्ध उन दिनों समाजसे था और दूसरेका केवल बिहारोंसे।

नेपालमें इस समय जो बौद्ध धर्म वर्तमान् है, वह बहुत कुछ उसी ढंगका होना चाहिए जैसा किसी समय वह बंगाल और मगधमें रहा होगा। नवीं और दसवीं शताब्दियोंमें नेपालकी तराइयोंमें शैव और बौद्ध साधनाओंके सम्मिश्रणसे नाथ-पंथी योगियोंका एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल-क्रमसे हिन्दीभाषी जनसमुदायको बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीरदास,

सूरदास और जायसीकी रचनाओंसे जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। सन् १३२४ में तिरहुतका एक राजा मुसलमानोंसे खदेड़ा जाकर नेपालमें जा पहुँचा। वह अपने साथ अनेक पंडितों और ग्रंथोंको भी लेता गया। इसका राज्य वहाँ बहुत दिनों तक स्थिर तो नहीं रह सका पर इसके द्वारा ब्राह्मण धर्मका जो बीजारोप हुआ वह आगे चलकर बहुत विकासशील सिद्ध हुआ। परवर्ती राजा जयस्थितिने इन्हीं ब्राह्मणोंकी सहायतासे समाजका पुनः संगठन किया। इस प्रकार नेपालके राजघरानेके प्रयत्नसे गुरखा लोग, जो वहाँके प्रधान बाशिंदे थे, अपने प्राचीन धर्मको फिरसे ग्रहण करनेमें समर्थ हुए पर नेवारी लोग बौद्ध ही बने रहे। इस नेपाली बौद्ध धर्मका एक प्रधान रूप है 'आदि बुद्ध' की पूजा। आदि बुद्ध बहुत कुछ हिन्दुओंके भगवानके समान ही है। यह लक्ष्य करनेकी बात है कि नेपालके ब्राह्मण बौद्ध धर्मको शत्रु-दृष्टिसे नहीं देखते। नेपालमाहात्म्यके अनुसार जो बुद्धकी पूजा करता है वह शिवकी ही पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धोंका स्वयंभु-पुराण पशुपतिनाथकी पूजाको बुद्धकी ही पूजा मानता है। बहुत संभव है कि काशी और मगधके प्रान्तोंमें भी अन्तिम दिनोंमें बौद्ध और पौराणिक धर्मोंका पारस्परिक संबंध ऐसा ही रहा हो।

अब, इन सारी बातोंको ध्यानसे देखें तो मालूम होगा कि विराट् बौद्ध-संप्रदाय पहले दो खण्डोंमें बँट गया—हीन-यान और महायान। हीन-यान संप्रदायवाले अपनेको शुरूमें ही हीन-यान (= छोटे रथ) के आरोही नहीं कहते थे; अहीरन भी जब अपने दहीको खट्टा नहीं कहती तो ये बेचारे अपने ही रथको भला हीन-रथ कैसे कह सकते थे! पर महायानवालोंने इस शब्दका ऐसा प्रचार किया कि हीन-यानवालोंको भी अन्तमें उसे मान लेना पड़ा*। महायान अर्थात् बड़ी गाड़ीके आरोहियोंका दावा है कि वे नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सबको अपनी विशाल गाड़ीमें बैठाकर निर्वाण तक पहुँचा सकते हैं, जहाँ हीन-यान (या सँकरी गाड़ी) वाले केवल संन्यासियों और विरक्तोंको ही आश्रय दे सकते हैं। महा-यानके इस नाममें ही जनसाधारणके साथ उनके गंभीर योगका आभास मिलता है। आगे चलकर फिर महा-यानमें भी कई टुकड़े हो गये। सबसे अन्तिम टुकड़े हैं वज्रयान और सहजयान, जो अपनी गाड़ीको सचमुच इतनी मजबूत और सहज बना सके कि उनमें पाण्डित्य और

---

* परिशिष्टमें बौद्ध साहित्यका परिचय पढ़िए।

कृच्छ्रसाध्यताका अर्थात् कष्ट-पूर्ण व्रत संयम आदिका कोई अंग रहा ही नहीं। इस प्रकार महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् ईसवीके आरम्भसे ही लोकमतकी प्रधानता स्वीकार करता गया। यहाँ तक कि अन्तमें जाकर लोकमतमें घुल मिल कर लुप्त हो गया। सन् ईसवीके हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतोंकी हुई। मुसलमानी संसर्गसे उसका कोई सम्पर्क नहीं है। हजार वर्ष पहलेसे वे ज्ञानियों और पंडितोंके ऊँचे आसनसे नीचे उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठा-भूमि लोकमतकी ओर आने लगे। उसीकी स्वाभाविक परिणति इस रूपमें हुई। उसी स्वाभाविक परिणतिका मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। मैं इसी रास्ते सोचनेका प्रस्ताव करता हूँ। मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओंके मान-दण्डसे लोक-चिन्ताको नहीं मापना चाहता बल्कि लोक-चिन्ताकी अपेक्षामें उन्हें देखनेकी सिफारिश कर रहा हूँ।

थोड़ी देरतक महायान संप्रदायकी चर्चा और कर ली जाय क्योंकि हमारे आलोच्य साहित्यपर इसका गहरा प्रभाव है। फिर लगे हाथों संक्षेपमें स्मार्त आचार्योंकी चिन्ता-धाराकी परिणतिपर विचार कर लिया जाय। यह दूसरी बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि महायान संप्रदायका हमारे आलोच्य साहित्यपर जितना कुछ भी प्रभाव क्यों न हो, वह सामाजिक आचार-विचारोंका मेरुदण्ड नहीं है। मेरुदण्ड तो ये स्मार्त विचार ही हैं। फिर एक एक करके शैव वैष्णव आदि संप्रदायोंकी बात करना भी आवश्यक हो जायगा।

महायान संप्रदायकी निम्नलिखित सात विशेषताओंकी चर्चा पंडितोंने की है।

(१) सर्वभूत-हितवादमें विश्वास रखना और समस्त जगतके प्राणियोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करना; स्वयं कष्ट सहकर भी, नरक भोग कर भी अन्य जीवोंके उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

(२) बोधिसत्त्वोंमें विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्तिके द्वारा बोधिसत्त्वत्व प्राप्त कर सकता है। "हरिको भजै सो हरिको होई।"

(३) बुद्धोंके लोकोत्तरत्वमें विश्वास। यह भी विश्वास करना कि बुद्धगण काल और देशकी सीमामें परिव्याप्त हैं।

(४) जगत्को सार-शून्य और नश्वर मानना।

(५) कर्मकाण्डकी बहुलता और मंत्र-तंत्रमें विश्वास।
(६) संस्कृतके ग्रंथोंमें विश्वास, पालीमें नहीं।
(७) बुद्धमें और विशेष करके अमिताभ बुद्धमें विश्वास और उनके नाम-जपसे निर्वाण-प्राप्तिमें विश्वास।

कहना व्यर्थ है कि ये सभी बातें उत्तर भारतके हिन्दू धर्ममें रह गई हैं। आगे चलकर हम यह भी देख सकेंगे कि हिन्दी साहित्यके प्रायः सभी अंग इनमेंके एकाधिक सिद्धान्तोंसे प्रभावित थे। इन तथा अन्य महायानीय सिद्धान्तोंकी यदि हीनयानीय सिद्धान्तोंसे तुलना की जाय तो इस विषयमें कोई संदेह नहीं रह जायगा कि महायान हीनयानकी अपेक्षा अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक है। वह प्राचीन बौद्ध धर्मकी भाँति केवल यही नही कहता कि सब कुछ छोड़कर चले आओ, बल्कि यह सलाह देता है कि सब कुछ लिये हुए भी तुम परमपद तक पहुँच सकते हो।

अब प्रश्न यह है कि ये बातें महायान सम्प्रदायने हिन्दू समाजमें प्रवेश कराई या हिन्दू समाजने महायानमें? दोनों बातें संभव हैं और असलमें जीवित समाजोंके भावोंके आदान-प्रदान इस प्रकारसे होते हैं कि उनके बीच लकीर खींच कर बता सकना कि यह अमुककी देन है और यह अमुककी लेन है, सदा कठिन हुआ करता है। फिर भी पंडितोंने कुछ बातोंको निश्चित रूपसे महायानियोंकी देन माना है। देन नहीं बल्कि भग्नावशेष कहना ठीक होगा। सन् ईसवीकी पहली शताब्दीमें महायान प्राचीन बौद्ध धर्मसे अलग हो गया। उसी समयसे वह सुदूर पूर्व और मध्य एशियासे अपना सम्बन्ध बढ़ाता गया। इन स्थानोंमें वह अपने विशुद्ध रूपोंमें न रह सका। वहाँसे उसने बहुत-सी नई बातें सीखीं और उनको वह कभी कभी इस देशमें परिचित करानेमें भी समर्थ हुआ। जो बातें उसने उस युगके समाजके निचले स्तरसे सीखीं उनमें भी नई बातें प्रविष्ट कराईं। कहते हैं, तंत्रमें चीनाचार आदि आचार स्पष्ट ही विदेशी हैं। हालहीमें एक पंडितने तांत्रिकोंके 'आगम' शब्दकी जाँच करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये बाहरसे आये हुए आचार हैं जो नामसे ही प्रकट हैं। नाम-जपका पुराना सबूत भारतवर्षके प्राचीन शास्त्रोंमें न मिलता हो सो बात तो नहीं, पर मध्य युगके समाजमें इसका जो रूप रहा वह निश्चयपूर्वक महायान सम्प्रदायसे ही अधिक सम्बद्ध था। इन बातोंके अतिरिक्त बौद्ध तत्त्ववाद, जो निश्चय ही बौद्ध आचार्योंकी चिन्ताकी देन था, मध्ययुगके हिन्दी

साहित्यके उस अंगपर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है जिसे 'सन्त साहित्य' नाम दिया गया है। इसका प्रमाण हमें आगे चल कर मिलेगा। इसी प्रकार शास्त्र-सापेक्ष भाव-धाराके भक्तोंके अवतार-वादका जो रूप है, उसपर महायान सम्प्रदायका विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं है कि प्राचीन हिन्दू-चिन्ताके साथ उसका सम्बन्ध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसी, दास आदि भक्तोंमें उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ताओंसे कुछ ऐसी भिन्न जातिका है कि एक जमानेमें ग्रियर्सन, केनेडी आदि पंडितोंने उसमें ईसाईपनका आभास पाया था! उनकी समझमें नहीं आ सका था कि ईसाई धर्मके सिवा उस प्रकारके भाव और कहींसे मिल सकते हैं। लेकिन आज शोधकी दुनिया बदल गई है। ईसाई धर्ममें जो भक्तिवाद है वही महायानियोंकी देन सिद्ध होनेको चला है, क्योंकि ऐसे बौद्धोंका अस्तित्व एशियाकी पश्चिमी सीमामें सिद्ध हो चुका है, और कुछ पंडित तो इस प्रकारके प्रमाण पानेका दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारतके उत्तरी प्रदेशोंमें आये थे और बौद्धधर्ममें दीक्षित भी हुए थे। लेकिन ये अवान्तर बातें हैं। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोक-धर्मका रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्यमें पाते हैं। इतने विशाल लोक-धर्मका थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।

इधर यदि हम संस्कृत साहित्यकी ओर दृष्टि फेरें तो देखेंगे कि सन् ईसवीके बादका संस्कृत साहित्य उत्तरोत्तर पण्डितोंकी चीज बनता गया। इस साहित्यमें लोक-जीवनसे हटे हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसारका आभास मिलता है। महाभारत या रामायण जिस प्रकार लोक-जीवनसे प्रत्यक्ष भावसे जड़ित थे, उत्तरकालीन काव्य-ग्रंथ वैसे नहीं रहे। ज्ञान, जो किसी समय प्रत्यक्ष साधना और तन्मय जीवनसे उपलब्ध हुआ था, उत्तरकालीन टीकाकारों और ग्रंथकारोंके लिए बहसकी चीज रह गया। असलमें जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभाका तो काफी विकास हुआ परन्तु यह निश्चित रूपसे विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीनोंके ज्ञानसे निम्न कोटिका है। इसी मनोवृत्तिका परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्यको अपने मतवादकी पुष्टिके लिए प्रस्थान-त्रयी अर्थात् बादरायणका ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीताका सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक

भाव फैला हुआ-सा जान पड़ता है कि बिना इनका सहारा लिये कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता। ईसाकी पहली सहस्राब्दीमें ही इस मनोभावने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोत्तर बद्धमूल होता गया। यहाँ यह स्मरण करा रखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह चिन्ता-पारतंत्र्य मुसलमानी धर्मके जन्मके बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्ती हिन्दी साहित्यमें इसके उग्र रूपको देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासनकी प्रतिक्रिया थी; बिलकुल गलत होगा। असलमें, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिन्तामें इस चिन्ता-पारतंत्र्यको जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं।

जिस युगसे हमारा विशेष सम्बन्ध है उस युगका पाण्डित्य प्रत्यक्ष जीवनसे और भी दूर हटता जा रहा था। जहाँ छठी-सातवीं शताब्दीके पंडितोंके आत्मोपलब्ध ज्ञान और प्रत्यक्ष जीवनमें वेदोपनिषद् आदि दो-एक ग्रंथ ही ही मध्यवर्तीका काम करते थे वहाँ दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीके पंडितके लिए सभी आचार्य और उनके ग्रंथ भी बीचमें आ जुटे। इस प्रकार जिन दिनों बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर लोक-धर्ममें घुल-मिल रहा था, उन्हीं दिनों ब्राह्मण धर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। मूल ग्रंथोंकी टीकायें,—उनकी भी टीकायें, इस प्रकार कभी कभी छः छः आठ आठ पुश्त तक टीकाओंकी परम्परा चलती गई। लेकिन ये टीकायें सर्वत्र चिन्ता-पारतंत्र्यकी निदर्शक नहीं हैं, कभी कभी स्वतंत्र मतोंके प्रतिपादनार्थ भी लिखी गई थीं। शुरू शुरूमें तो यह बात और भी सच थी। ऐसी टीकाओंको असलमें टीका न कह कर स्वतंत्र ग्रंथ ही कहना चाहिए। प्राचीन ग्रंथोंसे उनको जोड़ रखनेका मतलब यही होता था कि अपने मतको आर्ष और श्रुतिसम्मत सिद्ध किया जा सके। ये टीकायें साधारणः भाष्य कहलाती थीं; पर इन भाष्योंकी टीकायें और उनकी भी जो टीकायें लिखी गई उनमें क्रमशः स्वाधीन चिन्ता कम होती गई। उनका उद्देश्य उपजीव्य ग्रंथोंकी अच्छी-बुरी समस्त युक्तियोंका तर्क-बलसे समर्थन करना हो गया। अब, यह निश्चित है कि ग्यारहवीं शताब्दीमें इन ग्रंथों, भाष्यों, टीकाओं और उनकी टीकाओंकी परम्परा बहुत अधिक बढ़ गई थी। यह आगे चलकर और भी बढ़ती चली गई। यहीं इसने एक नया रास्ता पकड़ा। टीका-परंपराकी इस नई शाखाको हम निबंध-साहित्य कह सकते हैं *। ग्यारहवीं शताब्दीके बाद

* 'टीका' शब्द यहाँ बहुत व्यापक अर्थमें लिया गया है। असलमें सभी प्रकारकी

निबंध-ग्रंथोंकी परम्परा बढ़ने लगी। हमारे आलोच्यका इस शाखासे विशेष सम्बन्ध है।

धर्मशास्त्रीय वचनोंकी छान-बीन करके लोक-जीवनके व्यवहारके लिए उपयोगी विधियोंकी व्यवस्था देना निबन्ध-ग्रंथोंका कार्य है। कौन-सा व्रत या उपवास कब करना चाहिए, किसे करना चाहिए, किसे नहीं करना चाहिए, विवाहादि अनुष्ठानोंकी छोटी-मोटीसे लेकर बड़ी बड़ी विधियोंका निर्देश, उनके अधिकारी या अनधिकारीका निर्णय आदि लोक-जीवनसे सम्बद्ध छोटी मोटी सैकड़ों बातोंका विचार, विश्लेषण और व्यवस्थापन इन ग्रंथोंमें किया गया है। आधुनिक युगके पाठकको जो बात नितान्त अकिञ्चित्कर और निष्प्रयोजन जान पड़ सकती है उसके लिए इन ग्रन्थोंके पन्नेके पन्ने रँगे हैं। यह बात यहाँ प्रत्यक्ष है कि शास्त्र लोक-जीवनके साथ घनिष्ठ रूपसे जड़ित है। सिन्धसे लेकर आसाम तक इन निबन्धोंका प्रचलन है। ऐसा समय तो कभी नहीं रहा होगा जब विवादास्पद विषयोंपर पण्डितोंकी सम्मतियाँ न ली जाती हों, और इसीलिए ऐसा भी समय नहीं होगा जब इन निबन्धोंकी जातिके ग्रन्थ न लिखे गये हों—वस्तुतः इस जातिके ग्रंथ सन् ईसवीसे भी बहुत प्राचीन कालमें बनने लगे थे, परन्तु, इस युगकी अन्यान्य बातोंको जिस प्रकार इन निबन्धोंने छाप लिया वैसा कभी नहीं हुआ होगा। यह स्मरण रखनेकी बात है कि हिन्दू धर्म ईसाइयोंके धर्मकी भाँति बड़े बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियन्त्रित नहीं था (जैसा कि पोपोंके रोमन-चर्चद्वारा ईसाई धर्म नियं-

---

व्याख्याओंको टीका नहीं कहते। कमसे कम शब्दोंसे जब अधिकसे अधिक अर्थ प्रकट करनेकी कोशिश की जाती है तो इन छोटे छोटे वाक्योंको सूत्र कहते हैं। जिसमें सूत्रोंके सार मर्म बताये जाते हैं उसे वृत्ति कहते हैं। सूत्र और वृत्तिके परीक्षणको पद्धति कहते हैं। सूत्र और वृत्तिमें बताये गये सिद्धान्तोंपर आक्षेप करके फिर उनका समाधान करके उन सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरणको भाष्य कहते हैं। भाष्यके बीचमें जो विषय प्रकृत हो उसे त्यागकर और दूसरे उसीसे सम्बद्ध किन्तु अप्रकृत विषयोंका जो विचार किया जाता है उसे समीक्षा कहते हैं। इन सबमें बताये गये विषयोंका टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं। सिद्धान्त-मात्रका जिसमें प्रदर्शन हो उसे कारिका कहते हैं और मूल ग्रन्थके कथनके औचित्य-विचारको वार्तिक कहते हैं। इनमें सूत्र वार्तिक और कारिकाके सिवा बाकी जितने हैं उन सबको यहाँपर एक साधारण शब्द ‘टीका’ द्वारा प्रकट किया गया है।

होता था) और न मुसलमानी धर्मके समान सामाजिक भातृभावके आदर्श-द्वारा सुसंगठित ही था। असलमें जिस अर्थमें मुसलमान या ईसाई धर्म धर्म हैं वह अर्थ हिन्दू धर्मके लिए कभी लागू हो ही नहीं सकता। दक्षिणमें शंकराचार्य और माध्वाचार्यके सम्प्रदायोंके सुसंगठित मठ हैं पर उनका भी प्रभाव उस जातिका नहीं है जैसा रोमन चर्चका। हिन्दुओंकी प्रत्येक जातिको अपने आचार-विचारको स्वतंत्र भावसे पालन करनेकी स्वाधीनता थी। अगर समूचीकी समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्वको स्वीकार कर लेती थी तो चातुर्वर्ण्यमें अत्यन्त निचले स्तरमें, और कभी कभी गुणकर्मानुसार ऊपरले स्तरमें भी, उसकी गणना कर ली जाती थी। हिन्दुओंकी ये जातियाँ आचार-विचारमें ब्राह्मणों तथा अन्य श्रेष्ठ जातियोंकी नकल किया करती थीं और समय समयपर ऊँची पदवी भी पा जाया करती थीं। हिन्दुओंमें धर्म-परिवर्तन करानेकी कोई प्रथा नहीं थी पर इतिहाससे ऐसी सैकड़ों प्रकारकी जातियाँ खोज निकाली जा सकती हैं जो समूह रूपमें एक ही साथ ब्राह्मण धर्ममें शामिल हो गई थीं। यह एक प्रकारसे सामूहिक धम-परिवर्तन ही होता था। तो जो बात मैं कहने जा रहा था वह यह है कि बौद्ध धर्मके लोप होनेके बाद ऐसी बहुत-सी जातियाँ ब्राह्मण धर्मके अन्दर आ गई थीं, जो बौद्ध प्रभावके अन्दर होते हुए भी अपने आचार-विचारमें स्वतंत्र थीं। इन जातियोंके आनेके कारण बहुतसे व्रत, पूजा पार्वण आदि इस धर्ममें आ घुसे जिनकी प्राचीन ग्रंथोंमें कोई व्यवस्था न थी। पुराणोंसे इस बातका समाधान किया गया था। इन जातियों और इनकी समस्त आचार-परम्पराको धीरे धीरे इन टीकाओं तथा ऋषियोंके नामपर लिखे गये नये न[illegible]राण-ग्रन्थोंमें अन्तर्भुक्त किया गया। यह कार्य इतना जटिल आ[illegible]शृङ्खल हो गया होगा कि पंडितोंको उसके नियमन और व्यवस्थापनकी जरूरत पड़ी होगी। निबन्ध ग्रंथ उसीके परिणाम हैं। इस प्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीके पंडितोंको लोक-जीवनकी ओर झुकनेको बाध्य होना पड़ा था। एक विचित्र प्रवृत्ति इन निबंधोंमें स्पष्ट ही दिखाई देती है। स्तूपाकार शास्त्र-वचनोंके ढेरमेंसे वही वाक्य प्रामाण्य मान्य लिये जाते हैं जिनका उपयोग प्रचलित लोक-व्यवहारके समर्थनमें हो सके। बाकी वाक्योंको 'ननु' कह कर पूर्व पक्षमें फेंक दिया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि बंगालमें जो वाक्य पूर्व-पक्षका है वही महाराष्ट्रमें उत्तर-पक्षका, और उड़ीसामें जो वाक्य उत्तर-पक्षका है वही काशीमें पूर्वका। फिर ऐसे विशेष वचन भी बहुत

अधिक हैं जो किसी एक ही प्रदेशमें माने जाते हैं। इन सब बातोंसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उस युगका पांडित्य लोक-जीवनकी ओर झुकने लगा था। हम देख चुके हैं कि बौद्ध पंडित भी लोक-मतकी ओर नत हो चुके थे और ये स्मार्त पंडित भी उसी ओर झुके। परन्तु दोनोंका झुकाव दो दिशाओंमें हुआ। एक निकृष्ट कोटिके जादू, टोना, टोटका आदिकी ओर झुके और दूसरे लोक-जीवनके अकिञ्चितकर निरर्थक आचार-व्यवहारकी ओर। इस प्रकार स्मार्त और बौद्ध दोनों ही हिन्दी साहित्यके जन्म-कालके समय लोक-मतका प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे।

हम उत्तर और पूर्वकी अवस्था देख चुके, मध्यदेशकी अवस्थासे भी परिचित हो गये, अब पश्चिम सीमाके यशस्वी प्रदेश राजपूताने और पंजाबकी अवस्था देखी जाय। राजपूतानेके चारण कवियोंके मुखसे और नाना स्थानोंके लेखों आदिसे सच्ची परिस्थिति हमें मालूम होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इधर प्राचीन क्षत्रिय-दर्प और वीरता ज्योंकी त्यों वर्तमान थी। पर बहुलांशमें अपने दुर्बल संगठन और अयथागामी कुलाभिमानके कारण छोटे छोटे राजा और सामन्त आपसमें सदा जूझते रहे। इस वीरत्व-परम्परा, कुलाभिमान और युद्ध-शौण्डताका अतिरंजित वर्णन कवियों और चारणोंने किया है। जैसे जैसे संस्कृत भाषा लोक-भाषासे दूर हटती गई तैसे तैसे सामान्तोंके यशोगानके लिए वह अनुपयुक्त सिद्ध होती गई। हिन्दू राजाओंके दरबारमें अब भी संस्कृत कवियोंका मान था पर साथ ही प्राकृत और अपभ्रंशके कवियोंको भी स्थान मिलने लगा। संस्कृतकी कवितायें लोक-भाषाके द्वारा बोधगम्य कराई जाती थीं और इस प्रकार मूल कविताका स्वाद कुछ बाधा पाकर राजा और सामन्त तक पहुँचता था; पर अपभ्रंशकी कविता सीधे असर करती थी। ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश भाषा कविताका राजानुमोदित वाहन हो गई। एक बार राजाश्रय पाकर वह बड़ी तेजीसे चल निकली। यहाँ भी हम देखते हैं कि लोक-भाषाकी ओर झुकाव स्वाभाविक रूपसे ही हो चला था, किसी बाहरी शक्तिके कारण नहीं।

ऊपरकी बातोंसे अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता हो तो वह यही ... सकता है कि भारतीय पाण्डित्य ईसाकी एक सहस्राब्दी बाद आचा... और भाषाके क्षेत्रोंमें स्वभावतः ही लोककी ओर झुक गया था। यदि

शताब्दियोंमें भारतीय इतिहासकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लामका प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतरकी शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकासकी ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था। प्रोफेसर हेवेलने अपने 'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल'में लिखा है कि मुसलमानी सत्ताके प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राजकाजसे अलग कर दिये गये इसलिए दुनियाकी झंझटोंसे छुट्टी मिलते ही उसमें धर्मकी ओर जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। यह ग़लत व्याख्या है। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगेके सहस्राब्दककी साहित्यिक चेतनाको जातिकी स्वाभाविक चेतनाके रूपमें देखें, अस्वाभाविक अधोगतिके रूपमें नहीं। अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविक भावसे बाधाग्रस्त और विकृत है, उसे मैं भूल जानेको नहीं कहता। पर हिन्दी साहित्यके अध्ययनसे उन्हें विश्वास हो सकेगा कि यह सारा सहस्राब्दकका साहित्य भावी इतिहासमें बौद्ध या अन्य किसी भी कालके इतिहाससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

२

यह बहुत प्रसिद्ध बात है कि हिन्दी साहित्यके जन्मके बहुत पहले अपभ्रंश या लोकभाषामें कविता होने लगी थी। परन्तु कई लोग इस बातमें सन्देह ही प्रकट करते हैं कि हिन्दुओंके राजत्व-कालमें उसे कोई प्रोत्साहन भी मिलता था। ऐसे लोगोंका भ्रम बहुत ही निराधार युक्तियोंपर अवलंबित है जिसका निरास बहुत कठिन नहीं है। परन्तु उक्त कार्य करनेके पूर्व इस विषयका विचार कर लेना आवश्यक है कि अपभ्रंश है क्या वस्तु। असलमें बहुतसे लोगोंमें अपभ्रंश भाषाके विषयमें बहुत-सी भ्रान्त धारणायें हैं। मैं अगर इस बातको ठीक ठीक अपने रास्ते समझानेका प्रयत्न करूँ तो मुझे फिर कुछ पहलेसे ही आरंभ करना पड़ेगा। उसके लिए अप्रासंगिताका दोषभागी नहीं बननेका ही प्रयत्न करूँगा।

प्राकृतके सर्वाधिक प्राचीन व्याकरणमें चार प्रकारकी प्राकृतोंकी चर्चा है—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। चार अध्यायोंमें उक्त चारोंकी विवेचना की गई है। प्रथम अध्यायमें जिस प्राकृतकी चर्चा की गई है उसका कोई नाम नहीं दिया गया है। वह एक प्रकारकी स्टैंडर्ड प्राकृत है परन्तु शौरसेनीके प्रकरणमें विशेषतायें बता देनेके बाद ग्रंथकारने अन्तमें एक सूत्र कहा है—‘शेषं महाराष्ट्रवत्’ अर्थात् बाकी महाराष्ट्रीके समान समझना चाहिए। इससे यह अनुमान होता है कि पहले अध्यायमें जिस प्राकृतकी चर्चा है वह महाराष्ट्री है। मागधी मगध और बंगालकी भाषाओंका प्राचीन रूप है। पैशाची कहाँकी भाषा थी, इस बातमें नाना प्रकारके अटकल लगाये गये हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें कभी यह दर्दिस्तानकी, कभी विन्ध्याचलकी पहाड़ियोंकी, कभी सुदूर दक्षिणकी भाषा मानी गई है। जान पड़ता है यह उस समयकी आर्येतर जातियोंद्वारा बोली जानेवाली आर्य भाषा है। वे उसका शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते होंगे और अपने नादाभ्यासके अनुकूल विकृत करके बोलते होंगे। रह गई शौरसेनी और महाराष्ट्री। वस्तुतः प्राकृत वैयाकरणोंने

इनमें समानता ही बहुत देखी थी, असमानता कम। जहाँ तक शौरसेनीका सम्बन्ध है, यह निश्चित है कि वह पश्चिमी हिन्दीका पूर्व रूप है; पर 'महाराष्ट्री' शब्द भ्रमात्मक है। आधुनिक मराठी भाषा या महाराष्ट्र प्रान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कई पंडितोंने व्यर्थ ही दोनोंको एक ही सिद्ध करनेका निरर्थक प्रयत्न किया है। नाटकोंमें स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। जब वे पद्यमें बोलती हैं तो महाराष्ट्री और गद्यमें बोलती हैं तो शौरसेनीका प्रयोग करती हैं। हॉर्नलेने एक बार इसीलिए कहा था कि शौरसेनी और महाराष्ट्री दो पृथक् भाषायें नहीं हैं बल्कि एक ही भाषाकी दो शैलियाँ हैं, एकका प्रयोग पद्यमें होता था और दूसरीका गद्यमें। यह बात मानी हुई है कि पद्यकी भाषा कुछ प्राचीनताश्लिष्ट और कोमलीकृत होती है। गद्यमें ठीक वैसी ही भाषा व्यवहृत नहीं भी होती। इस प्रकार असलमें वररुचिने दो ही भाषाओंकी चर्चा की है: शौरसेनी (अर्थात् पश्चिमी हिन्दीकी पूर्ववर्ती भाषा) और मागधी अर्थात् बिहारी बंगाली उड़िया आदिकी पूर्ववर्ती भाषा। पैशाची कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं बल्कि आर्य भाषाका आर्येतर-भाषित विकृत रूप है। ठीक वैसी ही जैसी 'शान्तिनिकेतन' में काम करनेवाले संथालोंकी बँगला।

जहाँ तक हिन्दीका सम्बन्ध है उसमें इन दोनों जातियोंकी भाषाओंका स्थान है। असलमें शौरसेनी और मागधी इन दो भाषाओंके बोलनेवाले आर्योंकी रहन-सहन और स्वभाव भी बहुत कुछ भिन्न है। हॉर्नलेने इन दो श्रेणियोंका निर्देश किया था। बादमें चलकर जब भाषा-शास्त्रका और भी अनुसंधान हुआ तो जाना गया कि असलमें ये दो भिन्न भिन्न समयमें आकर बसनेवाली दो भिन्न भिन्न आर्योंकी भाषायें है। भाषा-शास्त्रियोंने इन्हें ठीक यही नाम न देकर 'बहिरंग' और 'अन्तरंग' भाषायें नाम दिया। यह ध्यान देनेकी बात है कि भारतवर्षके साहित्योंमें हिन्दी साहित्य ही ऐसा है जिसमें इन दो भिन्न-श्रेणीके संस्कारवाले आर्योंने समान भावसे काव्यादि रचना की। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि यद्यपि प्राकृतमें लिखे गये काव्योंके बाद ही अपभ्रंश भाषामें काव्य लिखे गये परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृत नामकी कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश नामकी भाषा बादमें बोली जाने लगी। असलमें अपभ्रंश लोकमें प्रचलित भाषाका नाम है जो नाना काल और नाना स्थानमें नाना रूपमें बोली जाती थी और बोली जाती है। शुरू शुरूमें इसको आभीरोंकी भाषा जरूर माना जाता था, पर

बादमें चलकर यह लोक-भाषाका ही नामान्तर हो गया। वररुचिके प्राकृत-प्रकाशमें उस युगकी भाषाके साहित्यिक रूपका वर्णन है। लोक-प्रचलित भाषा कुछ और ही थी। भाषाशास्त्रियोंने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तर-कालीन काव्य-भाषामें ऐसे बहुतसे प्रयोग पाये जाते हैं जो वास्तवमें वररुचिके महाराष्ट्री और शौरसेनीके प्रयोगोंकी अपेक्षा प्राचीनतर हैं। उदाहरणार्थ, 'कहा' (या ब्रजभाषाका ' कह्यो ') प्रयोग उत्तरकालीन अपभ्रंश 'कहिउ' से निकला है। इसके अपभ्रंश और प्राकृत भेदोंकी तुलना की जा सकती है—अपभ्रंश ' कधिदो ' या ' कहिदो ' मागधी ' कधिदे ' या ' कहिदे ' महाराष्ट्री ' कहिओ ' और उत्तरकालीन अपभ्रंश ' कहिउ ' स्पष्ट ही पुराने अपभ्रंश रूप ' कधिदो ' और ' कहिदो ' महाराष्ट्री रूपोंसे पुराने हैं।

इस अपभ्रंश साहित्यके विषयमें सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी ' मध्यकालीन भारतीय संस्कृति ' नामक ग्रंथमें लिखते हैं कि " अपभ्रंश भाषाका प्रचार लाट (गुजरात), सुराष्ट्र, त्रवण (मारवाड़), दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवन्ती और मन्दसोर आदिमें था। वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देशकी भाषा नहीं किन्तु मागधी आदि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओंके अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूपवाली मिश्रित भाषाका नाम है। उसका प्रायः भारतके दूर दूरके विद्वान् प्रयोग करते थे। राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदिके चारणों तथा भाटोंके डिंगल भाषाके गीत इसी भाषाके पिछले विकृत रूपमें हैं। पुरानी हिन्दी भी अधिकांश इसीसे निकली है। इस भाषाका साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है जो बहुधा कविताबद्ध है। इसमें दोहा-छन्द प्रधान है। इस भाषाका सबसे बृहत् और प्रसिद्ध ग्रंथ ' भविसयत्त-कहा ' है जिसे धनपालने दसवीं सदीमें लिखा। महेश्वरसूरिकृत ' संजममंजरी ', पुष्फयन्तविरचित ' तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार ', नयनंदी-निर्मित ' आराधना ', योगीन्द्रदेवलिखित ' परमात्म-प्रकाश ', हरिभद्रका ' नेमिनाहचरिउ ', वरदत्तरचित ' वैरसामिचरिउ ', ' अन्तरंग संधि ', ' सुलसाख्यान ', ' भवियकुडुंबचरित्र ' ' सन्देशशतक ' और ' भावनासंधि ' आदि भी इसी भाषाके ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न भिन्न ग्रंथोंमें,—सोमप्रभके ' कुमारपालप्रतिबोध ', रत्नमंदिरगणिकी ' उपदेशतरंगिणी ', लक्ष्मण गणिकृत ' सुपासनाहचरियम् ', ' दोहाकोष ', कालिदासकृत ' विक्रमोर्वशीय ' (चतुर्थ अंक), हेमचंद्रलिखित ' कुमारपालचरित ', (प्राकृत द्व्याश्रय

काव्य), 'कालिकाचार्य-कहा' और 'प्रबंध-चिन्तामणि' आदिमें स्थल स्थलपर अपभ्रंशका प्रयोग किया गया है। हेमचंद्रने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में अपभ्रंशके जो १७५ उदाहरण दिये हैं, वे भी अपभ्रंश साहित्यके उत्कृष्ट नमूने हैं। उनसे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था। उन उदाहरणोंमें शृंगार, वीरता, रामायण और महाभारतके अंश, हिन्दू और जैनधर्म तथा हास्यके नमूने मिलते हैं। इस भाषाके साहित्यमें प्रायः जैनियोंने बहुत परिश्रम किया है।" *

यह तो स्पष्ट ही है कि ओझाजीने अपभ्रंश साहित्यके उत्कर्षके विषयमें जो कुछ कहा है उसका संबंध उस कालसे है जब मुसलमान इस देशमें नही आये थे और यदि आये भी थे तो जम नहीं पाये थे। लेकिन यह बात विवादास्पद नहीं है। लोक-भाषाका साहित्य हमेशा वर्तमान था, इस बातमें कभी दो मत नहीं रहे। लेकिन जिस बातपर यहाँ जोर दिया जा रहा है वह यह है कि नाना कारणोंसे इस कालमें अपभ्रंश कवियोंका सम्मान भी राजदरबारोंमें होता था और राजा लोग इन कवियोंको अपने दरबारमें रखना उतना ही आवश्यक समझते थे जितना संस्कृत भाषाके कवियों और पंडितोंको। इतना ही नहीं अधिकांश राजा इनसे विशेष अनुराग प्रकट करने लगे थे। हमारे आलोच्य युगके आरंभमें राजशेखर कविने 'काव्य-मीमांसा' नामक एक विशाल विश्व-कोश लिखा था। दुर्भाग्यवश संपूर्ण ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है, उसका केवल एक अंश ही पाया गया है। इस अंशमें भी हमारे कामकी बहुत-सी बातें हैं। राजशेखरने राजदरबारके जिस आदर्शका विधान किया है, वह सचमुच ही उस प्रकारका हुआ करता था, यह विश्वास करनेमें कोई बाधा नहीं। राजशेखर कहते हैं कि राजाका कर्तव्य होना चाहिए कि वह कवियोंकी सभाओंका आयोजन करे। इसके लिए एक सभामंडप बनवाना चाहिए जिसमें सोलह खम्भे, चार द्वार और आठ अटारियाँ हों। राजाका क्रीडा-गृह इससे सटा हुआ होना चाहिए। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथ-भर ऊँचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणि-जटित वेदिका। इसी वेदिकापर राजाका आसन होगा। इसके उत्तरकी ओर संस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी

* दे० परिशिष्ट : जैन साहित्य।

कई भाषाओंमें कविता करता हो तो जिस भाषामें वह अधिक प्रवीण हो उसी भाषाका कवि उसे माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण है वह उठ उठकर जहाँ चाहे बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान रहेगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होना चाहिए। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सोंपर नाचनेवाले नट, जादूगर, जम्भक (?), पहलवान, सिपाही आदिका स्थान निर्दिष्ट रहेगा।

राजशेखरके इस वक्तव्यसे इतना तो स्पष्ट ही है कि अपभ्रंशकी कविता राजसमादृत होती थी, परन्तु यह भी निश्चित है कि उसका पद संस्कृत और प्राकृतके बाद था। संस्कृतका आदर इस देशमें हमेशासे ही रहा है पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानोंके आगमनके पहले अपभ्रंश या लोकभाषाका स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था। किन्तु आज तक भी कभी ऐसा समय नहीं आया जब हिन्दू राजाओंने लोकभाषाका स्थान संस्कृतके बराबर या ऊपर समझा हो। मुसलमानी सत्ताका होना या न होना इसका कारण नहीं है। इसका मतलब यह हुआ है कि यदि मुसलमानोंके आनेके पहले लोकभाषाको कोई अच्छी मर्यादा नहीं मिली थी तो वह बादमें भी नहीं मिली। और मेरी दृष्टिमें सही बात तो यह है कि मुसलमानी शासनके प्रभावसे अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंशकी कवितायें संस्कृतके समान ही आदर पाती थीं। कबीरने जो कहा था कि, 'संस्कृत कूप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।' वह मुसलमानी प्रभावके कारण नहीं। ठीक इसी प्रकारकी उक्ति बहुत बहुत पहले कही जा चुकी थी। असलमें दसवीं ग्यारहवीं शताब्दीमें "उत्ति-विसेसो कव्वं भाषा जा होउ सा होउ" वाली धारणा बद्धमूल हो चुकी थी। शायद ही कोई उल्लेखयोग्य संस्कृत भाषाका अलंकारशास्त्री हो जिसने संस्कृतकी कविताओंके साथ ही साथ प्राकृत और तत्काल प्रचलित लोक-भाषाकी कविताओंका विवेचन न किया हो। संस्कृतके उत्साहशील प्रचारक राजा भोजके 'सरस्वती-कंठाभरण' के विषयमें भी यही बात ठीक है। इस ग्रंथमें भी संस्कृत

और प्राकृतकी कवितायें समान भावसे उद्धृत की गई हैं और मूँड़ मारके भी कोई यह नहीं सिद्ध कर सकता कि ग्रंथकारने इन कविताओंको कम महत्त्वकी चीज समझा था। मुसलमानी सत्ताकी प्रतिष्ठाके बाद कभी कभी इस बातका सबूत मिल जाता है। जैसे केशवदासके वक्तव्यसे कि ग्रंथकार संस्कृतके बदले लोक-भाषामें कविता लिखनेके लिए लज्जित है। पुष्पदन्त स्वयंभू आदि कवियोंने अपने ग्रंथोंमें अत्याधिक विनय प्रकट किया है और विविध विषयोंके प्रति अपने अज्ञानकी बात कही है। परंतु इन विषयोंकी सूंचीसे ही स्पष्ट हो जाता है कि इस विनयके पीछे कितना बड़ा गर्व है। हालहीमें मुनि जिनविजयजीने 'पुरातन प्रबंधसंग्रह' का सम्पादन किया है। इस ग्रंथसे पता चलता है कि एक बार राजा भोजने 'सिद्ध रस' बनाना चाहा था, जो न बन सका था। इसपर राजाने सिद्ध रसके बनानेका दावा करनेवाले योगियोंका मजाक करनेके लिए लोक-भाषाका एक नाटक लिखा कर अभिनय कराया था। नाटक जब खेला जा रहा था और पात्र जब आपसमें कह रहे थे—

कालिकां नट्ठा नट्ठा कस्स कस्स नागस्स वा वंगस्स वा।
नहि धम्मन्त फुक्कन्त अम्ह कन्त सीसस्स कालिम...*

यह सुनकर जब राजा लोट पोट होकर हँस रहा था तो उसे संबोधन करके एक सिद्ध-रस योगी बोला—

अत्थि कहंत किंपि न दीसइ।
नत्थि कहउ त सुहगुरु रूसई॥
जो जाणइ सो कहइ न कीमइ।
अज्जाणं तु वियारइ ईमइ+॥

इस ग्रंथसे और भी अनेकानेक राजाओंके दरबारोंमें लोक-भाषाके पर्याप्त सम्मानका प्रमाण पाया जाता है। और केवल राजा भोज या उनके पूर्ववर्ती राजा इन कविताओंका सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी कविता लिखते थे। भोज राजाके पूर्वाधिकारी और उनके पितृव्य महाराज मुंजकी अपभ्रंश कवितायें किसी भी भाषाके गर्वका विषय हो सकती हैं। इन दोहोंको थोड़ा-सा रूपान्तरित कर दिया जाय तो वे प्राचीन हिन्दीके हो जायँगे। दो-एक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं—

---

* पूरा पद नहीं पाया गया है। अन्तिम अंशके टूट जानेसे मतलब अपूर्ण रह जाता है।

+ 'है' कहूँ तो कुछ नहीं दिखता, 'नहीं है' कहूँ तो सतगुरु रुष्ट होते हैं; जो जानता है वह कहकर प्रकट नहीं कर सकता; आर्योंका, किन्तु, विचार ऐसा है।

कई भाषाओंमें कविता करता हो तो जिस भाषामें वह अधिक प्रवीण हो उसी भाषाका कवि उसे माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण है वह उठ उठकर जहाँ चाहे बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान रहेगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होना चाहिए। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सोंपर नाचनेवाले नट, जादूगर,: जम्भक (?), पहलवान, सिपाही आदिका स्थान निर्दिष्ट रहेगा।

राजशेखरके इस वक्तव्यसे इतना तो स्पष्ट ही है कि अपभ्रंशकी कविता राजसमादृत होती थी, परन्तु यह भी निश्चित है कि उसका पद संस्कृत और प्राकृतके बाद था। संस्कृतका आदर इस देशमें हमेशासे ही रहा है पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानोंके आगमनके पहले अपभ्रंश या लोकभाषाका स्थान उपेक्षणीय समझा जाता था। किन्तु आज तक भी कभी ऐसा समय नहीं आया जब हिन्दू राजाओंने लोकभाषाका स्थान संस्कृतके बराबर या ऊपर समझा हो। मुसलमानी सत्ताका होना या न होना इसका कारण नहीं है। इसका मतलब यह हुआ है कि यदि मुसलमानोंके आनेके पहले लोकभाषाको कोई अच्छी मर्यादा नहीं मिली थी तो वह बादमें भी नहीं मिली। और मेरी दृष्टिमें सही बात तो यह है कि मुसलमानी शासनके प्रभावसे अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंशकी कवितायें संस्कृतके समान ही आदर पाती थीं। कबीरने जो कहा था कि, 'संस्कृत कूप-जल कबीरा भाषा बहता नीर।' वह मुसलमानी प्रभावके कारण नहीं। ठीक इसी प्रकारकी उक्ति बहुत बहुत पहले कही जा चुकी थी। असलमें दसवीं ग्यारहवीं शताब्दीमें "उत्ति-विसेसो कव्वं भाषा जा होउ सा होउ" वाली धारणा बद्धमूल हो चुकी थी। शायद ही कोई उल्लेखयोग्य संस्कृत भाषाका अलंकारशास्त्री हो जिसने संस्कृतकी कविताओंके साथ ही साथ प्राकृत और तत्काल प्रचलित लोक-भाषाकी कविताओंका विवेचन न किया हो। संस्कृतके उत्साहशील प्रचारक राजा भोजके 'सरस्वती-कंठाभरण' के विषयमें भी यही बात ठीक है। इस ग्रंथमें भी संस्कृत

और प्राकृतकी कवितायें समान भावसे उद्धृत की गई हैं और मूँड़ मारके भी कोई यह नहीं सिद्ध कर सकता कि ग्रंथकारने इन कविताओंको कम महत्त्वकी चीज समझा था। मुसलमानी सत्ताकी प्रतिष्ठाके बाद कभी कभी इस बातका सबूत मिल जाता है। जैसे केशवदासके वक्तव्यसे कि ग्रंथकार संस्कृतके बदले लोक-भाषामें कविता लिखनेके लिए लज्जित है। पुष्पदन्त स्वयंभू आदि कवियोंने अपने ग्रंथोंमें अत्याधिक विनय प्रकट किया है और विविध विषयोंके प्रति अपने अज्ञानकी बात कही है। परंतु इन विषयोंकी सूचीसे ही स्पष्ट हो जाता है कि इस विनयके पीछे कितना बड़ा गर्व है। हालहीमें मुनि जिनविजयजीने 'पुरातन प्रबंधसंग्रह' का सम्पादन किया है। इस ग्रंथसे पता चलता है कि एक बार राजा भोजने 'सिद्ध रस' बनाना चाहा था, जो न बन सका था। इसपर राजाने सिद्ध रसके बनानेका दावा करनेवाले योगियोंका मजाक करनेके लिए लोक-भाषाका एक नाटक लिखा कर अभिनय कराया था। नाटक जब खेला जा रहा था और पात्र जब आपसमें कह रहे थे—

कालिकां नट्ठा नट्ठा कस्स कस्स नागस्स वा वंगस्स वा।
नहि धम्मन्त फुक्कन्त अम्ह कन्त सीसस्स कालिम... *

यह सुनकर जब राजा लोट पोट होकर हँस रहा था तो उसे संबोधन करके एक सिद्ध-रस योगी बोला—

अत्थि कहंत किंपि न दीसइ।
नत्थि कहठ त सुहगुरु रूसई॥
जो जाणइ सो कहइ न कीमइ।
अज्जाणं तु वियारइ ईमइ+॥

इस ग्रंथसे और भी अनेकानेक राजाओंके दरबारोंमें लोक-भाषाके पर्याप्त सम्मानका प्रमाण पाया जाता है। और केवल राजा भोज या उनके पूर्ववर्ती राजा इन कविताओंका सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी कविता लिखते थे। भोज राजाके पूर्वाधिकारी और उनके पितृव्य महाराज मुंजकी अपभ्रंश कवितायें किसी भी भाषाके गर्वका विषय हो सकती हैं। इन दोहोंको थोड़ा-सा रूपान्तरित कर दिया जाय तो वे प्राचीन हिन्दीके हो जायँगे। दो-एक उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं—

---

* पूरा पद नहीं पाया गया है। अन्तिम अंशके टूट जानेसे मतलब अपूर्ण रह जाता है।

+ 'है' कहूँ तो कुछ नहीं दिखता, 'नहीं है' कहूँ तो सतगुरु रुष्ट होते हैं; जो जानता है वह कहकर प्रकट नहीं कर सकता; आर्योंका, किन्तु, विचार ऐसा है।

मा गोलिणि मण गव्वु करि, पिक्खि वि पड्डुरुयाइं ।
पंचइ सइं विहुत्तरां, मुंजह गय गयाइं ॥
मुंज भणइ मिणालवइ, केसा काइं चुयंति ।
रूद्धउ साउ पयोहरहं, वंघण भणिअ रआन्ति ॥
मुंज मुणइ मिणालवइ, गउ जुव्वण मण झूरि ।
जइ सकर सयखण्ड किय, तोइ स मिट्ठी चूरि ॥

स्वयं महाराज भोजने अपभ्रंशसे मिलती हुई प्राकृत भाषाकी कविता लिखी थी और उसे बड़े आदरके साथ अपनी भोजशालामें खुदवाके जड़ा था। यह भोजशाला आज-कल धारकी कमाल मौला मस्जिदके नामसे मशहूर है ! राजा भोजकी इस अपभ्रंश कविताकी कहानी जितनी ही करुण है उतनी ही मजेदार भी। सन् १९०५ में प्रोफेसर हुचको स्थानीय एजुकेशनल सुपरिण्टिडेण्ड मिस्टर लेलेने खबर दी कि कमाल मौला मस्जिदका मिहराब टूट गया है और उसमें दो-चार पत्थर निकल आये हैं जिनपर पुरानी नागरीमें कुछ लिखा हुआ है। इन पत्थरोंको उलट कर मस्जिदमें जड़ दिया गया था ताकि लिखा हुआ अंश पढ़ा न जा सके। अब ये पत्थर खिसककर गिर पड़े तो उनका पढ़ना संभव हुआ। पर मुसलमानोंने हठ किया कि वे पत्थर वहाँसे हटाये नहीं जा सकते ! हुच साहबने भारत-सरकारसे लिखा-पढ़ी की और सरकारके हस्तक्षेपका नतीजा यह हुआ कि पत्थर लगा तो उसी मिहराबमें दिया गया पर लिखी हुई पीठ सामने कर दी गई। फिर भारत सरकारकी व्यवस्थासे ही उसका प्रत्यंकन उक्त प्रोफेसरको भेज दिया गया। दो पत्थरोंपर राजा भोजके वंशज अर्जुनदेव वर्माके गुरु गौड़ ब्राह्मण मदन कविकी लिखी हुई एक नाटिकाके दो अंक थे। शेष दो अंक भी निश्चय ही उसी मिहराबमें कहीं चिपके होंगे। बाकी दो पत्थरोंपर महाराज भोजके लिखे हुए आर्या छन्द खोदे गये थे। ये अपभ्रंश भाषासे मिलती जुलती प्राकृतमें लिखे गये थे। इस सिलापट्टकी प्रतिच्छवि 'एप्रिग्राफिका इण्डिका' की ८ वीं जिल्दमें छपी है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है, और बहुतसे यूरोपियन पंडितोंने किया भी है कि यह अपभ्रंश नामसे प्रसिद्ध भाषा क्या सचमुच लोक-भाषा थी ! विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें जिस अपभ्रंशके नमूने पाये जाते हैं उसकी भीतरी जाँचका परिणाम यह निकला है कि उसमें किसी एक सर्व-

साधारण नियमका अभाव है। उसकी वास्तविकताके सम्बन्धमें जैकोबी जैसे अपभ्रंश और प्राकृतके प्रामाणिक विद्वान्को भी सन्देह ही था। उत्तरमें कहा गया है कि नाटकके लेखकोंने मूल भाषाको ठीक ठीक न समझकर उसे साहित्यिक प्राकृतके समान करना चाहा होगा और कालान्तरमें वह भाषा सदोष हो गई होगी। यह बहुत अच्छी युक्ति नहीं है, पर अगर यह स्वीकार भी कर ली जाय तो सवाल होता है कि सन् ईसवीकी छठी शताब्दीसे लेकर चौदहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश नामकी कोई एक ही भाषा कैसे बनी रही होगी? असलमें कालिदासकी और धनपालकी अपभ्रंश भाषा एक ही नहीं है। अपभ्रंशका सबसे पुराना उल्लेख भी केवल कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें ही नहीं मिलता, उससे भी बहुत पुराने कालमें मिलता है। भारतीय नाट्य-शास्त्रमें यद्यपि अपभ्रंश नामक भाषाका उल्लेख नहीं है पर लोक-भाषाके नामपर ऐसे उदाहरण मिल जाया करते हैं जिनमें अपभ्रंशके लक्षण पाये जाते हैं और जो निश्चित रूपसे साहित्यिक प्राकृतसे एक पैर आगेकी भाषाके नमूने हैं। भरतने मागधी, आवन्ती प्राची, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, बाल्हीका और दाक्षिणात्या इन सात प्राकृत भाषाओंकी चर्चा करनेके बाद (१७–४८) शबर, आभीर, चाण्डालादिकोंकी भाषाको अलगसे नाम दिया है। जिन दिनों भरतका नाट्य-शास्त्र बन रहा था उन्हीं दिनों भारतवर्षके पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशोंमें आभीरोंका आविर्भाव हो चुका था। भरत मुनिने लक्ष्य किया था कि इन लोगोंका आधिक्य जिन प्रदेशोंमें था—अर्थात् सिन्धु, सौवीर और हिमालयके अंश-विशेषमें, वहाँ उकार-बहुला भाषा जनसाधारणमें प्रचलित हो चली थी। + भाषाशास्त्रियोंमेंसे कई लोगोंका अनुमान है कि यह उकारबहुला भाषा अपभ्रंशसे मिलती जुलती होगी।

आगे चलके शास्त्रकारोंका यह स्पष्ट निर्देश भी पाया जाता है कि काव्यमें आभीर आदिकी भाषाको अपभ्रंश कहते हैं [दण्डी : काव्यादर्श, (१-३६)] यह स्मरण रखनेकी बात है कि यह केवल बोलीका विवरण नहीं है पर काव्य-भाषाका ब्यौरा है। दण्डीने यह भी कहा है कि संस्कृतके काव्योंमें सर्ग होते हैं, प्राकृतमें सन्धि और अपभ्रंशमें आसार आदि। इससे इतना तो पर्याप्त स्पष्ट है कि दण्डीके युगमें अपभ्रंश भाषामें काव्य होने लगे थे। इन काव्योंके रचयिता

+ हिमवत्-सिन्धु-सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् (१७–६१)

बड़े बड़े विद्वान् और दार्शनिक गण ही नहीं थे बल्कि साधारण जनता भी थी जिसे दण्डीने आभीर प्रभृति कहा है। जान पड़ता है, आभीरोंकी भाषा ही उस युगके पंडितोंकी दृष्टिमें अपभ्रंशका उत्तम नमूना थी। परवर्ती कालके सभी पंडित नाटकके आभीर पात्रोंके मुखसे अपभ्रंश बोलवानेका निर्देश करते हैं। पर यह समझना ठीक नहीं है कि अपभ्रंश केवल आभीरों या अहीरोंकी ही भाषा थी। भरत मुनिने शुरू शुरूमें इस नवागत जातिके लोगोंके मुँहसे जिस प्रकारकी भाषाको उच्चारित होते सुना उसे अपभ्रंश जैसा कोई नाम न देकर एक जातिविशेषकी भाषा बताया था पर शीघ्र ही ये अहीर भारतके पश्चिमी और मध्य भागमें प्रधान हो उठे। महाभारतमें इन युद्धप्रिय और घुमक्कड़ आभीरोंकी चर्चा है। वहाँ वे गोपाल और घुमक्कड़के रूपमें ही परिचित हैं। अनुमानत १५० ई० पूर्वमें इन आभीरोंने पंजाबके कई अंशोंपर अधिकार कर लिया। सन् १८१ ई० के क्षत्रप रुद्रसिंहके एक लेखसे पता चलता है कि उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूति आभीर थे। फिर सन् ३०० ई० के नासिकके गुफालेखसे पता चलता है कि उन दिनों वहाँ आभीर नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्तके पुत्र थे) का राज्य था। ३६० ई० के समुद्रगुप्तके प्रयागवाले स्तंभ-लेखसे पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और उसका अधिकार समूचे राजस्थानपर हो गया था। इस प्रकार आभीरोंके हाथमें शक्ति आती गई और साथ ही साथ उनकी विशेषतावाली भाषा काव्यका वाहन बनती गई। जहाँ जहाँ उनका अधिकार रहा वहाँ वहाँ यह भाषा जोरोंसे चल निकली। समय समयपर उसमें परिवर्तन भी होते रहे। ज्यों ज्यों आभीरगण शक्तिसंचय करके आगे बढ़ते गये त्यों त्यों अपभ्रंश भाषा भी शक्तिसंचय करती गई। झाँसी जिलेके दक्खिनी हिस्सेमें जो 'अहिरवार' स्थान है, कहते हैं कि वहाँ भी आभीरोंने कभी शासन किया था। मिरजापुर जिलेका 'अहिरौरा' कभी आभीरोंका दृढ़ केन्द्र था। अब भी वहाँके आसपास अहीरोंकी बड़ी बस्ती है। इस प्रकार जो भाषा भरतके युगमें केवल एक जातिकी भाषा थी वह धीरे धीरे सारे देशकी भाषा हो उठी। यहाँ इस कथनका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि अपभ्रंश भाषा अहीरोंकी अपनी भाषा थी। इस कथनका यही अर्थ है कि देशभाषाकी वह विशेषता जो आभीरोंके संसर्गसे प्राप्त हुई थी वही प्रधान हो गई और भाषाका साधारण रूप तत्काल प्रचलित प्राकृत ही रही। अपभ्रंशमें उस प्राकृतका एक खास प्रकारका स्वर-

वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य प्रधान हो उठा। स्वभावतः ही उस स्वर-वैचित्र्यके पीछे अनेक स्थानोंकी प्राकृत भाषायें रही होंगी। और नमिसाधुके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मागधी प्राकृतका भी अपभ्रंश रूप विद्यमान् था।

राजशेखरकी काव्य-मीमांसाके विषयमें पहले ही कहा जा चुका है। उन्होंने जो कवि-सभामें अपभ्रंश कवियोंके पीछे वढ़ई, लुहार, लेपकार आदि जन-साधारणके कारीगरोंको बैठाना निर्दिष्ट किया है वह इस वातका सबूत है कि यह भाषा जनसाधारणकी थी। राजशेखरके युगमें यह भाषा जी रही थी, इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अन्तःपुरके परिचारकोंका अपभ्रंशभाषाविद् होनेका निर्देश किया है। इसका कारण यह था कि इन परिचारकोंको जनसाधारणकी बातें राजा तक पहुँचानी होती थीं। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा जनसाधारणकी भाषा थी फिर भी उसमें कविता होती रही। राजशेखरकी इस पुस्तकसे यह भी प्रमाणित होता है कि जिन प्रदेशोंमें आभीरोंका प्राधान्य था वहाँके लोगोंकी भाषामें अपभ्रंशकी बहुलता थी। उनके मतसे गौड़ या वंगाल देशके लोग संस्कृतमें अधिक रुचि रखते थे, लाट देश या गुजरातके लोग प्राकृतमें; और मारवाड़, टक्क (हरियाना) और भादानक (मिर्ज़ापुर और बुदेलखण्ड?)के लोग अपभ्रंशसे मिलते हुए प्रयोगवाली भाषा बोलते हैं (पृ० ५१) वही अन्यत्र कहते हैं कि सुराष्ट्र (काठियावाड़) और त्रवण (मारवाड़) के लोग अपभ्रंश बोलते हैं। इस प्रकार मूलतः अपभ्रंश मारवाड़, हरियाना (पंजाव), भादानक (बुदेलखंड), सुराष्ट्र (काठियावाड़) में अधिक प्रचलित थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने अपभ्रंशका जो 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामक संग्रह प्रकाशित किया है,—और जिसे वे पुरानी बँगला कहना चाहते हैं, —उस जैसे दो एक ग्रंथोंके अपवादको छोड़कर अधिकांश अपभ्रंशके काव्य इन्हीं प्रदेशोंसे प्राप्त हुए हैं। इनमेंसे बहुत-से काव्य दिगंबर जैनोंके लिखे हुए हैं जो मारवाड़ और बुंदेलखण्डमें अब भी बसे हुए हैं। श्वेताम्बर जनोने प्राकृतमें लिखनेमें जैसी पटुता और तत्परता दिखाई है वैसी अपभ्रंशमें नहीं *। इस प्रकार ऊपरके सारे वक्तव्यका सारांश पंडितोंने इस प्रकार दिया है —

(१) अपभ्रंश भाषा सन् ईसवीके प्रथम शतकमें आभीरी भाषाके नामसे लक्ष्य

* दे० परिशिष्ट : जैन साहित्य।

की गई थी और भारतवर्षके पश्चिमोत्तर सीमान्तमें बोली जाती थी। आभीरोंका विशेष प्रकारका स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण-प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नामसे पुकारी गई, पर थी आर्यभाषा ही।

(२) सन् ईसवीकी छठी शताब्दीमें इस भाषामें साहित्य सृष्ट हो चुका था, जिसे भामह और दण्डी जैसे आलंकारिकोंने उल्लेखयोग्य समझा। अब भी यह आभीरोंसे विशेष रूपसे संबद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरोंके हाथमें राज्य-सत्ता आनेके साथ इसमें काव्य लिखे जाने लगे होंगे।

(३) नवी शताब्दीमें यह जनसाधारणकी भाषा समझी जाने लगी और इसका विशेष संबंध केवळ आभीर आदिसे ही है, यह धारणा जाती रही। अब तक यह सौराष्ट्रसे मगधतक फैल चुकी थी। तत्तत् स्थानोंके अपभ्रंशोंमें निश्चय ही भेद रहे होंगे पर काव्यके लिए आभीरों द्वारा प्रोत्साहित भाषा ही साधारण भाषा मान ली गई थी।

(४) ग्यारहवी शताब्दीमें आलंकारिकों और वैयाकरणोंने लक्ष्य किया था कि अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं है बल्कि स्थान-भेदसे अनेक प्रकारकी है। अर्थात् यहाँतक आकर अपभ्रंशका व्यवहार लोकभाषाके अर्थमें होने लगा था।

(५) अपभ्रंश कविताके विषय अधिकतर नीतिसंबंधी और धार्मिक उपदेश, शृंगार रसकी रचनायें और लोकप्रचलित कथानक थे। *

इस प्रकार इस देशमें मुसलमानी सत्ताकी प्रतिष्ठाके बहुत पूर्वसे ही निश्चित रूपसे लोक-भाषाको राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है इस सम्पूर्ण साहित्यमें ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोक-भाषामें लिखनेके कारण कोई कवि अपनेको छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराजका दरबारी कवि चंद बलद्दिय (चंद बरदाई) हिन्दी भाषाका आदि कवि माना जाता है। असलमें वह अपभ्रंशका अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दीका आदि कवि कम, क्योंकि उसका काव्य अब जिस रूपमें पाया जाता है वह रूप मौलिक नहीं है। इस ग्रंथमें इतनी प्रक्षिप्त बातें आ घुसी हैं कि ओझाजी जैसे ऐतिहासिक पंडित इसे एकदम अप्रामाणिक और जाली ग्रंथ समझते हैं। हालमें 'पुरातन प्रबंध-संग्रह'के प्रकाशनके बादसे यह बात निश्चित रूपसे सिद्ध हो गई है कि

* विशेष विवरणके लिये श्री पाण्डुरंग गुणेकी सम्पादित 'भविसयत्तकहा' की भूमिका (बड़ोदा १९३३) देखिये।

चंदका मूल काव्य बहुत कुछ अपभ्रंशकी प्रकृतिका था और आज वह जिस रूपमें मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असलमें अपभ्रंश भाषामें काव्यरचना चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नई भाषाको स्थान दे दिया था। विद्यापतिने पूर्व देशमें एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश दोनोंमें काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषायें इन अपभ्रंशोंका स्वाभाविक विकास हैं तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकतासे संस्कृतके तत्सम शब्दोंका प्रयोग होता है जब कि अपभ्रंशके काव्योंमें खोजने पर भी संस्कृतके शब्द अपने मूल रूपोंमें नहीं मिलते? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषासे नहीं बल्कि सूरदास तुलसीदास आदिकी प्राचीन काव्य-भाषासे है। केवल पुस्तकगत भाषामें ही नहीं उन दिनोंमें प्रचलित बोलचालकी भाषामें भी संस्कृत तत्सम शब्द, अपभ्रंश भाषाओंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू आदिकी भाषामें तत्सम शब्दोंके प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानोंने इन शब्दोंका प्रचार नहीं किया था।

असलमें बौद्ध-धर्मके उच्छेद और ब्राह्मण धर्मकी पुनः स्थापनासे भारतकी धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितिमें अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो गई। बौद्ध धर्मका प्रसार साधारणतः विदेशियोंमें ही अधिक हुआ। क्यों कि सनातन आर्य धर्म वेदको प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैनधर्म नहीं, इसलिए वे विदेशियोंके लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैनधर्मका प्रभाव भी अधिकांशमें शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियोंपर ही पड़ा होगा जो धीरे धीरे इस देशमें क्षत्रियत्व और वैश्यत्वका पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवीके आठ-नै सौ वर्ष बीतनेपर इस देशमें प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरोंसे उठ खड़ा हुआ। इस समयके ऐसे बड़े बड़े राजे जो अधिकांशमें क्षत्रियत्वका पद प्राप्त करनेके प्रयासी रहे होंगे ब्राह्मण आचार्योंके प्रभावमें आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषाको बहुत बल मिला। जनतामें धर्म-प्रचार करनेके लिए जिन पुराणोंकी सहायता ली गई वे संस्कृतमें लिखे गये थे। कथावाचक लोग इनकी व्याख्या लोक-भाषामें करते होंगे पर उनकी भाषामें संस्कृतके तत्सम शब्दोंकी अधिकता रहती होगी। फिर, जैसा कि श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यने कहा है, इसी समय संस्कृत भाषाके प्रचारमें शाङ्कर मतकी विजयसे विशेष सहायता मिली होगी।

शंकराचार्यका उत्कर्ष ईसाकी आठवीं शताब्दीके आसपास हुआ। उनके मतकी छाप सर्वसाधारणपर पड़ी। उक्त मतका प्रसार संस्कृत भाषाके द्वारा ही होनेके कारण सर्वसाधारणकी भाषामें संस्कृत शब्द आ गये और धीरे धीरे संस्कृतसे ही हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि संस्कृतप्रचुर भाषायें बनीं। तामिल आदि भाषाओंका इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदासकी भाषाओंमें संस्कृत शब्दोंकी प्रचुरता होना अपभ्रंश भाषाओंके स्वाभाविक विकासके विरुद्ध नहीं ले जाता और न इससे उनमें किसी प्रकारकी प्रतिक्रियाका भाव ही सिद्ध होता है।

अब हम हिन्दी साहित्यकी ओर लौटें। आधुनिक युग आरंभ होनेके पहले हिन्दी कविताके प्रधानतः छः अंग थे—डिंगल कवियोंकी वीर-गाथायें, निर्गुणिया सन्तोंकी वाणियाँ, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्गके साधकोंके पद, राम-भक्त या वैधी भक्तिमार्गके उपासककोंकी कवितायें, सूफी-साधनासे पुष्ट मुसलमान कवियोंके तथा ऐहिकतापरक हिन्दू कवियोंके रोमांस और रीति-काव्य। हम इन छहों धाराओंकी आलोचना अगर अलग अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धारायें अपभ्रंश कविताका स्वाभाविक विकास है। कभी कभी यह शंका की गई है कि हिन्दी साहित्यका सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभावकी प्रतिक्रिया है और कभी कभी यह भी बतानेका प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तोंकी जाति-पाँतिकी विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजाके खण्डन करनेकी चेष्टामें 'मुसलमानी जोश' है। किसी किसीने तो कबीरदास आदिकी वाणियोंको 'मुसलमानी हथकंडे' भी बताया है! ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चल कर देखेंगे कि निर्गुणमतवादी सन्तोंके केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीतिनीति, साधना, वक्तव्य वस्तुके उपस्थापनकी प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्योंकी देन हैं। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारतमें प्रबल रूप ग्रहण करता है पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियोंकी समूची कवितामें किसी प्रकारकी प्रतिक्रियाका भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाजको ये भक्तगण सुधारना चाहते थे उसमें विदेशी धर्मका कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य भी नहीं किया था। परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमानी धर्मका कोई प्रभाव इस साहित्यपर नहीं पड़ा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जातिके स्पर्शमें आने पर दूसरीपर उसका प्रभाव

पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्यके सुवर्ण-कालमें भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार कालिदासकी कविताओंमें यावनी या ग्रीक प्रभाव देख कर यह नहीं कहा जाता कि वह दुर्बल जातिकी प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्तिका निदर्शक है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्यमें भी यह प्रभाव 'प्रभाव'के रूपमें ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रियाके रूपमें नहीं।

अब ध्यानसे देखिए तो हिन्दीमें दो प्रकारकी भिन्न भिन्न जातियोंकी दो चीजें अपभ्रंशसे विकसित हुई हैं। (१) पश्चिमी अपभ्रंशसे राजस्तुति, ऐहिकता-मूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनायें और लोकप्रचलित कथानक। और (२) पूर्वी अपभ्रंशसे निर्गुनिया सन्तोंकी शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्यकी साधना, योग-पद्धति और भक्ति-मूलक रचनायें। यह और भी लक्ष्य करनेकी बात है कि यद्यपि वैष्णव मत-वाद उत्तर-भारतमें दक्षिणकी ओरसे आया पर उसमें भावावेशमूलक साधना पूर्वी प्रदेशोंसे आई। इस प्रकार हिन्दी साहित्यमें दो भिन्न भिन्न जातिकी रचनायें दो भिन्न भिन्न मूलोंसे आई। यह बात पहले ही बताई जा चुकी है कि पश्चिमी प्रदेशोंमें बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशोंमें बसे हुए आर्योंसे भिन्न प्रकृतिके हैं। भाषाशास्त्रियोंने यह निश्चित रूपसे सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न भिन्न श्रेणीके लोग थे। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि पूर्वी प्रदेशोंमें भारतीय इतिहासके आदि कालसे रूढियों और परम्पराओंके विरुद्ध विद्रोह करनेवाले सन्त होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्डके मृदुविरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए थे। समग्र भारतीय साहित्यमें हिन्दी ह[illegible] भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्योंकी रूढि-प्रियता, कर्मनिष्ठाके साथ ही साथ पूर्वी आर्योंकी भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेम-निष्ठाका मणि-काञ्चन योग हुआ है। इस बातको ठीक ठीक न समझ सकनेके कारण ही केवल ऊपरी बातोंको देखनेवाले आलोचक कभी इस भावको मुसलमानी प्रभाव और उस भावको ईसाइयतका प्रभाव कह देते हैं। कभी कभी विचारवान् पण्डित भी ऐसी ऊटपटाँग बातें कह जाते है जो नहीं कही जानी चाहिए थीं। आगे हम इन धाराओंकी विशेष जाँच करनेका प्रयत्न करेंगे।

३

सन्त-मत

अपभ्रंश साहित्यकी आलोचनासे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि चारण कवियों की वीर-गाथायें पुरानी परम्पराके अनुसार ही थीं। इस विषयमें कोई मत-भेद नहीं है। पर निर्गुणिया सन्तोंकी वाणीके विषयमें काफी भ्रम फैला हुआ है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि कबीरदास ही निर्गुण मतके आदि प्रतिष्ठाता थे। उनका जन्म मुसलमान-वंशमें हुआ था, ऐसा प्रवाद है। कुछ लोगोंका कहना है कि उनका जन्म तो हिन्दू घरमें हुआ था पर लालन-पालन मुसलमान घरमें। जो हो, उनका मुसलमानी वातावरणमें बड़ा होना निश्चित है। यही कारण है कि उनकी रचनाओंमें मुसलमानी भावकी साधनाकी गंध मिल जाती है। सही बात यह है कि कुछ नामों, शब्दों और खण्डन करनेके उद्देश्यसे उल्लिखत कुछ सिद्धान्तोंके अतिरिक्त मुसलमानी प्रभाव कबीरमें नहींके ही बराबर है। यह स्मरण रखनेकी बात है कि योगियोंका एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय अवध, काशी, मगध और बंगालमें फैला हुआ था। ये लोग गृहस्थ थे और इनका पेशा जुलाहे और धुनियेका था। इनमें जो साधु हुआ करते थे वे भिक्षावृत्तिपर निर्वाह करते थे। ब्राह्मण धर्ममें इनका कोई स्थान न था। मुसलमानोंके आनेके बाद वे लोग धीरे धीरे मुसलमान हो गये और आज भी हो रहे हैं। पर मुसलमान होनेपर भी ये अपनी साधनाओंसे विरत नहीं हुए। चौदहवीं शताब्दीमें अब्दुल रहमान नामक 'आरद्द' या जुलाहे कविने 'संदेशरासक' नामक अपभ्रंश-काव्य लिखा था। यह पुस्तक हाल ही जिनविजयजी द्वारा संपादित होकर बंबईसे प्रकाशित हुई है। बंगालमें योगियोंके बहुतसे धर्म-ग्रन्थ और पुराण मुसलमानी नामधारी लोगोंके लिखे हुए पाये गये हैं। वहाँ योगी नामकी अलग जाति है जो प्रायः समाप्त होनेको आ चुकी थी पर अब जब कि उसमें आत्म-चेतनाका भाव उदय हुआ है वह अपनी हस्ती बचानेका प्रयत्न कर रही है। कबीर, दादू और जायसी ऐसे ही नाम-मात्रके मुसलमान थे जिनके परिवारमें योगियोंकी साधना-पद्धति जीवित रूपमें वर्तमान थी। सन् १९२१ की

मनुष्य-गणनाके अनुसार अकेले बंगालमें इन योगियोंकी संख्या २६५९१० थी। ये सारे बंगालमें फैले हुए हैं और कपड़ा बुननेका काम करते हैं। हिन्दू समाजमें उनका स्थान क्या है यह इस एक बातसे अनुमान किया जा सकता है कि १९२१ ई० की मनुष्य-गणनाके समय जब एक जोगी परिवारने अपनेको स्थानीय प्रचलनके अनुसार 'जुगी' न लिखाकर 'योगी' तथा अपनी स्त्रियोंके नामके सामने 'देवी' लगाना चाहा था तो गणनालेखक ब्राह्मणने कहा था कि अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा परन्तु 'जुगी' को 'योगी' नहीं लिखूँगा और न इनकी स्त्रियोंको 'देवी' लिख सकूँगा! अब इन जोगियोंकी दृढ़ संगठित सभा है जो जोगियोंके सम्बन्धमें अच्छी जानकारी संग्रह कर रही है। ये लोग अपनेको योगी ब्राह्मण भी कहने लगे हैं। इसी प्रकारकी जोगी जातियाँ बिहारमें भी पाई जाती हैं और युक्त प्रान्तमें भी किसी जमानेमें थीं। कबीर और दादूका इन्हीं जातियोंमेंसे प्रादुर्भाव हुआ था। इस बातको ठीक ठीक हृदयंगम न कर सकनेवाले पण्डित कहा करते हैं कि कबीर या दादू सुने-सुनाये ज्ञानकी अटपटी वाणियाँ गाया करते थे।

यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सन्तोंकी वाणियोंकी बाहरी रूपरेखापर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्मके अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियोंके पदादिसे उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदिने व्यवहारकी हैं जो उक्त मतके माननेवाले उनके पूर्ववर्ती सन्तोंने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा,, क्या अलङ्कार, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदासके मार्गदर्शक हैं। कबीरकी ही भाँति ये साधक नाना मतोंका खण्डन करते थे, सहज और शून्यमें समाधि लगानेको कहते थे, दोहोंमें गुरुके ऊपर भक्ति करनेका उपदेश देते थे। इन दोहोंमें गुरुको बुद्धसे भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीरमें भी बड़ी आसानीसे मिल सकते हैं जहाँ गुरुको गोविन्दके समान ही बताया गया है। 'सद्गुरु' शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तांत्रिकों, नाथपंथियोंमें समान भावसे समादृत है।

बहुतसे लोगोंकी कबीरदासके जाति-पाँतिविरोधी विचारोंको देखकर यह धारणा होती है कि कमसे कम यह बात कबीरदासमें मुसलमानी प्रभावके कारण आई है। किसी किसी पंडितको तो यह शंका भी हुई है कि ये बातें मुसलमानी

धर्मके प्रचारके हथखंडे हैं और कुछ लोग मुसलमानी आदर्शके प्रति कबीरदासकी गहरी निष्ठाका प्रमाण इन्हीं बातोंमें बताते हैं। यह युक्तियाँ कुछ जँचती-सी नहीं जान पड़तीं। जाति-वर्णके भेदसे जर्जरीभूत इस देशमें जो कोई भी महासाधक आया है उसे यह प्रथा खटकी है। ऐसे बहुतसे प्राचीन ग्रंथ हैं जिनमें जाति-भेदको उड़ा देनेपर जोर दिया गया है। पर संस्कृतकी पुस्तकें साधारणतः ऊँची जातियोंके लोगों द्वारा लिखी गई होती हैं जिनमें लेखक केवल तटस्थ विचारकी भाँति रहता है। स्वयं नीचे कहे जानेवाले वंशमें उत्पन्न नहीं होनेके कारण उनमें भुक्त-भोगीकी उग्रता और तीव्रता नहीं होती। सहजयान और नाथपंथके अधिकांश साधक तथा-कथित नीच जातियोंमें उत्पन्न हुए थे, अतः उन्होंने इस अकारण नीच बनानवाली प्रथाको दार्शनिककी तटस्थताके साथ नहीं देखा। कबीरदास आदिके विषयमें भी यही बात ठीक है। फिर भी उच्चवर्णके लोगोंने सदा तटस्थताका ही अवलम्बन नहीं किया। कभी कभी उन्होंने भी उग्रतम आक्रमण किया हैं। अश्वघोष (कालिदासके भी पूर्ववर्ती) कविकी लिखी हुई वज्रसूची एक ऐसी ही पुस्तक है। तबसे निरन्तर महायान मतके साधक-गण इस प्रथाके विरुद्ध प्रचार करते रहे हैं। सरोरुहपाद (सरहपा) नामक सहजयानी सिद्ध जाति-व्यवस्थाके भयंकर विरोधी थे। वे कहते हैं—"ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुए थे; जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं वैसे ही पैदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व रहा कहाँ? यदि कहो कि संस्कारसे ब्राह्मण होता है तो चाण्डालको भी संस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाय; यदि कहो कि वेद पढ़नेसे कोई ब्राह्मण होता है तो क्यों नहीं चाण्डालोंको भी वेद पढ़ाकर ब्राह्मण हो जाने देते? सच पूछो तो शूद्र भी तो व्याकरणादि पढ़ते हैं और इन व्याकरणादिमें भी तो वेदके शब्द हैं, फिर शूद्रोंका भी तो वेद पढ़ना हो ही गया। और यदि आगमें घी देनेसे मुक्ति होती हो तो सबको क्यों नहीं देने देते ताकि सब मुक्त हो जायँ? होम करनेसे मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगनेसे आँखोंको कष्ट जरूर होता है। ब्राह्मण 'ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान' चिल्लाया करते हैं। अव्वल तो उनके अथर्व वेदकी सत्ता ही नहीं है, फिर और तीन वेदोंके पाठ भी सिद्ध नहीं, इसलिए वेदका तो कोई प्रामाण्य ही नहीं है। वेद तो परमार्थ नहीं हैं; वह तो शून्यकी शिक्षा नहीं देता, वह तो एक व्यर्थकी बकवास है।" इसी प्रकार शिवोपासक योगियोंके सम्बन्धमें सरोरुह वज्र

कहते हैं—ये शिव (ईश्वर) के भक्त शरीरमें राख मलते हैं, सिरपर जटा धारण करते हैं, दिया जलाकर घरमें बैठे रहते हैं और ईशान कोणमें बैठकर घंटा बजाया करते हैं, आसन बाँधकर आँख मूँदा करते हैं और लोगोंको नाहक धोखा देते हैं। अनेक रण्डी मुण्डी और नाना वेशधारी इन गुरुओंके मतमें चलते हैं। लेकिन जब कोई पदार्थ है ही नहीं, जब वस्तु वस्तु ही नहीं है तो ईश्वर भी तो एक पदार्थ ही है, वही कैसे रह सकता है ? इत्यादि।* इसी प्रकार ये साधक अन्यान्य मतोंका भी खण्डन करते और अपने मतोंका स्थापन करते रहते थे। इन खण्डनोंका स्वर एकदम वही है जो कबीरदासका। अन्तर इतना ही है कि कबीरके युगमें अवस्था और जटिल हो गई थी। उन्हें मुसलमानों, हिन्दुओं, योगियों और इन सिद्धों और साधकों सबसे एक एक हाथ लड़ लेना था। कबीरके निर्गुणमतवादी साधकोंकी परम्परामें जो दादू, सुन्दरदास आदि भक्त हो गये हैं उन्होंने स्पष्ट ही नाथपंथी योगियों, विशेष कर आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ तथा चौरासी सिद्धों, विशेषकर काणेरी, चौरङ्गी, हाडिफा आदिको अपने मतका आचार्य माना है। सहजयानी सिद्धों और नाथपन्थी योगियोंका अक्खड़पना कबीरमें पूरी मात्रामें है और उसके साथ ही उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्खड़पनने मिलकर कबीरदासको अत्यधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।

एक बात लक्ष्य करनेकी यह है कि हिन्दी साहित्यके आदि प्रवर्तक तीन महाकवियों—चन्द, कबीर और सूरदास,—मेंसे सबके सब एक विचित्र प्रकारकी पद रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटबाँसी या विपर्यय कहते हैं। सूरदासके ग्रंथोंमें इन्हें दृष्टकूट और कबीरकी वाणीमें उलटबाँसी कहा है। चंदके रासोमें भी ऐसे दृष्टकूट मिल जाया करते हैं। जिन उलटबाँसियोंके लिए कबीरदास बहुत बदनाम किये गये हैं और साहित्यिक 'महारथियों' के आक्षेप-बाणोंके शिकार होते रहे हैं उनमें कितनी उनकी अपनी रचना है और कितनी पूर्वतर साधकोंसे गृहीत और कितनी भक्तोंद्वारा उनके मत्थे आरोपित हैं, यह निश्चय करना मुश्किल है। लेकिन इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकारकी उलटबाँसियाँ उस युगमें नाथपन्थी योगियों और सहजयानियोंमें

* परिशिष्टका 'बौद्ध साहित्य' देखिए।

खूब प्रचलित थीं। बंगालमें मुसलमान नामधारी योगियोंकी लिखी हुई पोथियोंमें ऐसी उलटबाँसियोंकी भरमार हुआ करती है। तत् तत् सम्प्रदायवाले इन उलटबाँसियोंका अर्थ भी कर लिया करते थे। सहजयानियोंमें इस प्रकारकी भाषाका नाम 'सन्ध्या भाषा' प्रचलित था*। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीके मतसे सन्ध्या भाषाका मतलब ऐसी भाषासे है जिसका कुछ अंश समझमें आये और कुछ अस्पष्ट दिखे पर ज्ञानके दीपकसे जिसका सब कुछ स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्यामें सन्ध्या शब्दका अर्थ साँझ मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाशके बीचकी सन्ध्याकी भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। परंतु ऐसे बहुतसे विद्वान् हैं जो उक्त भाषाका यह अर्थ नहीं स्वीकार करना चाहते। एक पंडितने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्दका अर्थ संधि-देशकी भाषा है। संधि-देश भी इस पंडितकी अनुमितिके अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहारकी पूर्वी सीमा और बंगालकी पश्चिम सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही बेबुनियाद है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बिहार और बंगालके आधुनिक विभाग सदासे इसी भाँति चले आ रहे हैं। म० म० प० विधुशेखर भट्टाचार्य महाशयका मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा' भाषा है और इसका अर्थ अभि संधिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्दको संस्कृत संधाय (=अभिप्रेत) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्धशास्त्रके किसी किसी वचनविशेषने आगे चलकर सहजयान और वज्रयानमें यह रूप ग्रहण किया है।

---

* इस भाषाकी एक उलटबाँसीका उदाहरण ढेण्डणपादकी रचनासे दिया जा रहा है—

टालत मोर घर ना हि पड़वेषी (टलत मोर घर नाहिं पड़ोसी)
हाड़ीति भात नाहिं नित आवेशी। (हाड़ीमें भात नाहिं नित आवेशी)
बेंग संसार बड्हिल जात्र। (बिना अंग संसार बढ़ा जाय)
दुहिल दुधु कि बेण्टे षामाय। (दुहा दूध कि बाँट समाय)
बलद बिआएल गविया बाँझे। (बैल बियाया गैया बाँझ)
पिटा दुहिए ए तिना साँझे। (पीठमें दुहा इतनी साँझ)
जो सो बुधी सो धनि बुधी (जो सो बुद्धि धन्या बुद्धि)
जो सो चौर सोइ साधी (जो सो चोर सोइ साधु)
निते निते षियाला सिंहे षम जूझय। (नित नित स्यार सिंहसों जूझै)
ढेण्डणपाएर गीत बिरले बूझय। (ढेण्ढणपादका गीत बिरला बूझै)

असलमें, जैसा कि भट्टाचार्य महाशयने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदोंमेंसे भी ऐसे उदाहरण खोजकर निकाले जा सकते हैं जब कि सन्धाभाषा जैसी भाषाके प्रयोग मिल जाया करते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मकी अन्तिम यात्राके समय यह शब्द अत्यधिक प्रचलित हो गया था और जनसाधारणपर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था। यही कारण है कि उस युगके सभी कवि किसी न किसी रूपमें इन विरोधाभासमूलक उलटबाँसियोंकी रचना करते रहे। श्रीराहुल सांकृत्यायनने यह पहले ही कहा है कि सन्त कवियोंकी उलटबाँसियोंपर सिद्धोंका प्रभाव है। एक अन्य विद्वान्‌का कहना है कि सहजयानियोंकी संधा भाषा और सन्तोंकी उलटवाँसियोंमें बड़ा अन्तर है। सन्तोंका उद्देश्य विरोधाभासको अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित महान् अर्थको प्रकृत बनाना है, पर सिद्धोंका ऐसा नहीं है। इसीलिए, सिद्धोंकी वाणियाँ, उक्त विद्वान्‌के मतसे बादमें चलकर विकृत अर्थ उत्पन्न करनेका कारण हुईं। मुझे इस भेदारोपमें कोई विशेषता नहीं दिखती। असलमें सहजयान और वज्रयानमें कुप्रवृत्तियोंका प्रवेश इसलिए नहीं हुआ कि संधाभाषामें उनकी वाणियाँ कही गई थीं। अद्वय वज्रकी टीकासे साफ जान पड़ता है कि इन सिद्धोंका उद्देश्य भी वही था जो सन्तोंका था। काल-भेद, व्यक्ति-भेद और अवस्था-भेदके कारण जो भेद स्वाभाविक हैं वही भेद इन दोनोंमें हैं। सूरदासके दृष्टकूटोंके विषयमें भी यही बात ठीक है। वह भी एक तरहके संधावचन या उलटबाँसी है। बहुत संभव है कि कबीरदास आदिकी पुस्तकोंमें जो ऐसी रचनायें मिलती हैं वे पूर्ववर्ती साधकों और भक्तोंकी रचनायें ही हों और बादमें इन कवियोंके नामसे चल पड़ी हों। वस्तुतः यह बात केवल अनुमान या अटकल नहीं है। कबीरदासके नामपर यह उलटबाँसी बहुत अधिक प्रचलित है—"कबीरदासकी उलटी बानी। बरसै कंबल भीजै पानी॥" स्व० डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वालने प्रयाग से 'गोरख-बानी' नामक जो संग्रह प्रकाशित कराया है उसमें गोरखनाथके नामपर यही उलट बाँसी इस प्रकार मिलती है—"नाथ बोले अमृत वाणी। बरिसैगी कंबली भीजैगा पांणी॥" (पृ० १४१)। इस प्रकारके अनेक उदाहरण दिखाये जा सकते हैं।

इसी प्रकार पण्डितमण्डली जिन बातोंके लिए कबीरदासको घमंडी समझती है वे भी किसी न किसी रूपमें प्राचीनतर आचार्योंसे परम्परया प्राप्त हुई थीं और बहुत-सी बादमें शिष्योंने कबीर आदिके नामपर चला दी हैं। मध्ययुगके

भक्तोंके ऐसे अनेक पद मिलते हैं जो कई सन्तोंके नामसे प्रचलित हैं। जो पद कबीरके नामसे चल रहा है वही दादूके नामसे, फिर वही रैदास या अन्य किसी साधकके नामसे भी। ऐसे पदोंके विषयमें समझना चाहिए कि ये पद पूर्ववर्ती साधकोंके अनुभव हैं जिन्हें परवर्ती साधक या साधकोंने भी स्वीकार कर लिया है। ये भक्त कविता करनेके लिए पद नहीं लिखा करते थे इसीलिए इनमें उस प्रकारकी सावधानीका अभाव है जो कवि अपनी रचनाके अभिनव चमत्कार प्रदर्शनके लिए अत्यावश्यक समझता है। कबीरदासकी यह साखी सहजमतके आचार्यकी याद दिला देती है—

> जिहि बन सीह संचरै, पंखि उड़े नहिं जाय।
> रैनि दिवसका गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ ॥

सरहपादकी साक्षी है—

> जंहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश !
> तहि बट चित्त विशाम करु, सरुहे कहिअ उमेश ॥

असलमें साखी (साक्षी) का मतलब ही यह है कि पूर्वतर साधकोंकी बात-पर कबीरदास अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं। अर्थात् इस सत्यका अनुभव वे भी कर चुके हैं। जो लोग कबीरदासको साधक न समझकर केवल कवि समझना चाहते हैं वे प्रायः कुछ ऐसी उल्टी सीधी बात कर जाते हैं जो उनके पाण्डित्यके लिए शोभाजनक नहीं होती। कभी कभी हास्यास्पद भावसे कबीरदासको शास्त्रज्ञानहीन, सुनी सुनाई बातोंका गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युगमें जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जानेवाली जातियोंके लिए शास्त्र और वेदका दरवाजा खुला था और कबीरदास आदिने जान बूझकर उनकी अवहेलना की थी ! सच पूछा जाय तो शास्त्रज्ञान, तत्त्वज्ञानके मार्गमें सब समय सहायक ही नहीं होता और कभी कभी तो उस युगकी तथोक्त नीच जातियोंमेंसे आये हुए महापुरुषोंका शास्त्रीय तर्कजालसे मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है। इन संस्कारोंसे वंचित रहनेके कारण ही वे सब जगहसे सहज सत्यको सहज हीं ले सकते थे। वे रूढ़ियों और मिथ्या विश्वासके शिकार नहीं हुए। वे उस बे मतलबकी निजत्व-बुद्धिके भी शिकार नहीं हुए जो दूसरोंकी लिखी हुई बातको तोड़ मरोड़कर कहनेमें दूसरोंसे ग्रहण करनेके महादोषसे अपनेको मुक्त समझती है। उनमें ग्रहण करनेकी भी शक्ति थी, और करानेकी भी शक्ति थी इसी लिए वे महान् थे।

कबीरदास आदि साधकोंने नाथपंथियों और सहजयानियोंके बहुतसे शब्द, पद और दोहे ज्योंके त्यों स्वीकार कर लिये थे *। इनमें यत्र तत्र नाम मात्रके परिवर्तन भी हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर, आदिने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकोंसे ग्रहण की थीं, फिर भी कबीरकी साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियोंकी थी। कबीर आदिने योगियों और सहजयानियोंके पारिभाषिक शब्दोंकी अपने ढँगपर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रोंसे गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ-सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट्चक्र, समाधि, इडा, पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियोंके इन्हीं शब्दोंसे भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं सूफियोंकी साधनासे गृहीत शब्दोंकी भी उन्होंने अपने ढंगपर व्याख्या की थी। क्योंकि वे किसी शास्त्रविशेष या सम्प्रदाय विशेषके संस्कारोंसे जकड़े हुए नहीं थे और जैसा कि दादूने कहा है, कबीरदासने निर्गुण ब्रह्मकी समाधिके विषयमें मुसलमानोंका रास्ता छोड़ दिया था और हिन्दुओंके कर्मकलापसे भी अलग हो गये थे×। वे सहज ही

---

* अध्यापक क्षितिमोहन महाशयने नाथ-योगियोंमें प्रचलित तथा दादू दयालके संग्रहोंमें प्राप्त ऐसे कुछ पदोंको संग्रह किया है। यथा,

नाथयेगियोंके पद—उठ्या सारन् बैठ्या सारन् जागत सूता।
तिन भुवने बिछाइना जाल कोइ जाविरे पूता॥

दादूका पद—उठ्या सारं बैठ विचारं संभारं जागता सूता।
तीन लोक तत जाल विडारन कहाँ जाइगा पूता॥

योगियोंका (मायाका वाय)—उठ्या मारुम बैठ्या मारुम मारुम जागा सूता।
तीन धाम काम जाल विछाइम कोइ जावि रे पूता॥

दादूका (माया वाक्य)—उठ्या मारूं बैठ्या मारूं मारूं जागत सूता।
तीन भवन भगजाल पसारूं कहां जायगा पूता॥

योगियोंका (गोरखनाथका उत्तर)—उठया खंडुम बैठया खंडुम खंडुम जागत सूता।
तीन भुवने खेलुम आलग तयतो अवधूता॥

दादूका पद—ऊभा खंडूँ बैठा खंडूँ, खंडूँ जागत सूता।
तीन भुवनते भिन है खेलूं तो गोरख अवधूता॥

× निर्गुण ब्रह्मको कियो समाधू। तब ही चले कबीरा साधू।
तुर्ककी राह खोज सब छाड़ी। हिन्दूके करनीते पुनि न्यारी।—दादू

उस स्थानपर विश्राम कर सकते थे जो संप्रदायोंसे अतीत है, जहाँ अल्लाह और रामकी गम नहीं[१]। वे साधनाको सहज भावसे देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि प्रतिदिनके जीवनके साथ चरम साधनाका कहीं भी विरोध हो। दैनिक जीवन और शाश्वत साधनाका यह जो अविरोध भाव है वही कबीरका 'सहज पंथ' है। उनके युगमें यह शब्द बहुत प्रचलित था। जैसे आजकल 'संस्कृति' शब्द बहुल प्रचारके कारण कुछ सस्ता हो गया है वैसे ही उन दिनों 'सहज' शब्द भी सस्ता हो गया था। लोग गली कूचे 'सहज-सहज' कहते फिरते थे। इस शब्दकी व्याख्या भी निश्चय ही नाना भाँतिसे की जाती रही होगी। कबीरदास इससे चिढ़कर एक जगह कहते हैं कि 'सहज-सहज' तो सभी कहते हैं पर सहजको पहचाना किसीने नहीं। सहज उसीको कह सकते हैं जो सहज ही विषयका त्याग कर सके[२]।' इसके लिए घर-बार छोड़नेकी जरूरत नहीं। सम्प्रदायप्रथित ब्रह्माण्डम्बरकी भी कोई आवश्यकता नहीं। और जैसा कि प्रसिद्ध साधक रज्जबने कहा है, योगमें भी भोग रह सकता है और भोगमें भी योग हो सकता है[३]! वैरागी भी डूब सकते हैं और गृहस्थ भी तर सकते हैं। इस प्रकार यह सहज पंथ 'सहजयान' नामक संप्रदाय विशेषसे एकदम भिन्न है। इसी तरह जब कबीर 'शून्य' शब्दका व्यवहार करते हैं तो 'कुछ नहीं' के अर्थमें कभी नहीं करते। भला जो कुछ नहीं है उसका नाम ही क्या हो सकता है? उस 'कुछ नाहीं' का जो कुछ भी नाम दिया जायगा वह, दादू दयालने ठीक ही कहा है, कि झूठ होनेको बाध्य है[४]।

---

१ सूर नर मुनिजन औलिया, ए सब उरली तीर।
अलह रामकी गम नहीं, तहं घर किया कबीर॥

२ सहज सहज सब ही कहे, सहज न चीन्है कोइ।
जिन सहजैं विषया तजी, सहज कहीजे सोइ॥

३ एक जोगमें भोग है, एक भोगमें जोग।
इक बूड़हिं वैरागमें, इक तरहिं सो गृही लोग॥

४ कुछ नाहींका नाँव क्या, जो धरिये सो झूठ।
और
कुछ नाहींका नांव धरि, भरमा सब संसार।
साँच झूठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार॥—दादू

यह शून्य शब्द बहुत मनोरंजक है। बौद्ध महायान दार्शनिकोंकी दो शाखायें हैं। एक मानती है कि संसारमें सब कुछ शून्य है, किसीकी भी सत्ता नहीं और दूसरी शाखावाले मानते हैं कि जगत्के सभी पदार्थ बाह्यतः असत् हैं पर चित्के निकट सभी सत् हैं। एकको शून्य-वाद कहते हैं और दूसरीको विज्ञान-वाद। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य और अशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि वह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भावकी प्रज्ञप्तिके लिए शून्यताका व्यवहार होता है—

शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यामिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥

इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयता-वादका रूप ग्रहण कर लेता है। महायान मतकी प्रज्ञापारमिताओंकी थका देनेवाली पुनरुक्तियोंमें बार-बार यही दुहराया गया है कि वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है *। यह शून्यवाद इतना प्रचलित हुआ कि उस युगके सभी साधक इस शून्यका प्रयोग करने लगे। सबने अपने अपने मतानुकूल अर्थ किये। योगियोंके षट्चक्रके सबसे ऊपरी चक्रको शून्य-चक्र या सहस्रदल पद्म कहते हैं। इस प्रकार योगियोंने भी शून्यको ही परम लक्ष्य माना है पर उसका अर्थ बदल कर। कबीरदास आदि निर्गुण मतके साधकोंने भी इस शब्दका व्यवहार अपने अपने ढंगपर किया है। अध्यापक क्षितिमोहन सेनने दादूकी अनेकानेक वाणियोंकी जाँच करनेके बाद देखा है कि दादूका शून्य 'कुछ नहीं' तो है ही नहीं, अधिकन्तु, वह 'पूर्ण सरोवर' 'आत्मा-सरोवर' और 'हरि-सरोवर' है। दादूके टीकाकारोंने कहीं शून्य शब्दका अर्थ शान्त निर्वाण पद किया है और कहीं लय लीन समाधिकी अवस्था।

इस विषयमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि शास्त्रज्ञानसे वंचित होने पर भी इस श्रेणीके साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतताके कारण वे अनायास ही अनुभव-सम्मत सत्यको संग्रह कर सकते थे। इसी लिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेषके मतका हू-ब-हू उल्था है और न बेसिर-पैरकी बातोंकी बेमेल खिचड़ी। सभी विषयोंमें उनका आत्मोपलब्ध मत है। वेदान्तियोंके निर्गुण ब्रह्म उनके उपास्य नहीं हैं क्योंकि उन्होंने एकाधिक बार उसमें गुणका आरोप किया है।

* देखिए, परिशिष्ट: बौद्ध साहित्य।

प्रेमपर इन सन्तोंने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्तके बिना भगवान्को भी अपूर्ण बताया है। यह भावना केवल ज्ञानगम्य ब्रह्मको आश्रय करके नहीं चल सकती। भक्तरूपी प्रियाके लिए भगवान्रूपी प्रियके सदा व्याकुल रहनेकी कल्पना निर्गुण और निरासक्त ब्रह्मको आश्रय करके नहीं चल सकती, प्रेमके इस रूपके लिए एक संसक्त और व्यक्तिगत भगवान्की पूर्व कल्पना नितान्त आवश्यक है। यदि इन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जायगा तो उक्त बात अबोध्य हो जायगी। जिन पंडितोंने इन संतोंको ज्ञानाश्रयी कहा है वे सचमुच इस चक्करमें पड़ गये हैं और तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने जाकर यह कहनेको बाध्य हुए हैं कि "न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी" (—पं० रामचंद्र शुक्ल)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये साधक अपने विचारोंमें स्पष्ट नहीं थे। इनकी प्रेम-साधना साधारणतः निम्नलिखित आकारोंमें प्रकट हुई है—

(१) भगवान्को अन्तरमें ही रखना चाहिए, बाहर प्रदर्शन करनेपर वह दिखानेकी चीज़ हो जाता है। (२) इस रसको जिसने पाया है वही जला है। (३) इस प्रेम-लीलामें भक्तके समान ही भगवान् भी उत्सुक हैं। (४) जिसने प्रेमके क्षेत्रमें भगवान्का योग पाया है वही वास्तवमें योगी है। (५) इस प्रेमकी ज्वालामें जल कर ही भगवान्ने अनाहत संगीतकी तरह इस सुंदर सृष्टिकी रचना की है। (६) पवन, जल, आकाश, धरती, सूर्य चंद्र ये सभी भगवान्के प्रेमके रूप हैं। इत्यादि।

प्रेमके इस असीम आनंदको प्रकट करनेके लिए इन साधकोंमें एक पारिभाषिक शब्द प्रचलित है—सबद या शब्द। यह शब्द भी बहुत पुराना है और नाना मतोंमें नाना रूप ग्रहण कर चुका है। निर्गुणिया सन्तोंके मतसे यह सारा विश्व 'सबद' में बँधा है। सबदके इस अनादि संगीतकी तानको 'सुरति' और ताल और लयको 'निरति' कहते हैं। सुरति और निरति मिल कर ही सबको पूर्ण करते हैं। सुर असीम है, ताल ससीम। तालसे बँध कर ही सुर रूपपरिग्रह करता है, नहीं तो हम उसे अनुभव नहीं कर सकते। असीम परमात्मा भी सुरति निरतिके सुर-तालमें बँध कर अपनेको प्रकट करता है। जहाँ कहीं आविर्भाव है, रूपकी अभिव्यक्ति है वहीं सीमा और असीमका योग है। गति असीम है पर जब वह नृत्य आदिका रूप धारण करती है तब समझना चाहिए कि उसका योग पदसंचार आदिकी सीमाके साथ हुआ है। इसी लिए यह सार

रूपात्मक जगत् सीमा और असीमके योगसे बना है। इसी योगके लिए यह विराट् आयोजन चल रहा है। कहना नहीं होगा कि 'शब्द' का यह अर्थ जो इन साधकोंने स्वीकार किया है, योगियोंके 'नाद' से एकदम भिन्न न होते हुए भी हू-ब-हू वही नहीं है।

सीमा और असीमके इस प्रेममय द्वन्द्वसे ही इस श्रेणीके भक्तोंका काव्य एक अभिनव माधुर्य और सौन्दर्यसे समृद्ध हो गया है। उसमें ठीक रूपकी उपासना भी नहीं है और नीरस निर्गुण-निराकारका ध्यान भी नहीं है। भगवान्के साथ उनका एक भक्तिगत योग है जो न तो कभी भगवान्की असीमताको खर्व करता है और न अपनी ससीमताका निरादर करता है। यह प्रेम संभव ही इस लिए हो सका है कि सीमा असीमको और असीम सीमाको पानेके लिए व्याकुल है। इस व्याकुलताकी पीड़ासे इस साधनाका साहित्य संसारका बेजोड़ और अद्वितीय साहित्य बन सका है। किसी सम्प्रदाय विशेषके संस्कारोंसे समाच्छन्न न होनेके कारण यह सहज ही सारे संसारकी सम्पत्ति बन सकता है।

स्वभावतः ही यह प्रश्न होता है कि क्या फिर आत्मा असीममें मिलकर लीन हो जायगा और सब कुछ समाप्त हो जायगा? ज्ञानमार्गियोंका तो यही कहना है कि यह आत्मा ज्ञान-प्राप्तिके बाद अविद्याके जालसे छुटकारा पाकर अद्वैत सत्तामें लीन हो जायगा। पर ये साधक ठीक ऐसी ही बात नहीं कहते, ज्ञानकी अपेक्षा प्रेमकी प्राप्तिपर अधिक जोर देते हैं। इन सन्तोंमें एक पारिभाषिक शब्द 'लौ' प्रचलित है, जो साधारणतः 'लय' शब्दसे सम्बद्ध समझा जाता है। पर इनके द्वारा व्यवहृत किसी शब्दको शास्त्रसे या दर्शनविशेषके पारिभाषिक शब्दके साथ एक करके देखनेमें पद पद पर गलतफहमी होनेका अन्देशा रहता है। इनके शब्दोंका अर्थ इनके प्रयोगसे ही स्पष्ट होत है। 'लौ' असलमें प्रेमका ही वाचक शब्द है। भगवान्के साथ भक्तका जब लौ लगता है तो वह उसके अखण्डानंदसन्दोह रूपमें लीन नहीं हो जाता है बल्कि, जैसा कि कबीर कहते हैं, 'कँवल कुआँमें प्रेमरस पीवै बारंबार।' वहाँ उसकी सत्ता रहती है और प्रेमके योगमें ही वह संसारका अभिनव आनंद प्राप्त करता है। वह प्रेम योगसे युक्त भगवान्के साथ अपनी सीमित सत्तामें रहते-हुए भी, सहज ही विश्वरसका आनंद उपभोग कर सकता है। इस प्रकार सुरति तान या शाश्वत संगीतमें पूर्ण होकर लौ लगाया हुआ भक्त फिर भी प्रेमका प्यासा होता है। और जैसा कि दादूने कहा

है, यदि वह जगद्गुरुकी अनन्त सत्तामें लौ लगा सके तो सहज ही अभिनव लीलाका रसास्वाद कर सके* । इस प्रकार 'लौ' का अर्थ है चित्तवृत्तियोंको अन्यत्रसे हटा कर एक अनन्त प्रेममय भगवत्सत्तामें युक्त करना जहाँसे भक्त सदा अपना अभिलषित प्रेम-रस पान करता रहे । यह वही अवस्था है जिसे भागवत गण शम-बुद्धिमूलक समाधि कहते हैं और जिसकी चर्चा आगे की गई है।

इस प्रकारके प्रेममें छके हुए ये सन्त कभी प्रेमको शराब बताते हैं और उस मदसे मस्त बने रहनेकी बात करते हैं। इस प्रकारके कथनोंको भी सूफी साधनाका प्रभाव सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है। कबीरदास आदि सत्संगी जीव थे और अनेक बड़े बड़े सूफी साधकोंसे उनकी प्रत्यक्ष घनिष्ठता थी। ऐसी अवस्थामें यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकारकी बातोंमें सूफी मतका प्रभाव नहीं ही है। ऐसा प्रभाव होना असंभव नहीं है। पर कबीरदासके पदोंके साथ जब उनके पूर्ववर्ती सिद्धोंके पदोंकी तुलना की जाती है तब इस जातिके पदोंमें आश्चर्यजनक साम्य दिखाई देता है। असल बात तो यह है कि सहजयानमें 'मदिरा'का प्रचलन भी खूब हो चुका था। सिद्ध लोग भी एक प्रकारकी मदिराकी चर्चा करते हैं जिसका स्वर हू-ब-हू कबीर जैसा होता है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि ऐसे पदोंमें कबीरदास प्रायः अवधू या अवधूतको संबोधन करते हैं। कबीरदासका नियम-सा बँधा हुआ था कि जब वे जिस विषयकी बात करते थे, तब उसके विशेष मान्य आचार्यको संबोधन करते थे। वेदकी बात करते समय पंडितको, कुरानकी बात करते समय मुल्लाको, भक्तिकी बात करते समय साधुको वे प्रायः पुकार लेते थे। संबोधन करनेके बाद प्रायः उनके पदोंमें संबोध्यकी विद्याकी नई व्याख्या बताई जाती है और उसकी रूढ़ियोंपर आघात किया जाता है। ऐसी अवस्थामें मदिराके रूपकोंमें अवधूतको पुकारनेका विशेष अर्थ है। वह अवधूतकी ही मदिराकी नई व्याख्या है। सूफी साधकोंकी चीज़की व्याख्या नहीं। पर यह हो सकता है कि इस नई व्याख्यामें सूफी साधनाकी बात भी अप्रत्यक्ष रूपसे आ गई हो।

अब तक जो हम कबीर आदि साधकों, योगियों और सिद्धोंकी बात करते आ रहे हैं उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि कबीर आदिने

---

* जहाँ जगतगुरु रहत है, तहाँ जो सुरति समाइ।
तौ इन नैनेहु उलटि करि, कौतिक देखें आइ ॥

वही कहा है जो इन योगियों और सिद्धोंने। मैं केवल इस बातपर जोर देता रहा हूँ कि जहाँतक उनकी उपस्थापन पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदिका संबंध है ये सन्त सौ फी सदी भारतीय परम्परामें पड़ते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़ि-विरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकोंकी देन है। परंतु उनमेंकी आत्मा उनकी अपनी है। उसमें भक्तिका रस है और वेदान्तका ज्ञान है। इस भक्तिरसकी अलोचना हम आगे करेंगे। केवल एक सवाल और रह जाता है कि कबीरके पहले भी तो ये बातें वर्तमान थीं फिर वे उतनी ही प्रभावशाली क्यों नहीं हो सकीं जितनी कबीर आदिकी बातें हो सकीं? इस बातके कई तरहके जवाब दिये गये हैं। परन्तु इसका कारण निस्सन्देह राजनीतिक सत्ता थी। किसी किसीने कहा है कि मुसलमानोंके आगमनके पूर्व हिन्दू राजा इन तथाकथित नीच जातियोंकी आशा आकांक्षाको पनपने नहीं देना चाहते थे और किसी दूसरेने कहा है कि पहले तो ये छोटी समझी जानेवाली जातियाँ अकेले हिन्दुओंसे ही सताई जा रही थीं, अब मुसलमानोंसे भी सताई जाने लगीं; इस प्रकार उन्हें अपनी स्थितिको सुधारकर अधिकार प्राप्त करनेके नये प्रयत्न करने पड़े। ये दोनों ही बातें युक्तियुक्त नहीं जँचती। मेरा विचार यह है कि ऐसी बातें समाजके किसी न किसी स्तरमें वर्तमान तो जरूर थीं पर अधिकांशमें उन लोगों द्वारा प्रचारित होती थीं जो शास्त्र और वेदको नहीं मानते थे। फिर जनसाधारणमें प्रचलित पौराणिक ठोस रूपोंसे उनका कोई संबंध नहीं था। कबीरदासने गुरु रामानंदसे शिष्यत्व ग्रहण करके जनसाधारणमें उनकी शास्त्र-सिद्धताका विश्वास पैदा किया और राम नामको अपना कर जन-साधारणके परिचित भगवान्से अपने भगवानकी एकात्मता साबित की। उन्होंने रूपकों-द्वारा योगमार्ग, वैष्णव मत आदि अत्यधिक प्रचलित जनमतकी अपने ढँगपर व्याख्या करके जनसाधारणका विश्वास अर्जन कर लिया। इस प्रकार एक बार शास्त्र और लोक-विश्वासका जरा-सा-नाम-मात्रका सहारा पाते ही यह मत देशके इस सिरेसे उस सिरे तक फैल गया।

४

भक्तोंकी परम्परा

हमने देख लिया है कि हमारे आलोच्य साहित्यकी आरम्भिक अवस्थामें पूर्व और पश्चिमकी भिन्न स्वभाववाली साधनाओंका सम्मिलन बड़े वेगसे हो रहा था। यह एक विराट् जन-आन्दोलन था। दर्शन और धर्मशास्त्रकी सूक्ष्म चिन्तायें इसको ऊपर ऊपरसे ही प्रभावित कर सकी थीं। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐहिकतापरक या सेक्यूलर काव्यके सम्बन्धमें भी यह युग अपना रास्ता अधिकांशमें स्वयं तै कर रहा था। पूर्वके सहजयानी और नाथपंथियोंकी साधनामूलक रचनायें तथा पश्चिमकी अपभ्रंश-धाराकी वीरत्व, नीति और श्रृंगारविषयक कवितायें उस भावी जन-साहित्यकी सृष्टि कर रही थीं जिसके जोड़का साहित्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहासमें दुर्लभ है। यह एक नई दुनिया है, और जैसा कि डाक्टर ग्रियर्सनने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बादकी शताब्दियोंका साहित्य पढ़नेका मौका मिला है उस भारी व्यवधान (Gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो (पुरानी और नई) धार्मिक भावनाओंमें विद्यमान है। हम अपनेको ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनोंसे कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्षने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्मके आन्दोलनसे भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युगमें धर्म ज्ञानका नहीं बल्कि भावावेशका विषय हो गया था। यहाँसे हम साधना और प्रेमोल्लास (Mysticism and rapture) के देशमें आते हैं और ऐसी आत्माओंका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पंडितोंकी जातिके नहीं, बल्कि जिनकी समता मध्ययुगके यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेयरवॉक्स, थॉमस ए. केम्पिन और सेंट थेरिसासे है।" जो लोग इस युगके वास्तविक

विकासको नहीं सोचते उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया। स्वयं डाक्टर ग्रियर्सनने ही लिखा है कि "बिजलीकी चमकके समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतोंके अन्धकारके ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँसे आई और कोई भी इसके प्रादुर्भावका काल निश्चित नहीं कर सकता, इत्यादि।" स्वयं डा० ग्रियर्सनका अनुमान है कि वह ईसाइयतकी देन है। पर यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरोंको नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिन्दू लोग भजन-भावमें जुट गये। मैंने इन दोनोंका यथाशक्ति अपनी 'सूर-साहित्य' नामक पुस्तकमें खण्डन कर दिया है। यहाँ उन बातोंको दुहरानेकी जरूरत नहीं क्योंकि इतःपूर्व हम देख चुके हैं कि भारतीय चिन्ता स्वभावतः ही इस ओर अग्रसर होती गई है। लेकिन जिस बातको ग्रियर्सनने अचानक बिजलीकी चमकके समान फैल जाना लिखा है वह वैसी नहीं। उसके लिए सैकड़ों वर्षसे मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी उसका प्रादुर्भाव तो एकाएक हो ही गया। इस एकाएक प्रादुर्भावका कारण विचारणीय रह जाता है। पिछले वक्तव्यको समाप्त करते समय इस कारणकी ओर इशारा किया गया था। वह कारण था शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओंसे इनका योग होना। ये शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिणके वैष्णव थे।

सुदूर दक्षिणमें आलवार भक्तोंमें भक्तिपूर्ण उपासनापद्धति वर्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं जिनमें कमसे-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नामकी एक महिला भी थीं। इनमेंसे अनेक भक्त उन जातियोंमें उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगोंकी परम्परामें सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्रीरामानुजका प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिणमें आजकी भाति ही जाति-विचार अत्यन्त जटिल अवस्थामें था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेनने लिखा है, इस जाति-विचार-शासित दक्षिण देशमें रामानुजाचार्यने विष्णुकी भक्तिका आश्रय लेकर नीच जातिको ऊँचा किया और देशी भाषामें रचित शठकोपाचार्यके तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्रको वैष्णवोंका वेद कहकर समादृत किया। धर्मकी दृष्टिमें सभी समान हैं लेकिन समाजके व्यवहारमें जातिभेद है, इसी लिए दोनों ओरकी रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग अलग भोजन करेगा। क्योंकि जाति-पाँतिका सवाल तो पंक्ति-

भोजमें ही उठता है। इसीको दक्षिणमें 'तेन कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बातको कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पन्द्रहवीं शताब्दीमें वेदान्त देशिकने वेदवाद और प्राचीन रीतिको पुनः प्रवर्तित किया। इसीको वह 'वेद कलाई' या वेदवाद कहते हैं। 'तेन कलाई' वालोंने विवाहमें होम और विधवाका मस्तक मुण्डन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदान्त देशिकने पुनर्वार इन आचारोंको जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारोंका भक्तिमतवाद भी जनसाधारणकी चीज़ था जो क्रमशः शास्त्रका सहारा पाकर सारे भारतवर्षमें फैल गया। यह हम ठीक नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तोंने इस भक्तिवादको कहाँतक दार्शनिक रूप दिया है। बहुत संभव है जैसा कि प्रायः हुआ करता है, कि अपने आपमें वह उत्तर भारतके सन्तोंकी तरह 'अनभै साँचा पंथ,' या अनुभूत सत्योंका अस्तव्यस्त रूप रहा हो जिसे बादके शास्त्रज्ञानशाली पण्डितोंने ब्योरेवार सजाया हो और उसे दार्शनिक रूप दिया हो। उत्तर भारतमें इन वैष्णवशास्त्री आचार्योंकी कृपासे उसके दार्शनिक रूपका ही अधिक प्रचार हुआ।

ऊपर दक्षिणके जिस वैष्णव आन्दोलनकी चर्चा की गई है, इसका जरा विस्तृत विवरण यहाँ देना आवश्यक है क्योंकि असलमें दक्षिणका वैष्णव मतवाद ही भक्त आन्दोलनका मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दीके आस पास दक्षिणमें सुप्रसिद्ध शङ्कराचार्यके दार्शनिक मत अद्वैतवादकी प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवादमें, जिसे बादके विरोधी आचार्योंने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्मकी एकता भक्तिके लिए उपयुक्त न थी क्योंकि भक्तिके लिए दो चीज़ोंकी उपस्थिति आवश्यक है, जीवकी और भगवानकी। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिणके आलवार भक्त इस बातको मानते थे। इसी लिए बारहवीं शताब्दीमें जब भागवत धर्मने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावादका किया गया। चार प्रबल सम्प्रदाय अद्वैतवादके विरोधमें आविर्भूत हुए जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधनाके रूपको बदल देनेमें समर्थ हुए। ये चार सम्प्रदाय हैं—रामानुजाचार्यका श्री सम्प्रदाय, मध्वाचार्यका ब्राह्म सम्प्रदाय, विष्णुस्वामीका रुद्र सम्प्रदाय और निम्बार्काचार्य (निम्बादित्य) का सनकादि सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदायोंके दार्शनिक मतमें भेद है परन्तु एक बातमें वे सब सहमत हैं। वह बात मायावादका विरोध है। दूसरी बात जो इन सबमें एक है वह भगवान्‌का अवतार धारण करना है। जीवात्मा सबके मतसे

भिन्न भिन्न है। वह अद्वैतवादियोंकी धारणाके अनुसार, भगवान्‌में लीन कभी नहीं होता। इन सम्प्रदायोंका हिन्दीके भक्ति-कालके साहित्यके साथ सीधा सम्बन्ध है।

१. श्री सम्प्रदायके प्रवर्तक रामानुजाचार्य शेषनागके अवतार समझे जाते हैं। जैसा कि पहले ही बताया गया है, वे आलवार भक्तोंकी शिष्य-परम्परामें पड़ते हैं। इनकी शिक्षा दीक्षा काञ्चीमें हुई थी। (लक्ष्मीने इन्हें जिस मतका उपदेश दिया था, उसीके आधारपर इन्होंने अपने सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की थी, इसी लिए इस सम्प्रदायको श्री सम्प्रदाय कहते हैं।) रामानुजाचार्य मर्यादाके बड़े पक्षपाती थे इनके सम्प्रदायमें खान-पान, आचार-विचार अदिपर बड़ा जोर दिया जाता है। इन्हींकी चौथी या पाँचवी शिष्य-परम्परामें सुप्रसिद्ध स्वामी रामनंद हुए।

रामानंदके गुरुका नाम राघवानंद था। किसी अनुशासनसंबंधी विषयपर गुरुसे मत-भेद हो जानेके कारण इन्होंने मठ त्याग दिया और उत्तर भारतकी ओर चले आये। मठ मामूली सम्पद्‌शाली नहीं था। इतनी बड़ी सम्पत्तिको जो सहज ही त्याग सकता था उस आदमीकी स्वतंत्र चिन्ता-शक्तिका अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। सच पूछा जाय तो मध्ययुगकी समग्र स्वाधीन चिन्ताके गुरु रामानंद ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड़ देशमें उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तर भारतमें रामानंद ले आये और कबीरदासने उसे सप्तद्वीप और नवखण्डमें प्रकट कर दिया[1]। सन् १८५७की लिखी हुई रामानुज हरिवरदासकी हरिभक्ति-प्रकाशिका (भक्तमालकी टीका) से जाना जाता है (पृ०८१,८२) "रामानंदने देखा कि भगवान्‌के शरणागत होकर जो भक्तिके पथमें आ गया उसके लिए वर्णाश्रमका बंधन व्यर्थ है, इसी लिए भगवद्‌भक्तको खान-पानकी झंझटमें नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियोंके नामपर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियोंके भी पूजित परमेश्वरके नामपर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई भाई हैं, सभी एक जातिके हैं। श्रेष्ठता भक्तिसे होती है, जन्मसे नहीं[2]।" रामानंद

---

१ भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट किया कबीरने, सप्त दीप नव खंड।

२ श्री क्षितिमोहन सेन कृत 'भारतीय मध्ययुगेर साधना' से उद्धृत।

संस्कृतके पंडित, उच्च ब्राह्मणकुलोत्पन्न और एक प्रभावशाली सम्प्रदायके भावी गुरु थे, पर उन्होंने सबको त्याग दिया—देशभाषामें कविता लिखी, ब्राह्मणसे चाण्डाल तकको राम-नामका उपदेश दिया। उनके हाथसे छूकर लोहा सोना हो गया। रामानंदके बारह प्रधान शिष्य हैं जिनमेंसे कई नीच कही जानेवाली जातियोंमें उत्पन्न हुए थे। बारह शिष्य ये हैं—

रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना (नाई), पीपा(राजपूत) भवानंद, सुखानंद, आशानंद, सुरसुरानंद, परमानंद, महानंद, श्रीआनंद। कहते हैं आनंद नामधारी शिष्य पहले रामानुज सम्प्रदायके थे, बादमें उन्होंने रामानंदका साथ दिया।

रामानंदके इन शिष्योंमेंसे कई प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। इनमें रविदास या रैदास और कबीरदास बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। कई भक्तोंके भक्तोंने इनके नामपर अलग सम्प्रदायोंका प्रवर्तन किया जिनमें कबीरपंथी, खाकी, मलूकदासी, रैदासी, और सेना-पंथी बहुत प्रसिद्ध हैं। रामानंद स्वयं खान-पानके प्रश्नपर ही अपने मूल सम्प्रदायसे विच्युत हुए थे अतएव वे अपने शिष्योंके उस प्रकारके आचार विचारपर जोर नहीं दिलवाते थे। इसी लिए बादके भक्तोंमें जाति पाँतिका प्रश्न ही जाता रहा। रामानंदने स्वयं रामचंद्रके अवतार और चरित्रको ही लोक और कालके उपयोगी बताया था। उपासनाके क्षेत्रमें ही वे जाति-पाँतिके बंधन-को अस्वीकार करते थे पर अपने किसी भी व्यक्तिगत मतको उन्होंने शिष्योंपर लाद नहीं दिया। उनके मतसे गुरुको आकाशधर्मा होना चाहिए जो पौधेको बढ़नेके लिये उन्मुक्तता दे, न कि शिलाधर्मी जो कि पौधेको अपने गुरुत्वसे दबाकर उसका विकास ही रोक दे। जो विद्वान् रामानंद-दिग्विजय आदि बादके बने ग्रंथोंके आधारपर रामानंदकी इस महिमाको अस्वीकार करते हैं वे भूल जाते हैं कि सम्प्रदाय प्रतिष्ठा करनेवाले शिष्य सदा लोकके साथ समझौता करके अपने गुरुके महत्त्वको कम किया करते हैं।

—कबीरदासमें रामानंदके मंत्र-बीजने सबसे अधिक प्रसार पाया। कबीर एक ही साथ तीन बड़ी बड़ी धाराओंको आत्मसात् कर सके थे लेकिन इससे उनके रामानंदके शिष्य होनेमें कोई बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धारायें इस प्रकार हैं—(१)उत्तर-पूर्वके नाथ-पंथ और सहजयानका मिश्रित रूप, (२) पश्चिमका सूफी

मतवाद और (३) दक्षिणका वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म । कबीरके दोहे, पद, यहाँ तक कि उलटबाँसियाँ भी, नाथ-पंथ और सहज-यानके साधकोंके ढंगपर हैं । कहीं कहीं तो हू-ब-हू वही बात रख दी गई है । दूसरी धाराका क्षीण प्रभाव उनकी प्रेम-मूलक रूपक-रचनाओंपर है पर अन्तिम धारा ही वास्तवमें कबीरको सदा परिचालित करती रही । साम्प्रदायिक शास्त्र-ज्ञानको अधिक महत्त्व देनेवाले पण्डितोंको कभी कभी कबीरकी उक्तियोंमें उजड्डपन और ऊटपटाँग बातोंका आभास मिल जाना असंभव नहीं है-पर अगर वे धीर भावसे विचार करते तो उन्हें मालूम होता कि उस युगके अर्थ-हीन जात-पाँतके ढकोसलोंपर कड़ासे कड़ा आघात करना लोक-पक्षका अमंगल नहीं था । आज भी वह अर्थहीन जंजाल वर्तमान है और आजका महापुरुष भी,—चाहे वह कोई हो,—इसपर आघात करनेको बाध्य है । लोक-पक्ष, उपासना-पक्ष और शास्त्र-पक्षकी कल्पनासे हम ग्रंथगत मतोंका विचार कर सकते हैं, पर वास्तविक समस्याका समाधान उससे नहीं हो सकता ।

रैदास कबीरसे अवस्थामें बड़े थे और बहुत निरीह भक्त थे । जीवनकी बहुविध कठिनाइयोंको झेल चुके थे । एक बार ब्रह्म-ज्ञानके विषयमें कबीरसे जब पूछा गया तो, कहते हैं, उन्होंने बताया कि ' मैं बच्चा था, माँकी गोदीमें चढ़ कर रास्ता पार कर आया हूँ, रैदाससे पूछो, वे बड़े थे और माँने उनके सिरपर कुछ है [illegible] दिया था । वे ही रास्तेका मर्म बता सकते हैं ।' प्रसिद्ध है कि [illegible] इने रैदाससे दीक्षा ग्रहण की थी ।

कबीरके पुत्रका नाम कमाल था । कबीरकी मृत्युके बाद इनसे सम्प्रदाय स्थापित करनेको कहा गया पर ये राजी न हुए । कहते हैं; इसीलिए शिष्योंने चिढ़कर इन्हें ' कबीरका वंश डुबा देनेवाला ' कहा । लेकिन कमाल अपने मतपर दृढ़ रहे और अन्त तक कहते रहे कि जिसने अपनी सारी जिन्दगी सम्प्रदाय-स्थापनाके विरुद्ध युद्ध करनेमें लगाई, मैं उसीके नामपर सम्प्रदाय-स्थापनाका समर्थन नहीं कर सकता । पर अन्तमें, सम्प्रदायकी स्थापना होकर ही रही । सुरतगोपालने काशीमें और धरमदासने मध्यप्रान्तमें कबीरका सम्प्रदाय स्थापित किया ।

कमालके शिष्य दादू थे । दादूको कुछ लोग मोची, कुछ लोग धुनिया और कुछ लोग सारस्वत ब्राह्मण बताते हैं । पं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और प्रो०

क्षितिमोहन सेनकी आधुनिक खोजोंसे जाना गया है कि ये जन्मसे मुसलमान थे। प्रो० सेनको बङ्गालके बाउलोंमें दादूका उल्लेख मिला है। उसमें स्पष्ट बताया गया है कि गुरु दादूका नाम दाऊद था। जो कुछ भी हो, दादूकी कवित्व-शक्ति और अनुभव आश्चर्यजनक थे। इस सम्प्रदायके अन्यान्य भक्तोंकी भाँति ये भी संम्प्रदाय-गत शास्त्रीय-संस्कारोंसे मुक्त थे इसीलिए सब जगहसे अकातर भावसे सत्य ग्रहण कर सकते थे। इनके ग्रंथोंकी भाषा राजस्थानी-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। दादूके अनेक शिष्य हो गये हैं जिनमें कई अच्छे कवि हो गये हैं। सुन्दरदास, रज्जब, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदिने कविता लिखी है। इनमें साहित्यिक उल्लेखके योग्य दो हैं—सुन्दरदास और रज्जब। सुन्दरदास बहुत छोटी उमरमें दादूके शिष्य हो गये थे और उन्होंने वर्षोतक काशीमें रहकर शास्त्राभ्यास किया था। इसका फल यह हुआ कि इनकी कवितामें पाण्डित्यकी मात्रा अधिक है। सन्तोंमें अगर किसीने छत्रबन्ध, मुरजबन्ध आदि बाह्य आलंकारिताको आश्रय दिया तो वे यही हैं। लेकिन रज्जब बहुत पढ़े-लिखे आदमी नहीं थे। वे बड़े सरस ढङ्गसे तत्त्वकी बात कहा करते थे। दादूके शिष्योंमें रज्जब शायद सबसे अधिक चिन्ताशील और भावुक थे। दादूकी शिष्य-परम्परामें जगजीवनदास हुए जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया। निर्गुण भक्तोंकी परम्परामें मलूकदासका नाम है। कहते हैं इनकी कविताकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक सुव्यवस्थित है। और भी कई प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दीमें अपनी अमर वाणियाँ को [illegible] हैं। इनमें तुलसी साहब, गोविन्द साहब, भीखा साहब, पल्टू साहब आदि मुख्य हैं।

रामानन्दी भक्तोंकी एक दूसरी श्रेणीमें महाकवि गोसाईं तुलसीदासजी हुए। इन्होंने रामको अवतार रूपमें ग्रहण किया। इन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंमें रामकी सगुण उपासनापर जोर दिया और बहुत दिनोंके लिए सारे भारतवर्षको राम-भक्तिकी पवित्र धारामें स्नान करा दिया। बुद्धदेवके बाद उत्तर भारतके धार्मिक राज्यपर इस प्रकार एकच्छत्र अधिकार किसीका न हुआ। उन दिनों हिन्दीमें साहित्य या लोक-गीतके जितने रूप प्रचलित थे तुलसीदासने सबको अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभाके बलपर अपना लिया। दोहे, सवैये, कवित्त, पद, सोहर, भजन आदि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं था जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिभाका चमत्कार न दिखाया हो उनकी रामायण उत्तर भारतकी बाइबिल कही जाती है।

हमें ठीक नहीं मालूम कि ऐसा कहनेसे 'रामचरित-मानस' का वास्तविक महत्त्व समझा जा सकता है या नहीं, लेकिन इस बातके कहनेमें किसीको संकोच नहीं होगा कि उत्तर भारतमें दूसरी पुस्तक इतनी लोकप्रिय नहीं है। कविके रूपमें तुलसीदास हिन्दी साहित्यमें अद्वितीय हैं। आज साहित्यमें मनोविज्ञानका युग चल रहा है पर आज भी तुलसीदासके समान मनोविकारोंका चित्रण करनेवाला कवि हिन्दीमें नहीं है। प्रबंध-काव्यमें तुलसीदास उस स्थानपर पहुँच चुके थे जहाँसे आगे जाना संभव नहीं। लोक-चित्तका इतना विस्तृत और यथार्थ-ज्ञान रखनेवाला कवि अगर लोकमतपर शासन न करता तो आश्चर्यकी बात थी, शासन करना स्वाभाविक है।

तुलसीदास राम-भक्तिके उपासक थे। लोकमें वर्णाश्रम व्यवस्थाके वे पक्के समर्थक थे पर उपासनाके क्षेत्रमें जात-पाँतकी मर्यादाको व्यर्थ समझते थे। दार्शनिक मत उनका शंकराचार्यसे मिलता जुलता था, यद्यपि मोक्षकी अपेक्षा वे भक्तिको ही अधिक काम्य समझते थे। मरनेके बाद मोक्ष मिलनेसे युगयुगान्तर तक भक्ति पाना उनकी दृष्टिमें ज्यादा अच्छा था। तुलसीदासमें अपनेको पतित समझ कर भगवान्को सर्वात्मना समर्पण कर देनेकी भावना मध्ययुगके तमाम भक्तोंकी अपेक्षा अधिक है। यूरोपियन पंडितोंका अनुमान है कि यह बात ईसाई धर्मका अप्रत्यक्ष प्रभाव है। लेकिन हम अन्यत्र दिखा चुके हैं कि यह अनुमान गलत है। भागवत धर्ममें ही यह भाव मूल रूपसे वर्तमान था।

वल्लभाचार्यकी शिष्य-परंपरामें एक और उल्लेखयोग्य भक्त हो गये हैं। ये हैं अग्रदासजीके शिष्य नाभादासजी। कुछ लोगोंके मतसे ये भी नीच समझी जानेवाली जातियोंसे आये थे। इनका 'भक्तमाल' और इसपर इनके शिष्य प्रियादासजीकी टीका भक्तोंका हिय-हार रही है। तुलसीदासजीकी रामायणके बाद भक्तमाल ही मध्ययुगकी सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ति-पुस्तक थी। इसका अनुवाद बंगला और मराठीमें भी हुआ। बंगला अनुवादके लेखक श्री लाल-दासने (किसी किसीके मतसे इनका नाम कृष्णदास था) नाभादासके लगभग सवा सौ वर्ष बाद इस सटीक ग्रंथके अनुवादको लिखा परन्तु चैतन्यदेवके मतानुयायी होनेके कारण अपने सिद्धान्तोंके समर्थनके लिए उन्होंने एक नया विभाग और जोड़ा। नाभादासजीके भक्तमालमें बहुत-से भक्तोंके जीवनवृत्त संकलित हुए हैं। इसमें नानक, दादू आदि भक्तोंका नाम नहीं आया है। बादमें इस ग्रंथके

अनुकरणपर और भी बहुतसे भक्तमाल लिखे गये।

२ ब्राह्म सम्प्रदाय—ब्राह्म सम्प्रदायके प्रवर्तक मध्वाचार्य पहले शैव थे, बादमें वैष्णव हो गये। इस सम्प्रदायसे हिन्दी साहित्यका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। चैतन्यदेव इसी सम्प्रदायमें पहले दीक्षित हुए थे यद्यपि बादमें प्रवर्तित उनका गौडीय वैष्णवमतवाद रुद्रसम्प्रदायान्तर्गत वल्लभाचार्यके मतसे अधिक साम्य रखता है। चैतन्यदेवकी शिष्य-परम्परामें अनेक वैष्णव कवि बंगला और हिन्दीमें मधुर पदावलीकी रचना कर गये हैं। अभी तक इस दिशामें हिन्दीमें विशेष कार्य नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्यमें चैतन्य देवके एकमात्र दीक्षा-प्राप्त शिष्य गोपाल भट्टका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ हिन्दी साहित्यके इतिहास-लेखकोंने गोपाल भट्टको चैतन्यदेवका गुरु लिखा है! चैतन्य-चरितामृत आदि ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि श्री गोपाल भट्ट एकमात्र ऐसे महात्मा थे जिन्हें चैतन्यदेवने दीक्षा दी थी। चैतन्य सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध भक्त जीवगोस्वामीके साथ हिन्दीकी अमर भक्त-कवि मीराबाईका सम्बन्ध है। मीराबाईने पहले जीवगोस्वामीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। बादमें मीराबाईने, कहते हैं, रैदाससे भी दीक्षा ग्रहण की थी।

३ रुद्र सम्प्रदाय—विष्णुस्वामीप्रवर्तित रुद्र-सम्प्रदाय असलमें वल्लभाचार्यके प्रवर्तित संप्रदायके रूपमें ही जीवित है। दो-एक अन्य शाखायें भी इसकी बताई जाती हैं पर वास्तवमें उनका कोई महत्त्व नहीं है। वल्लभाचार्यके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ बादमें आचार्य पदके अधिकारी हुए थे। इन दोनों पिता-पुत्रके चार चार शिष्य हिन्दी साहित्यके आदि युगके उन्नायक हैं। गोसाईं विट्ठलनाथने इन आठको लेकर अष्ट-छापकी प्रतिष्ठा की थी। इन आठ शिष्योंके नाम इस प्रकार हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें सूरदास और नन्ददास बहुत अच्छे कवि हो गये हैं।

सूरदासका हिन्दीमें बहुत ऊँचा स्थान है। उनका सूरसागर प्रेमका अद्वितीय काव्य है। इस बातको स्वीकार करनेमें कड़ेसे कड़े समालोचकको भी कोई संकोच नहीं होगा कि इस ग्रंथमें हिन्दी, प्राकृत और संस्कृतके उद्भटकाव्यका कोई भी उक्ति-चमत्कार, अलंकारच्छटा और काव्य-सौन्दर्य आनेसे नहीं रहा। भाषा ऐसी सरस और मार्जित है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि व्रजभाषाका यह पहला ग्रंथ है। पं० रामचंद्र शुक्लको 'सूरसागर किसी चली आती

हुई गीत काव्य-परंपराका,—भले ही वह मौखिक हो,—विकास' प्रतीत होता है। कहते हैं सूरदास उद्धवके अवतार थे और सख्य भावसे भगवान्का भजन करते थे। सूरदासके समीक्षकोंका दावा है कि संसारका कोई दूसरा कवि बाल्य-स्वभावका इतना सुन्दर चित्रण नहीं कर सका जितना सुन्दर सूरदासके हाथों हुआ है। और इस विषयमें दो मत नहीं हो सकते कि बाल-स्वभाव, मातृ-प्रेम तथा संयोग और विप्रलंभ शृंगारमें सूरदास अतुलनीय हैं। मनोविकारोंका ऐसा सरस चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। उनका भ्रमर-गीत विरहका उमड़ता हुआ महासमुद्र है। इसमें बड़ी सरसता और मार्मिकताके साथ कविने वैराग्य-वाद, ज्ञान- गरिमा और योग तथा निर्गुणवादका प्रत्याख्यान कराया है।

अष्ट-छापके अन्य कवियोंमें सूरके बाद नंददास ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके ग्रंथोंमें वल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंका शास्त्रीय ढंगसे प्रतिपादन किया गया है। अन्य अष्ट-छापियोंमें कवित्वकी अपेक्षा महात्मापन अधिक है। सब लीला-मानको प्रधानता देते हैं। और जैसा कि वल्लभाचार्यने बताया है कि 'लीलाका कोई और प्रयोजन नहीं है, स्वयं लीला ही प्रयोजन है*,' इन भक्त कवियोंके लीला-गानका भी कोई अन्य प्रयोजन नहीं हैं, स्वयं लीला-गान ही प्रयोजन है।

गोसाई विट्ठलनाथके सुपुत्र गोसाईं गोकुलनाथजीने 'दोसौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' नामक गद्य-ग्रंथ लिखे। गोरखनाथजीके दोसौ वर्ष बाद यही गद्य-ग्रंथ उपलब्ध होता है। इन दोनों ग्रंथोंमें मध्ययुगके अनेक वैष्णव भक्तोंकी कहानी लुप्त होनेसे बच गई है। इस शृंखलामें कुछ दूर जाकर पीयूषवर्षी कवि रसखान हुए जो अपनी सरस रचनाके कारण साहित्यमें और तन्मय उपासनाके कारण भक्तोंकी दुनियामें अमर हो गये हैं। रसखानकी कहानीमें बताया है कि वे पहले अनुचित प्रेमके शिकार थे, बादमें किसी भक्तने उन्हें भगवत्-प्रेमका रसिक बना दिया। ऐसी कहानी, किसी न किसी रूपमें मध्ययुगके अनेक भक्तोंके बारेमें कही जाती है। इस प्रकारकी कहानियाँ शायद उस युगमें भक्तोंकी प्रेम-मूलक साधनाकी ठीक ठीक व्याख्या हैं। किस प्रकार एक ही मनोविकार लोकमें एक रूप धारण करता है और भगवद्विषयक होकर एकदम विपरीत दूसरा रूप धारण करता है, यह बात मध्ययुगके भक्तोंमें बहुत स्पष्ट दृष्ट होती है।

---

* नहि लीलायाः किंचित् प्रयोजनमस्ति लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।

४ सनकादि सम्प्रदाय—निम्बार्काचार्यका यह सम्प्रदाय अब उतना अधिक प्रचलित नहीं है। उत्तर भारतमें अब भी यत्र तत्र इस संप्रदायके भक्त पाये जाते हैं। इस सम्प्रदायका एक नाम मात्रका शाखा-सम्प्रदाय राधा-वल्लभ है जिसे हिन्दीके प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंशने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदायमें राधिकाके मार्फत ही भक्त अपनेको भगवान्‌के पास निवेदित करता है। एक उपसम्प्रदाय सखी-भाववालोंका है जो इसी सम्प्रदायका अंग समझा जाता है। राधावल्लभी सम्प्रदायके प्रवर्तक हितजी ऊँचे दर्जेके कवि और महात्मा थे। ये संस्कृतके भी उत्तम कवि थे। 'राधा-सुधानिधि' नामका संस्कृत काव्य-ग्रंथ इन्हींका लिखा बताया जाता है। चैतन्य-सम्प्रदायवालोंका दावा है कि उक्त ग्रंथ किसी गौड़ीय गोस्वामीका लिखा हुआ है। उक्त ग्रंथके दोनों दावेदार पक्षोंमें इस बातके लिए काफी चख चख हो चुकी है। जो हो, इस विषयमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी हितहरिवंश हिन्दी और संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे और शास्त्रज्ञानमें दक्ष थे।

५ गुरु नानक और भक्तगण—दक्षिणके चार वैष्णव सम्प्रदाय किसी न किसी रूपमें समग्र भक्ति आन्दोलनके साथ जिस प्रकार जड़ित हैं, उसकी चर्चा की गई। गुरु नानकके प्रवर्तित सिख सम्प्रदायका, इन वैष्णव सम्प्रदायोंसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। कुछ विद्वानोंकी रायमें गुरु नानकने कबीर साहबसे ज्ञान और भक्तिकी उत्तेजना पाई थी। परन्तु ऐसे भी लोग हैं जो इस बातको स्वीकार करनेमें आपत्ति करते हैं। असलमें नानक और कबीरमें साधना-गत साम्य था, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। गुरु रामानन्दके पद भी उक्त ग्रन्थमें संगृहीत हैं। इससे गुरु नानकका रामानन्दी निर्गुण धाराके साथ योग होना असम्भव नहीं है। नानक देवने जो कुछ कहा है वह उसी जातिकी चीज है जो कबीर दादू आदि निर्गुणोपासक भक्तोंने कही है। लेकिन फिर भी दीक्षा-गत संबंध न होनेके कारण उसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं कह सकते। गुरु-ग्रंथ-साहबमें 'नानक' के नामसे बहुतसे पद हैं, पर, विद्वानोंकी राय है कि वे सभी गुरु नानकके लिखे नहीं हैं। बादके गुरुओंने भी 'नानक' नाम देकर ही पद लिखे हैं। नानकने, गई कहते हैं कि, हिन्दीमें बहुत कम पद लिखे थे, जो कुछ हैं भी, उनमें पंजाबी भाषा मिश्रण बहुत है। कहते हैं, नानकने सैयद हुसेन नामक किसी मुसलमान साधकसे भी दीक्षा ग्रहण की थी लेकिन इस बातका अभी तक कोई पक्का आती

सबूत नहीं मिला है। बगदादके नानक स्थानमें कहा जाता है कि, उनकी अरबीमें रचित वाणियोंका एक संग्रह है। नानकके बादमें नौ उत्तरोत्तर शिष्य हुए जिनमें अनेक कवि थे। अन्तिम गुरु गोविन्दसिंहकी कवितामें वीर-भावकी प्रधानता है।

गुरु नानकने अपने ग्रंथमें नामदेवजीकी भी वाणी संग्रह की है। नामदेवजीका जन्म (१२६३ ई०) महाराष्ट्रके दरजी-वंशमें हुआ था। रामानंदकी तरह भक्तिको ये भी दक्षिणसे उत्तर भारतमें ले आये थे। कुछ लोगोंकी धारणा है कि रुद्र सम्प्रदायके प्रवर्तक विष्णुस्वामी नामदेवके शिष्य थे। कहते हैं विष्णुस्वामी, बोहरदास, जल्लो, लड्डा प्रभृति शिष्योंने उनका समाधि-मंदिर तैयार कराया था। पर इस बातका कोई पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिल सका है कि रुद्रसम्प्रदायवाले विष्णुस्वामी और ये विष्णुस्वामी एक ही थे।

६ सूफी साधनाका आविर्भाव—मुसलमानी सत्ताके साथ ही साथ इस देशमें सूफी साधकोंका आगमन भी होने लगा था। मुसलमानी धर्मकी विशेषता उसका एकेश्वरवाद है। यह समझना गलत है कि एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद एक ही चीज़ है। एकेश्वरवादमें अनेक देवताओंके स्थानपर एक बड़े देवताकी सत्ता स्वीकार की जाती है। असलमें हिन्दुओंके बहुदेव-वादके मूलमें एक अखण्ड व्यापक भगवान्‌की सत्ता ही है। ब्रह्मा विष्णु शिव आदि देवता उसी भगवान्‌के गुणावतार हैं, यह बात हम आगे चल कर देखेंगे। जो कुछ भी हो, जहाँ तक हिन्दू जनताका संबंध था वहाँ तक यह एकेश्वर-वाद उनके लिए एक अपरिचित-सी वस्तु थी। फिर भी मुसलमानोंका एक गिरोह इस मतसे सन्तुष्ट नहीं था। सूफी यही लोग थे। वे भगवान्‌को एकेश्वर रूपमें नहीं बल्कि विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियोंकी तरह मानते थे। यह बात मुसलमानी शास्त्रके अनुकूल नहीं थी। ऐसा विश्वास भी किया जाता है कि सूफियोंके मतवादमें वेदान्तका प्रत्यक्ष प्रभाव था। जो हो, मुसलमानोंमें जो लोग अत्यधिक शास्त्राचारपरायण थे वे इन्हें 'बे-शरा' या शास्त्रबहिर्भूत मानते थे। इतिहासमें इनके ऊपर किये गये तरह तरहके अत्याचारोंकी कहानियाँ भी मिलती हैं। सूफियोंमें एक दल ऐसा भी था जो शास्त्रके साथ समंजस्य रखकर उपासना करता था। इन लोगोंको 'बा-शरा' या शास्त्र-सम्मत कहा गया है। (श्री क्षितिमोहनसेनकी 'मध्ययुगेर साधना देखिए।)

शुरू शुरूमें ये साधक पंजाब और सिन्धमें आकर बस गये और धीरे धीरे इनकी परम्परा सारे भारतवर्षमें फैल गई। उन दिनों भारतीय चिन्ताकी

परिणति भक्ति-आन्दोलनके रूपमें हो चुकी थी। समूचा देश इस सिरेसे उस सिरेतक भक्तिकी रस-माधुरीमें सुस्नात हो रहा था। सूफियोंकी साधना अनेकांशमें इन सन्तोंके अनुकूल थी। ये साधक अन्यान्य मुसलमानोंके समान कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसीलिए भारतीय जनताने विश्वासपूर्वक इनकी साधनाके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। मुईन उद्दीन (११४२ ई०), कतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (१२०० ई० ?), शेख चिश्ती (१२९१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीम चिश्ती (१५१२), मुबारक नागोरी (१५०१ ?) आदि सूफी साधकोंने समान भावसे हिन्दू और मुसलमान दोनोंका आदर और विश्वास प्राप्त किया था। बहुतोंकी समाधिपर आज भी हजारोंकी संख्यामें श्रद्धालु हिन्दू और मुसलमान जनता अपनी भक्ति निवेदन करने प्रतिवर्ष जाती है। यह बात कुछ विरोधाभास-सी लगती है कि उन दिनों जब कि हिन्दुओं और मुसलमानोंकी लड़ाइयाँ आम बात थी, किस प्रकार ऐसा मिलन सम्भव हो सका ? मध्ययुग बहुत कुछ करामातोंका युग था। उस युगके प्रत्येक साधु-सन्तके नामपर दो-चार करामाती किस्से मिल ही जाते हैं। इन करामातों और उनकी ख्यातिसे लोग परस्पर एक दूसरेकी ओर आकृष्ट होते थे। दोनों ज्यों ज्यों निकट आते गये त्यों त्यों अधिकाधिक अनुभव करते गये कि दोनोंमें तात्त्विक मत-भेद बहुत कम है। कबीर आदि सन्तोंने इस बातपर बहुत जोर दिया। इन्होंने हिंदुत्व और मुसलमानत्वके बाह्य उपकरणको हटाकर उनका असली रहस्य पहचाननेकी चेष्टा की। मुसलमानोंकी ओरसे यह काम प्रेम-कहानियाँ लिखकर सूफी सन्तोंने किया। पं० रामचन्द्र शुक्लने कबीर आदि झाड़-फटकारके द्वारा 'चिढ़ानेवाले' सिद्ध हुए सन्तोंके साथ उनकी तुलना करते हुए कहा है कि कबीर आदिका प्रयत्न 'हृदय स्पर्श करनेवाला' नहीं हुआ। "मनुष्य-मनुष्यके बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्यके जीवनमें जिस हृदय-साम्यका अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेमकहानीके कवियोंने प्रेमका शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओंको सामने रखा जिनका मनुष्यमात्रके हृदयपर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान-हृदयको आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालोंमें इन्हींका नाम लेना पड़ेगा।" इन साधकोंने हिन्दीमें एक विशेष प्रकारके साहित्यको लुप्त होनेसे बचा लिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओंके भीतर इस युगमें जो विराट् जन-आन्दोलन भक्तिवादके रूपमें बद्धमूल हो चला था वह प्राचीन धर्मका आश्रय लेकर ही चला था। परन्तु शास्त्रगत सूक्ष्म विचारों और पाण्डित्य-प्रवण चिन्ताओंका प्रभाव उसपर बहुत कम था। इस युगके साहित्यने ऐसी बहुत-सी बातोंको त्याग दिया था जिनके अभावमें दोनोंके भीतर एक बड़ा भारी व्यवधान दिखाई देता है। इस व्यवधानके कारण दो थे। प्रथम तो यह जनआन्दोलनकी अभिव्यक्तिका साहित्य है, इसलिए इसमें उन रूढ़ियों और परस्पराओंकी चर्चा नहीं मिलती जो शास्त्रीयतासे पुष्ट साहित्यमें साधारणतः मिल जाया करती है। दूसरे जिस प्राचीन साहित्यके साथ इसकी तुलना की जाती है उसके बननेसे लेकर इस साहित्यके बननेके कालके बीच जो प्रायः आधी सहस्राब्दीका व्यवधान पड़ता है, उस व्यवधान-युगके विचारोंके विकासके अध्ययनकी चेष्टा नहीं की जाती। यदि इस व्यवधानकालिक साहित्यके उस अंशको देखें जिसका सम्बन्ध पण्डित जनोंसे नहीं बल्कि जन-साधारणसे था तो कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि यह साहित्य इस व्यवधान कालिक जनसाहित्यका ही क्रमविकास है। कबीर दासके निर्गुण भजन, सूरदासके लीला-गान और तुलसीदासका रामचरितमानस अपनी अन्तर्निहित शक्तिके कारण अत्यधिक प्रचलित हो गये और हिन्दू जनताका संपूर्ण ध्यान अपनी ओर खींचनेमें समर्थ हुए। परन्तु जन-साधारणका एक और विभाग, जिसमें धर्मका स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्यके पश्चिमी आकारसे सीधे चला आ रहा था, जो गाँवोंकी बैठकोंमें कथानक रूपसे और गान रूपसे चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकोंने पौराणिक आख्यानोंके बदले इन लोकप्रचलित कथानकोंका आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।

इन कहानियोंकी परम्परा कुतुबन शेखसे आरम्भ होती है जो सोलहवीं शताब्दीके आरम्भमें उत्पन्न हुए थे। इन्होंने मृगावती नामक काव्य दोहों और चौपाइयोंमें लिखा। फिर मलिक मुहम्मद जायसी हुए जिन्होंने अपना प्रख्यात काव्य पद्मावत लिखा। फिर उसमानने चित्रावली (१६१३ ई०), शेख नबीने ज्ञानप्रदीप (१६२० ई० !), कासिमशाहने हंस-जवाहर (१७३१ ई०), नूर मोहम्मदने इन्द्रावती (१६४४) और फाजिलशाहने प्रेम-रतन (१६४८) नामक काव्य लिखा। सूफी कवियोंकी लिखी हुई इन प्रेम-कहानियोंमें बहुत कुछ

साम्य है। ये सभी बा-शरा या शास्त्र-सम्मत श्रेणीके थे। सबमें ईश्वर-वंदना, मुहम्मद साहबकी स्तुति आदि बातें समान रूपसे पाई जाती हैं। सबकी भाषा अवधी है, सबमें फारसी प्रेम-गाथाओंकी भाँति पुरुषकी आसक्ति पहले दिखाई जाती है और सबसे बड़ी बात यह कि सबमें प्रस्तुत कथाके साथ ही साथ प्रस्तुत परोक्ष सत्ताकी ओर इशारा किया गया है। लेकिन इससे कथाकी रोचकतामें कहीं कमी नहीं आई है।

निर्गुण भावके शास्त्र-निरपेक्ष साधकोंकी भाँति इन कवियोंमें भी अधिकतर शास्त्र-ज्ञान-विरहित थे पर निस्सन्देह पहुँचे हुए प्रेमी थे। इन्होंने प्रेमके जिस ऐकान्तिक रूपका चित्रण किया है वह भारतीय साहित्यमें नई चीज है। प्रेमकी इस पीरके सामने ये लोकाचारकी कुछ परवा नहीं करते। भारतीय काव्य-साधनामें प्रेमकी ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी। विरहका वर्णन करनेमें ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा कथाके लिए नहीं कहते, इनका लक्ष्य सदा भगवत्प्राप्ति रहती है। इसी लिए, भगवान्के विरहमें जीवात्माकी तड़पनका ये बड़ी सजीवताके साथ वर्णन करते हैं। (इन कवियोंमें सर्वश्रेष्ठ पद्मावतकार मलिक मुहम्मद जायसी हैं जिनके काव्य-सौन्दर्यको चमत्कारिक रूपसे उद्घाटन करनेका श्रेय हिन्दीके प्रसिद्ध अलोचक पं० रामचन्द्र शुक्लको है।) पद्मावतकी प्रस्तावनामें आपने जैसी काव्य-मर्मज्ञता दिखाई है वैसी हिन्दी तो क्या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओंमें भी कम ही मिलेगी। यह प्रस्तावना अपने आपमें एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यक कृति है।

कुछ लोगोंको भ्रम है कि पद्मावत आदिमें दोहे और चौपाइयोंमें प्रबंध-काव्य लिखनेकी जो प्रथा है वह सूफी कवियोंका अपना आविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमजन्य है। सहजयानके सिद्धोंमेंसे सरहपाद और कृष्णाचार्यके ग्रंथमें दो दो चार

---

१ सरहपादकी रचनामेंसे चौपाई और दोहोंका एक उदाहरण नीचे दिया गया—

अइसें विसम सन्धि को पइसइ। जो जइ अत्थि णउ जाव न दीसइ॥
पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ। देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ॥
अमणागमण ण तेन बिखण्डिअ। तो वि णिलज्जइ भणइ हउ पण्डिअ॥
जीवंतह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसें बिमल मइ, सो एर धण्णा कोइ॥

चार चौपाइयों (अर्धालियों) के बाद दोहा लिखनेकी प्रथा पाई जाती है अपभ्रंश काव्योंमें दस दस बारह चौपाइयों अर्धालियोंके बाद घत्ता, उल्लाला आदि लिखकर प्रबंध लिखनेका नियम बहुत पुराना है। अपभ्रंश काव्योंमें ठीक उन्हें चौपाई नहीं कहते थे परन्तु हैं वे वही चीज़ जिसे तुलसीदासजीने और जायसी आदिने चौपाई कहा है। ये दो श्रेणियोंके पाये जाते हैं, पज्झटिका और अलिल्लह। इनमें अलिल्लह तो चौपाई ही है, अन्तर इतना ही है कि चौपाईके अन्तमें दो गुरु हो सकते हैं पर इसके अन्तमें लघु होने चाहिए। यह अन्तर भी व्यवहारमें शिथिल हो जाता है। दस-बारह पज्झटिका या अलिल्लह, जिसके बाद घत्ता या कव्व या उल्लाला होते हैं। इन छेदात्मक छन्दों अर्थात् घत्ता, उल्लाला आदिके बीचकी अलिल्लह आदि चौपाई जातीय छन्दोंकी पंक्तियोंको अपभ्रंश साहित्यमें कडवक कहते हैं[१]। इस प्रकार यह पद्धति अर्थात् कडवकके बाद छेदात्मक उल्लाला या कव्व छंद देकर धारावाहिक रूपसे प्रबन्ध काव्य लिखना सूफी कवियोंकी ईजाद नहीं है।

---

१ 'भविसयत्त कहा' नामक अपभ्रंश काव्यसे एक उल्लाला-छेदक कडवक उद्धृत किया गया। यह एकदम परवर्ती कथानकोंके दोहा-छेदक चौपाइयोंके समान ही है—

तासु पूराइउ कम्मु अणिट्ठु। जाइवि धणवइहियइ पइट्ठु॥
सा कमलसिरि तं जि अवलोयणु। चरियइं तं जि ताइं णवजोव्वणु॥
तं जि ताहिं चारित्तु सुणिम्मलु। तं बच्छल्लु वयणु पिय कोमलु॥
णवर पुव्वकम्महो परिणामिं। कमलुवि णउ सुहाइ तहो णामिं॥
जो चरु पिय पेसलइं चवंतउ। मुँह मुहेण तंबोलु खिवंतउ॥
अणुदिणु पिय वावार पसंसउ। तहु वट्ठणि आलावणि संसउ॥
जो परिहासइं केलि करंतउ। पणयसा[illegible] माणु सिहरंतउ॥
सो वट्टइ परचित्त सणेहउ। ता किं होइ ण होइ व जेहउ॥
घत्ता—तं पिक्खिवि मिल्लय मंदरसु, चलिउ पिम्मु परियत्तगुणि॥
रणरणउ वहंति महच्छिमइ, वहु वियप्प चिंतवइ मणि॥

५

योगमार्ग और सन्तमत

भारतीय साहित्यमें परमपद प्राप्त करनेके तीन मार्ग अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं। ये तीन मार्ग हैं—योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। हमारे आलोच्य साहित्यमें ये तीनों मार्ग अपने स्वाभाविक ढंगपर विशेष रूपसे विकसित हुए थे। इस जगह हम योग और ज्ञानमार्गके उस रूपकी थोड़ी चर्चा कर लें, जो उक्त साहित्यका प्रधान उपजीव्य है तो अच्छा हो। भक्ति मार्गको हम फिलहाल आगेके लिए छोड़ दे सकते हैं। पहले योगमार्गको ही लिया जाय। प्राचीन साहित्यमें 'योग' शब्द नाना अर्थोंमें प्रयुक्त पाया जाता है, पर इसका आध्यात्मिक अर्थ एकदम सामञ्जस्यहीन नहीं है। नाना प्रकारकी क्रियाओं, साधनाओं और चिन्ताओंके घात-प्रतिघातसे यह मार्ग सन् ईसवीकी द्वितीय सहस्राब्दीके आरंभमें जिस रूपमें आया था उसका सामान्य परिचय पा लेनेपर हम अपने आलोच्य साहित्यके अन्तरंगमें प्रवेश कर सकनेमें अधिक समर्थ होंगे। इस युगमें इस मार्गने हठयोग और तंत्राचारके रूपमें अपनेको अधिक प्रकाशित किया। इसलिए उनके सामान्य मतकी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने जब बौद्ध सहजयानके सिद्धाचार्योंके प्रति विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया तो जाना गया कि बहुतसे सिद्धगण और नाथ-पंथके आचार्यगण एक ही नामधारी हैं। इनमें कुछ नाम तो काल्पनिक जान पड़े पर कुछ नामोंके ऐतिहासिक होनेमें कोई सन्देह नहीं किया गया। आगे चल कर जब इस विषयकी और भी चर्चा हुई तो जान पड़ा कि केवल ये नाम सिद्धों और नाथ-पंथियोंमें ही समान नहीं हैं बल्कि नाथ-पंथियों, निरंजन-पंथियों, तांत्रिकों आदिमें भी समान रूपसे प्रचलित हैं। इस सूचीमें निर्गुण मतके सन्तोंका नाम भी लिया जा सकता है। इस प्रकार इस विषयका अध्ययन केवल

महत्त्वपूर्ण ही नहीं काफी मनोरंजक भी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश इस तरफ पंडितोंका जितना ध्यान आकृष्ट होना चाहिए था, उतना हुआ नहीं है। सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराजका कहना है कि "हठयोगियों अर्थात् मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथ-पंथियों, वज्रयानियों और सहजयानी बौद्धों, त्रिपुरा संप्रदायके तांत्रिकों, वीराचारियों, दत्तात्रेयके संप्रदायवालों, शैवों, परवर्ती सहजियों और नव-वैष्णवोंका नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातोंका रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूपसे विद्यमान् हैं। महायान बौद्धधर्म और तंत्रवादका संबंध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस संबंधमें सावधानतापूर्ण और गंभीर अध्ययनकी जरूरत है।" नाथ-पंथके आदि प्रवर्तक आदिनाथ या स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येंद्रनाथ इन्हींके शिष्य थे। मत्स्येंद्रनाथके कई शिष्य बहुत बड़े पंडित और सिद्ध हुए जिनके प्रभावसे यह मार्ग सारे भारतवर्षमें प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्योंमें सबसे प्रधान गोरक्षनाथ या गोरखनाथ थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथकी गवाहीपर म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीका कहना है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बादमें शैव हो गये थे। इसीलिए तिब्बतके लामा लोग गोरखनाथको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। गोरखनाथने ही योगमार्गके इस अभिनव रूपको प्रतिष्ठित कराया प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथने अपनेको गोरखनाथकी शिष्य-परंपरामें माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है—आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, गाहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इस प्रकार गोरखनाथ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीमें हुए होंगे। गोरखनाथके कई शिष्य बताये जाते हैं, जिनमें बालनाथ, हालीकपाव, मालीपाव आदि मुख्य थे। बंगालके राजा गोपीचंदकी माता मयनामती भी इनकी शिष्या थीं। हालीक-पाव या हाड़िपा हाड़ी नामक अन्त्यज जातिमें उत्पन्न हुए थे। पहले ये बौद्ध थे, बादमें नाथपंथी हो गये थे। इन्हींका एक और नाम जालंधरनाथ है। गोपीचन्द इन्हीं जालंधरनाथके शिष्य थे। राजा भरथरी या भर्तृहरि भी इन्हींके शिष्य थे।

इन योगियोंकी अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातोंकी सैकड़ों कहानियाँ देशके इस सिरेसे उस सिरेतक फैली हुई हैं। जान पड़ता है कि आगे चलकर इन योगियों और निर्गुणमतवादी सन्तोंमें लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी होड़ भी मची हुई थी। कबीरदास और गोरखनाथके करामाती दाँव-पेंचोंकी कहानी

काफी प्रसिद्ध है। बंगालके दिनाजपुर आदि जिलोंमें गोरक्षमतके अनुवर्ती कहे जानेवाले योगियोंमें 'धमाली' नामसे प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानोंका कैसे सम्बन्ध हुआ, यह बात अनुसंधान-योग्य है। इस प्रसंगमें केवल एक बात याद दिला देना चाहता हूँ जिसपर अगर अनुसंधान किया जाय तो कुछ नई बात जानी जा सकती है। युक्तप्रान्त और बिहारमें होलीके अवसरपर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाये जाते हैं उन्हें 'जोगीड़ा' कहते हैं। जोगीड़ा गा लेनेके बाद लोग 'कबीर' गाते हैं जो और भी भयंकर होते हैं। क्या इन जोगीड़ों और कबीरोंके साथ योगियों और कबीर-पंथियोंकी किसी प्राचीन प्रतिद्वंद्विताकी स्मृति जड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी उलटबाँसियोंकी भाँति किसी युगमें किसी अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे।

अस्तु। यह तो अवान्तर प्रसंग हुआ। प्रस्तुत यह है कि हमारे आलोच्य कालके साहित्यमें सबसे प्रभावशाली मत, जिसपर वैष्णव मतको विजय पाना था, यही योगमार्ग है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि युक्त प्रान्तके और मध्य-प्रदेशके उन भागोंमें जहाँकी भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवादके प्रचारके पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद शैवधर्म था। पर साधारण जनता चमत्कारोंपर अधिक विश्वास करती है और इन योगियोंके चमत्कारोंकी बड़ी ख्याति थी। सूरदासने अपने भ्रमर-गीतके प्रसंगमें इस योग-मार्गकी विकटताका प्रदर्शन करके वैष्णव धर्मकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, पर कबीरदास आदिने इनकी संपूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपकद्वारा अपनी बातको इसी पद्धतिके बलपर प्रतिष्ठित करनेका मार्ग अवलम्बन किया है। जायसीके तथा अन्य प्रेम-गाथा-कार कवियोंके ग्रंथोंसे पता चलता है कि योगियोंका मार्ग ही उस समय अधिक प्रचलित था। जो राजा अपने प्रेम-व्यापारमें निष्फल हो जाता था वह योगी हो जाता था। लोक-कथाओंमें इन योगियोंका बहुत उल्लेख है। उस युगके मुसलमान यात्री इन योगियोंकी करामतोंका वर्णन बहुत ही हृदयग्राही भाषामें करते हैं। भक्ति-वादके पूर्व निस्सन्देह यह सबसे प्रबल मतवाद था। इसीलिए भक्तिवादमें इनके शब्द और मुहावरे ही नहीं इनकी पद्धति भी बहुत कुछ आ गई है। आगे इस पद्धतिका संक्षिप्त विवरण संग्रह करनेकी कोशिश की जा रही है।

इनके सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टिमें

परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होनेपर इसी शक्तिको कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी-शक्ति और प्राण-शक्तिको साथ ही लेकर जीव मातृकुक्षिमें प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओंमें रहते हैं: जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं या सपना देखते रहते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओंमें कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। उस समय इसके द्वारा शरीर-धारणका कार्य होता है। इस कुण्डलिनीको ठीक ठीक समझनेके लिए शरीरकी बनावटकी कल्पना करनी चाहिए। पीठमें स्थित मेरुदण्ड सीधे जहाँ जाकर पायु और उपस्थके मध्यभागमें लगता है वहीं स्वयभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्रमें अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्नि-चक्रमें स्थित स्वयंभू लिंगको साढ़े तीन वलयों या वृत्तोंमें लपेट कर सर्पकी भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभिके पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दलोंके कमलके आकारका है। इस चक्रके ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर हृदयके पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलोंके पद्मके आकारके है। इसके ऊपर कण्ठके पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दलके कमलके आकारका हैं। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्यमें आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही वे छः चक्र है जिन्हें 'षट् चक्र' कहकर वारंवार उत्तरकालीन सन्तोंने स्मरण किया है। इन चक्रोंको भेद करनेके बाद, मस्तकमें शून्य चक्र है जहाँ जीवात्माको पहुँचा देना योगीका चरम लक्ष्य है। इस स्थानपर जिस कमलकी कल्पना की गई है उसमें हजार दल हैं, इसी लिए इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। अब मेरुदण्डमें प्राण-वायुको बहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमेंसे कुछका आभास हम साँस लेते समय पाते हैं। जो नाड़ी बाईं ओर है उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। कबीरदास इन्हीं दोनोंको कभी कभी इंगला-पिंगला कहकर स्मरण करते हैं। ये दोनों ही बारी बारीसे चलती रहती हैं। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसीसे होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। असलमें, सुषुम्नाके भीतर भी कई और सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। सुषुम्नाके भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्म नाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्तिका असल मार्ग है। साधक नाना प्रकारकी साधनाओंद्वारा कुण्डलिनी शक्तिको ऊपरकी ओर या ऊर्ध्वमुख उद्बुद्ध करता है।

साधारण मनुष्यमें कुण्डलिनी अधोमुख रहती है और इसीलिए ऐसा मनुष्य कामक्रोधादिका क्रीत दास बना रहता है।

कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर ऊपरको उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप है 'महाबिंदु'। यह बिन्दु तीन प्रकारका होता है; इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौरपर योगी लोग इन्हींको कभी सूर्य, चंद्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। परवर्ती सन्त लोग भी कभी कभी अपने रूपकोंमें इन पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु हैं वह असलमें अखिल ब्रह्माण्ड-व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नादका व्यष्टिमें व्यक्त रूप हैं अर्थात् जो नाद अनाहत भावसे सारे विश्वमें व्याप्त है उसीका प्रकाश जब व्यक्तिमें होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर निरन्तर इड़ा और पिंगला मार्गमें चल रहा है। सुषुम्नाका पन्थ प्रायः बन्द है इसीलिए बद्ध जीवकी इंद्रियाँ और चित्त बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें और निखिल ब्रह्माण्डमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेषसे सुषुम्ना पन्थ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है तो प्राण स्थिर होकर उस शून्य पथसे निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनाहत नादको सुनने लगता है। ऐसा करनेसे मन विशुद्ध और स्थिर होता है और उसकी स्थिरताके साथ ही साथ यह ध्वनि अधिक नहीं सुनाई देती क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। और फिर वाह्य प्रकृतिसे उसका कोई सरोकार नहीं होता। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक संबंधके कारण अर्थात् भिन्न उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण सात स्तरोंमें विभक्त है। शास्त्रमें जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी किसी साधकने तथा वैयाकरणोंने इसीको स्फोट कहा है। यह स्फोट अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म-तत्त्वका वाचक है। स्फोटको ही शब्द-ब्रह्म और सत्ताको ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य (ब्रह्म-सत्ता) को प्रकाशित करनेवाला वाचक शब्द भी (स्फोट या नाद) ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह है कि ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है। इस सम्बन्धको लेकर भी सन्तोंने कितने ही गूढ़ रूपकोंकी रचना की है। यह शब्द

मूलाधारसे उठता है और सहस्रारमें जाकर लय हो जाता है। इतना जान लेनेके बाद हठयोगकी प्रक्रिया समझना आसान हो जायगा।

यह जो इतने पारिभाषिक शब्दोंकी नीरस अवतारणा की गई, वह परवर्ती साहित्यको समझनेमें अतिशय सहायक समझ कर ही। तो, हठयोग असलमें लक्ष्य नहीं है, इसे राजयोगका सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगकी बात सुनना ही नहीं चाहता। वस्तुतः राजयोग ही योगीका काम्य है। उसे ही प्राप्त करनेपर काल-बंधनसे छुटकारा मिलता है। इस हठयोगका उद्देश्य केवल शरीरकी शुद्धि और मनका सम्मार्जन है। देह-शुद्धिके लिए हठयोगकी क्रियाओंका विशाल ठाठ है,—धौति है, बस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं जो देह-शुद्धिके कारण हैं। आसन और मुद्राओंके अभ्याससे देहकी दृढ़ता साधित होती है। फिर प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधिसे यथाक्रम शारीरिक धीरता, लघुता, आत्म-प्रत्यक्ष और निर्लेपता आयत्त होती हैं। और असलमें जैसा कि कई आचार्योंने बताया है, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान ये चार ही हठयोगके प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं। यह सब सिद्ध हो जानेके बाद सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं,—अर्थात् योगी हवामें उड़ सकता है, अपनी आत्माको निकाल कर विचरण कर सकता है और न जाने और कितनी कितनी विचित्र बातें कर सकता है! ये सिद्धियाँ योगीको पथ-भ्रष्ट भी कर सकती हैं, इसलिए उनसे सावधान रहनेकी ज़रूरत है। इतना गोरखधंधा,—और सच पूछिए तो यह गोरखनाथका योग ही 'गोरखधंधा' शब्दकी उत्पत्तिका कारण है,—पोथी पढ़-कर नहीं हो सकता; मनन, चिन्तन और निदिध्यासनसे भी नहीं हो सकता। इसे तो करके दिखाना पड़ता है। इसीलिए इस जटिल कर्म-पद्धतिके लिए सद्गुरुकी बड़ी जबर्दस्त आवश्यकता होती है। नाथपन्थी योगियों, सहज और वज्रयानियों, तान्त्रिकों और परवर्ती सन्तोंमें इसी लिए सद्गुरुकी महिमा इतनी अधिक गाई गई है। सद्गुरुके बिना जगत्के चाहे और सभी व्यापार हो जावें पर यह जटिल साधना-पद्धति नहीं हो सकती।

जिन दिनोंकी चर्चा हो रही है उन दिनों इस मार्गमें एक और अध्याय जोड़ा गया था; और आगे चलकर यह प्रक्षिप्त अध्याय मूलसे भी अधिक प्रभाव-शाली सिद्ध हुआ। सद्गुरुकी कृपासे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसे मान्ते

विना हठयोग तो क्या, कोई भी योग अग्रसर हो ही नहीं सकता। अब विश्वास किया जाने लगा कि सद्गुरु अपनी अंगुलिसे आज्ञा-चक्रको छू दे तो विना किसी टंटेके सब कुछ सिद्ध हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह विश्वास ढकोसला था वा गपोड़ियापनका परिणाम था। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि सद्गुरु सचमुच ऐसा कर सकते हैं या नहीं। ये सब बातें साधनाकी हैं। जो लोग यह सब कहते हैं वे ललकार कर कहते हैं कि आजमा कर देख लो। हम लोग जो इस विषयसे सर्वथा अपरिचित हैं, जो केवल पोथी पढ़कर इस साधनाकी बातें गलत-सही ढंगसे खुरचकर बटोर लेते हैं, इस विषयमें कोई राय नहीं कायम कर सकते। सच पूछिए तो इस प्रकार विना अनुभव किये राय देना सिर्फ हिमाक़त ही नहीं है, अन्याय भी है। जो बात प्रस्तुत विषयसे सम्बद्ध है वह इतनी है कि उन दिनोंके साहित्यमें इस विषयका भूरिशः उल्लेख मिलता है। जब कि हठयोगकी पद्धति क्रिया-बहुल रही होगी उस समय इस पद्धतिका साधक-विरल होना नितान्त स्वाभाविक है। पर जब गुरुकी कृपापर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरुकी खोजमें लगे रहते होंगे। उनमेंसे सैकड़ों गुरुके निकट सत्पात्र होनेकी आशासे निरन्तर उम्मीदवारी करते होंगे। यह बात तो निश्चय ही उन दिनों भी असंभव ही रही होगी कि हजारोंकी संख्यामें लोग सिद्ध योगी हो जायँ। पर साधारण जनताको सद्गुरुकी कृपाके नामपर आतंकित करनेवाले और उनपर रौब जमानेवाले छोटे मोटे योगियोंकी एक विराट् वाहिनी जरूर तैयार हो गई होगी। ऐसा सचमुच ही हुआ था। ऐसे अलख जगानेवाले योगियोंसे सारा देश सचमुच ही भर गया था। तुलसीदास जैसे शान्त शिष्ट महात्मा भी इन योगियोंकी बाढ़से चिढ़ गये थे। एक जगह अलख जगानेवाले योगीको फटकारते हुए वे कहते हैं—'तुलसी अलखहिं का लखै, राम-नाम लखु नीच!" मध्य-युगके सन्तोंकी वाणियोंके अध्ययनसे यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। इस हठयोग और तंत्रवादने इस देशमें गुरुवादका जो विकृत रूप प्रचार किया उसका बंधन अब भी भारतवर्ष काट नहीं सका है। सन्तोंकी वाणियोंमें जहाँ बार बार सद्गुरुकी शरण जानेका उपदेश है वहाँ गुरुकी पहचानपर बहुत अधिक जोर दिया गया है।

हमने देखा है कि इस युगके प्राक्कालमें अनेकानेक मतवाद, सम्प्रदाय और

शास्त्र लोकमतके सामने झुक रहे थे। यह साधना-बहुल और क्रिया-क्लिष्ट योग-मार्ग भी उधर ही झुक पड़ा था। असलमें इस युगमें लोकमतकी जैसी प्रधानता इष्ट हुई वैसी सम्पूर्ण भारतीय इतिहासमें शायद ही कभी दिखी हो। इसीलिए इस युगका साहित्य भारतीय चिन्ताके अध्येताके लिए उपेक्षणीय तो है ही नहीं, अत्यधिक ध्येय है।

कबीरदास योग-प्रक्रियाके विरोधी नहीं थे परन्तु हठयोगियोंकी इन सभी क्लिष्ट साधनाओंको आवश्यक नहीं समझते थे। योगियोंकी कुछ क्रियाओंका अभ्यास वे नापसंद नहीं करते थे पर उसके सभी अंगोंको अन्ध भावसे स्वीकार भी नहीं करते थे। कबीर जैसा उन्मुक्त विचारका आदमी किसी प्रकारकी रूढ़ियोंका कायल नहीं हो सकता था। उन्होंने बार बार घोषणा की है कि ए साधुओ, समाधि लगाया चाहते हो तो टंटे और बखेड़ेमें न पड़ो। सहज-समाधि लगाओ। (नाना प्रकारके प्राणायाम, आसन और मुद्रायें परमतत्त्वकी उपलब्धिके साधन हैं, साध्य नहीं। अगर सहज-समाधिके रास्ते ही परम तत्त्व मिल जाता है तो व्यर्थ ही कायक्लेश बढ़ानेसे क्या फायदा)? आँख मूँदे बिना, मुद्रा किये बिना, आसन लगाये बिना समस्त ब्रह्माण्डके रूपको देखो और उसके भीतरसे परम तत्त्वको खोज निकालनेकी चेष्टा करो। जब तुम्हें अनहद नाद सुनाई देगा तो आसन और प्राणायामकी जरूरत नहीं रह जायगी, रोम रोम थकित हो जायँगे, समस्त इन्द्रिय श्लथबन्ध हो रहेंगे, मन आनन्दसे भर जायगा*। यह

* साधो सहज समाधि भली।

गुरु प्रताप जा दिनसे उपजी दिन दिन अधिक चली॥
जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा जो कछु करों सो सेवा।
जब सोवों तब करों दण्डवत पूजों और न देवा॥
कहों सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव-पियों सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा॥
आँख न मूँदों कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारों॥
सबद निरंतरसे मन लागा मलिन वासना त्यागी॥
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि भाई॥
दुख सुखसे कोइ परे परम पद तेही पद रहा समाई॥

कबीरदासका निजी अनुभव था जिसे उन्होंने गुरुके प्रतापसे पाया था।

यह सहज समाधि है क्या चीज ? योगियोंके यत्नसे जब प्राणायामके द्वारा
वायु ब्रह्म-रंध्रमें प्रवेश करता है तो जिस आनन्दपूर्ण अवस्थाको मन प्राप्त होता
है उसे योगी लोग 'लय' या 'मनोन्मनी' (कबीरदासके शब्दोंमें 'उनमुनि
रहनी') या 'सहजावस्था' कहते हैं। यही योगियोंकी सहज समाधि है।
पर कबीरदास इसको सहज समाधि नहीं कहते। उनकी परिकल्पित सहज
समाधिमें साधक जहाँ कहीं जाता है वहीं परिक्रमा करता रहता है; जो कुछ
करता रहता है वही 'सेवा' कहलाती है, उसका सोना, दण्डवत्, बोलना,
नामजप, सुनना, सुमिरन, खाना-पीना ही पूजा है। अर्थात् सगुणोपासक भक्त-
गण भगवान्के विग्रहकी परिक्रमा, सेवा, नाम-जप आदि द्वारा जो भक्ति दर्शाते
हैं वह सभी सहज समाधिके साधकके साधारण आचारण द्वारा ही सिद्ध हो
जाती है और फिर योगी लोग जिन क्रियाओंसे परम लक्ष्यको प्राप्त करनेका
दावा करते हैं वह भी उसे नहीं करनी पड़ती। यह अनायास ही उसे सिद्ध हो
जाती हैं। उसे आँखें नहीं मूँदनी पड़तीं, कष्ट नहीं उठाना पड़ता, खुली आँखोंसे
ही निखिल चराचरमें परिव्याप्त भगवत्सत्ताका साक्षात्कार उसे हो जाता है। यह
समाधि आसन मारके नहीं करनी होती, उठते बैठते सब समय यह संभव है।
स्पष्ट ही ऐसी समाधि वही लगा सकता है जो असीम विश्व-ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त
अनन्त सत्ताको सदा सर्वदा अनुभव कर सके। यह ज्ञानका विषय है। कबीरदास
इस ज्ञानद्वारा प्राप्त अनुभवैकगम्य समाधिको ही श्रेष्ठ समझते थे। इस ज्ञानके न
आनेका कारण माया है। मायासे बद्ध जीव इस जगत्को ग़लत समझता है,
अर्थात् जो नहीं है उसकी सत्ता अनुभव करता है और जो है, उसकी सत्ता नहीं
अनुभव कर पाता। कबीरदासने बार बार इस मायासे सावधान रहनेको कहा है।
सच्चा ज्ञान होनेपर डंडा मुद्रा आदिके धारणकी जरूरत नहीं रह जाती और न
कोई भेख धारण करनेकी आवश्यकता होती है। वे उन लोगोंको पागल ही
समझते हैं जो आसन-मुद्राके कपट-जालमें पड़े हुए हैं, क्योंकि योगीका
लक्ष्य यदि भगवत्प्राप्ति हो तो भगवान् तो स्वयं त्रिभुवनको भोग कर रहे हैं।
उनके लिए योग साधने और घर-बार छोड़नेकी तो जरूरत ही नहीं *।

* डंडा मुद्रा खिंथा अधारी। भ्रम कै भाई भवैं भेखधारी॥
आसन पवन दूरि कर बौरे। छोड़ कपट नित हरि भज बौरे॥

जो सहज-साध्य है, उसके लिए कृच्छ्र-साधना व्यर्थ है। कबीरके बाद उनके संप्रदायवालोंने या तो कबीरको संपूर्ण वेदान्ती बना देनेकी चेष्टा की या संपूर्ण योगी। उनका योग-मार्गकी ओर झुकाव बढ़ता ही गया। ऐसे भजन कबीरके नामपर मिल जाते हैं जिनमें आसन या प्राणायाम करनेकी शिक्षा दी गई है; पर ऐसे भजनोंकी प्रामाणिकता सन्देहसे परे नहीं है। कबीरदासके मतसे योगी वह है जिसकी मुद्रा मनमें है, जो दिन-रात अपनी साधनामें जगा रहता है। मनमें ही उसका आसन है, मनमें ही समाधि; मनमें ही जप-तप है, मनमें ही कथोपकथन; मनमें ही खप्पर, मनमें ही सिंगा और मनमें ही उसका अनहद नाद भी बजा करता है। वही ऐसा हो सकता है जो पञ्चेंद्रियगत विषयोंको दग्ध करके उन्हींकी राख शरीरमें मल सके, वही ऐसा जोगी है जो लंका जला सके, अर्थात् सिद्धि प्राप्त कर सके *। अर्थात् वह ज्ञानी है। उसके मनसे द्वैत-भावना जाती रही है, वह विराट् भगवत्सत्ताको मन और प्राणसे अनुभव कर चुका है। इस सहज-साधनाके लिए निर्गुण मतके साधक योग और तंत्रके कृच्छाचारकी आवश्यकता नहीं समझते। पर इसकी व्यावहारिक कठिनाइयोंसे भी वे सावधान थे। उन्हें ज्ञात था कि इस साधनामें अधिक साहस, अधिक वीरता और अधिक संयमकी जरूरत है। वे उसको 'वीर' नहीं कहते जो तांत्रिक 'वीराचार' में दीक्षित है बल्कि उसे जो साहसपूर्वक अपने आपको कुरबान कर सकता है। दादू दयालने कहा है कि अपना सिर काटकर कबीर वीर हुए थ। ('कबीर' का आदि अक्षर अर्थात् 'क' काट दिया जाय जो शब्दके सिरक समान है तो 'बीर' शब्द भी बन जाता है।)+

जिहि तू चाहहि सो त्रिभुवन-भोगी। कहि कबीर कैसी जग-जोगी॥

* सो जोगी जाके मनमें मुद्रा। रात-दिवस ना करइ निद्रा॥
मनमें आसन मनमें रहना। मनका जप-तप मनसूँ कहना॥
मनमें खपरा मनमें सींगी। अनहद बेन बजावे रंगी॥
पंच पजारि भसम करि बंका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥

\+ अपना मस्तक काटिकै बीर हुआ कबीर।

६

सगुण-मतवाद

अब मध्य-युगके सगुण भावसे भजन करनेवाले भक्तोंकी बात ठीक ठीक समझनेके लिए उनके शास्त्रीय मतवादको जानना जरूरी है। अगर इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंको नहीं जान लिया जायगा तो यह समूचा साहित्य, जो वस्तुतः बहुत ही महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली है, परस्पर-विरोधी बातोंका सामञ्जस्यहीन एक विचित्र संग्रह जान पड़ेगा। परम्परासे उसी वातावरणमें पले हुए सहृदयके निकट चाहे उसमें कोई विचित्रता या विरोध न दिखाई पड़े पर बाहरका आदमी ठीक ठीक नहीं समझ सकेगा कि वैराग्य और भक्तिके प्रचारक भक्तगण किस प्रकार चीर-हरण और पनघट-लीलाओंका गान करते हुए भी अपूर्व भाव-रसमें निमग्न हो सकते हैं। उनके हृदयमें, सतीकी भाँति, पहले तो ब्रह्मके इस प्राकृत रूपके विषयमें ही सन्देह होगा—

> "ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद;
> सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ?
> विष्णु जो सुरहित नर-तनु-धारी। सोउ सर्वग्य यथा त्रिपुरारी ॥
> खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ॥

मध्य-युगके इस श्रेणीके भक्तोंका प्रधान उपजीव्य ग्रंथ भागवत पुराण रहा है। परन्तु अन्यान्य पुराणोंको भी उन्होंने प्रमाण रूपसे स्वीकार किया है। किसी सम्प्रदायमें तो भागवतको ही एकमात्र प्रामाण्य ग्रंथ मान लिया गया है। विद्वानोंका अनुमान है कि सन् ईसवीकी एक सहस्राब्दी बीत जानेके बाद सभी पुराणोंने वर्तमान रूप ग्रहण कर लिया होगा, यद्यपि उनमें जो उनके प्राचीन

रूपोंका आभास मिलता है वह काफी प्राचीन है * । वैष्णव पुराणोंमें विष्णु-पुराण सबसे अधिक प्राचीनताके चिह्नोंसे युक्त है। विष्णुके किसी भी बड़े मन्दिर या मठकी चर्चा इस पुराणमें नहीं है। श्री रामानुजाचार्यने अपने मतकी पुष्टिके लिए इसीके वचन उद्धृत किये हैं। किसी किसीने अनुमान किया है कि विष्णु-पुराणमें उल्लिखित कैलकिल या कैङ्किल यवनोंने आन्ध्र देशमें (५००–९००ई०) चार सौ वर्षतक राज्य किया था । अतः इस पुराणका काल सन् ईसवीके नौ सौ वर्षसे अधिक पुराना नहीं हैं। पर यह बात केवल कल्पना ही कल्पना है, किसी ऐतिहासिक प्रमाणसे अबतक सिद्ध नहीं की जा सकी है। यह पुराण सभी वैष्णवोंके लिए प्रमाण और आदरका पात्र है परन्तु भक्ति-तत्त्वका विशद वर्णन इसमें नहीं है। इस विषयमें भागवत पुराण बेजोड़ है। क्या कवित्व-शक्ति, क्या शास्त्रीय-तत्त्व, क्या ज्ञान-चर्चा—भागवत पुराण किसीमें अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं जानता। कहा गया है कि विद्वानोंकी परीक्षा भागवतमें होती है, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'—यह बात बिल्कुल ठीक है। इस महापुराणने रामायण और महाभारतकी भाँति समस्त भारतीय चिन्ताको बहुत दूरतक प्रभावित किया है। मध्य-युगमें तो इसका प्रभाव उक्त दो ग्रंथोंसे कहीं अधिक रहा है। अकेली बँगलामें इसके ४० अनुवाद हो चुके हैं।

हिन्दीमें भी उसके अनुवाद और आश्रित ग्रंथोंकी संख्या बहुत अधिक है। हिन्दीका गौरवभूत महान् गीति-काव्य सूरसागर इसी ग्रंथसे प्रभावित है और तुलसीदासजीकी रामायणके सिद्धान्त अधिकांशमें भागवतसे ही ग्रहण किये गये हैं। किसीने यह बात उड़ा दी है कि भागवत महापुराणके रचयिता बोपदेव थे। यह अत्यन्त भ्रान्तिमूलक बात है। बोपदेवने भागवतके वचनोंका एक संग्रह-ग्रंथ तैयार किया था। लेकिन यह बात धीरे धीरे विश्वास की जाने लगी है कि इस महापुराणकी रचना कहीं दक्षिण देशमें ही,—शायद केरल या कर्नाटकमें हुई होगी, क्यों कि वृन्दावनके प्रसंगमें शरत्कालमें जिन पुष्पोंके फूलनेका वर्णन इस ग्रंथमें आया है, उनमेंसे कई वृन्दावनमें उस समय नहीं फूलते और केरल-कर्नाटकमें फूलते हैं। इस विषयमें भी कोई सन्देह नहीं कि भागवत अन्यान्य पुराणोंकी अपेक्षा एक हाथकी रचना अधिक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, रामचरित-मानस या तुलसीरामायणमें भागवतके सिद्धान्त

* देखिए परिशिष्ट—पुराण ।

भरे पड़े हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि भागवतमें जो स्थान श्रीकृष्णको दिया गया है, वही स्थान रामायणमें रामचंद्रको दिया गया है, और भागवतमें जहाँ माधुर्य-भावको प्रधान स्थान दिया गया है वहाँ रामायणमें प्रीति-भावको। माधुर्य-भाव और प्रीति-भावके अन्तरको हम आगे स्पष्ट करेंगे।

इस भागवत महापुराणके अनुसार भगवान् वैकुण्ठ आदि धामोंमें तीन रूपसे निवास करते हैं—स्वयंरूप, तदेकात्मरूप और आवेशरूप। श्रीकृष्णचंद्र भगवान्‌के स्वयंरूप हैं, रामचरितमानसक राम भी ऐसे ही हैं*। तदेकात्मरूपमें उन अवतारोंकी गणना होती है जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकारमें भिन्न होते हैं। इसके उदाहरण मत्स्य, वराह आदि लीलावतार हैं। ज्ञान-शक्त्यादि विभागद्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवोंमें आविष्ट होकर रहते हैं उन्हें आवेशरूप कहते हैं। जैसे वैकुण्ठमें नारद, शेष, सनक, सनंदन आदि।

गीतामें कहा है कि जब जब धर्मकी ग्लानि होती है, अधर्मका अभ्युत्थान होता है तब तब मैं अपने आपको मनुष्य रूपमें सृष्ट करता हूँ। गीताकी इस बातको तुलसीदासने पौराणिक रूपमें समझा था। उनकी दृष्टिमें जब जब धर्मकी हानि होती है और अधम अभिमानी राक्षसोंकी वृद्धि होती है, तब तब भगवान् मनुज रूप धारण करते हैं और संसारकी पीड़ा दूर करते हैं। परन्तु अवतारका एकमात्र कारण यही नहीं हैं। प्रधान कारण भी यह नहीं है। मुख्य कारण है

---

* भागवतके श्रीकृष्ण और रामायणके रामकी तुलना कीजिए—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

—भागवत

और—

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज विग्यान-रूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा-गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसंदोहा॥

—रामायण

अपने भक्तोंपर अनुग्रह करना[1]। इस प्रकार भगवान्‌के तीन प्रकारके अवतार होते हैं: पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। पुरुषावतार भी तीन प्रकारके हैं। जो महत्तत्त्वके सृष्टिकर्ता हैं उन्हें प्रथम पुरुष, जो निखिल ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टिके अन्तर्यामी हैं उन्हें द्वितीय पुरुष और जो सर्वभूत अर्थात् व्यष्टिके अन्तर्यामी हैं उन्हें तृतीय पुरुष कहते हैं। इसका अर्थ यह समझना चाहिए: प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही सृष्टि उत्पन्न होती है। संयोगके बाद प्रकृतिके यह बुद्धि होती है कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ। इसी बुद्धिको महत्तत्त्व कहते हैं। जो पुरुष इस बुद्धिके कर्ता हैं वे ही प्रथम पुरुष हैं। फिर सम्पूर्ण समष्टिरूपा सृष्टिके जो अन्तर्यामी हैं वे द्वितीय पुरुष हैं। अब तक एक बहुत हो गया रहता है और उसमें पृथक्त्व या अहंकार-तत्त्वका प्रादुर्भाव होता है। इसी पृथक्त्वके अन्तर्यामी भगवान्‌को तृतीय पुरुष कहते हैं। गुणावतार तो प्रसिद्ध ही हैं। सत्त्वगुणसे युक्त अवतार ब्रह्मा, रजोगुणसे युक्त विष्णु और तमोगुणसे युक्त अवतार रुद्र या शिव हैं।

लीलावतार चौबीस हैं—चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हंस, ध्रुवप्रिय, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वंतरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, राघवेन्द्र, व्यास, बलराम, बुद्ध, और कल्कि।

तुलसीदासजीने कहा है कि ब्रह्मके दो रूप हैं, अगुण और सगुण। इनमें सगुण रूप निर्गुण रूपकी अपेक्षा दुर्लभ है। इसीलिए सगुण भगवान्‌के सुगम, और फिर भी अगम, चरित्रोंको सुनकर मुनियोंके मनमें भी मोह उत्पन्न हो जाता है[2]। वास्तवमें सगुण और अगुण या निर्गुण रूपमें कोई भेद नहीं। जो भगवान् अगुण, अरूप, अलख और अज हैं वही भगवान् भक्तके प्रेमवश सगुणरूप धारण

---

१ भगतहेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥

इसकी तुलनाके लिए ब्रह्माण्ड-पुराणके इस वचनको देखिए—

स्वलीलाकीर्तिविस्तारात् भक्तेष्वनजिघृक्षया।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥ —लघुभागवतामृतमें उद्धृत

२ निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ,
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ।

करते हैं[१]। जो लोग उसके केवल निर्गुण रूपको मानते हैं वे असलमें भगवान्के एक अंशमात्रको जानते हैं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उसका गुणमय रूप नहीं है। क्योंकि, जैसा कि नंददासने कहा है, जो उनमें गुण न होते तो और गुण आते कहाँसे ? कहीं बीज बिना वृक्ष भी किसीने देखा है[२] ? निर्गुण और सगुणके विषयमें सूरदासका दृष्टिकोण तुलसीदाससे थोड़ा भिन्न है। ये सगुणको सहजसाध्य मानते हैं और निर्गुण उपासनाको कष्ट-साध्य। सगुण उपासना सरस और ग्राह्य है पर निर्गुण उपासना नीरस[३]।

यद्यपि निखिलानन्दसंदोह भगवान् वही हैं जिन्हें अष्टांग योगी परमात्मा, औपनिषदिकगण ब्रह्म और ज्ञान-योगी लोग ज्ञान कहते हैं[४] तथापि ब्रह्म या परमात्माकी अपेक्षा श्रीकृष्ण (रामचरितमानसके राम) कहीं श्रेष्ठ हैं। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्का भेद अगले प्रकरणमें स्पष्ट किया गया है। भागवतमें कहा है कि एक ही क्षीर आदि द्रव्य जिस प्रकार बहुगुणाश्रय होकर चक्षु आदि इंद्रियोंद्वारा भिन्न भिन्न रूपोंमें गृहीत होते हैं उसी प्रकार भगवान उपासना-भेदसे नाना प्रकारके प्रतिभात होते हैं[५]। फिर भी श्रीकृष्णमें माधुर्य आदि गुणोंका प्राचुर्य होनेसे भगवान्का यह रूप ही श्रेष्ठ है। भागवतमें ही अन्यत्र कहा गया है कि, 'हे विभो, यद्यपि निर्गुण और सगुण दोनों ही तुम्हीं हो, तो भी

---

१. अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगतप्रेमबस सगुन सो होई।

२ जो उनके गुन नहीं और गुन भये कहाँतें ?
बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहौ कहाँतें ? —भ्रमरगीत।

३. मधुकर हम अयान अति भोरी।
जानें कहा जोगकी बातें, जे हैं नवलकिशोरी॥ —सूरदास।

४ भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टांगयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥
—लघुभागवतामृतमें स्कंदपुराणकी उक्ति॥

५ यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैः अर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वत् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥ —भगवत ३, ३२, ३३.

विशुद्ध चित्तद्वारा तुम्हारे निर्विकार रूप-हीन विज्ञान-वस्तुके रूपमें अगुण ब्रह्मकी महिमा कदाचित् समझमें आ भी जाय, तो भी इस विश्वके लिए अवतीर्ण तुम्हारे इस सगुण रूपकी गुणावली गिननेमें कौन समर्थ होगा ? जो अतिनिपुण हैं वे भी यदि दीर्घ काल तक गिनें तो पृथ्वीके परमाणु, आकाशके हिमकण और सूर्यादिकी किरणें गिन सकते हैं, पर वे भी तुम्हारे सगुण रूपके गुणोंकी गणना नहीं कर सकते"[१]।

किन्तु भगवान्के ये गुण प्राकृत नहीं हैं अतः प्राकृत जनोंके आचरणादिके मान-दण्डसे इन्हें नहीं मापा जा सकता। वे असंख्य अप्राकृत-गुणविशिष्ट अपरिमित शक्तिशाली और पूर्णानन्दघन विग्रह हैं। कहा गया है कि निर्गुण निर्विशेष और अमूर्त ब्रह्म और श्रीकृष्णका सम्बन्ध प्रभा और प्रभाकरके समान है। निराकार ब्रह्म (अर्थात् चैतन्यराशि), अव्यय, अमृत (अर्थात् नित्यमुक्ति), नित्यधर्म (अर्थात् श्रवण प्रभृति भक्तियोग) और ऐकान्तिक सुख (अर्थात् प्रेमभक्ति) इन सबके आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं।[२] वे यद्यपि अज हैं फिर भी भक्तोंके लिए जन्म ग्रहण करते हैं। यह बात कुछ अद्भुत-सी सुनाई देती है। क्योंकि एक ही पदार्थ एक ही साथ अज और जात नहीं हो सकता। इसके उत्तरमें भागवत लोग कहते हैं कि भगवान्का ऐश्वर्य और वैभव अचिन्त्य है, उसकी तुलना प्राकृत जन्मादि व्यापारसे नहीं हो सकती।

---

१ तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते,
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ॥
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो,
ह्यनन्यबोधात्मतया न चान्यथा ॥
गुणात्मनस्तेऽगुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै
भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥
—भागवत १०, १४, ६–७

२ लघुभागवतामृत, पृ० २१७

जैसा कि ऊपर बताया गया है, अवतारका मुख्य हेतु भक्तोंके लिए लीलाका विस्तार करना ही है। यह लीला दो प्रकारकी होती है, प्रकट और अप्रकट। मध्ययुगके भक्तोंने अधिकतर प्रकट लीलाका ही गान किया है, अर्थात् जो लीला प्रपञ्चगोचर होती है, उसीका विस्तार किया है। वृन्दावनमें भगवान् गोपियोंके साथ नित्य लीलामें रत हैं।[1] मथुरा और द्वारकाके भेदसे श्रीकृष्णके दो धाम हैं। उनमें भी मथुराधाम गोकुल और मधुपुरी इन दो स्थानोंके भेदसे दो हैं। गोलोक नामसे प्रसिद्ध श्रीकृष्णका धाम गोकुलकी ही विभूति है, क्योंकि श्रीकृष्णकी माधुरी गोकुलमें ही सर्वाधिक होती है। मथुराधामकी महिमा वैकुण्ठसे भी अधिक है।[2] रामायणकी अयोध्या भी ऐसी ही है।[3]

यह भगवान्‌की माधुरी चार प्रकारकी है। ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीड़ा-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी। ऐश्वर्य-माधुरीमें भगवान्‌के ईश्वर-रसकी प्रधानता होती है। क्रीड़ा-माधुरी बहुत प्रकारकी है फिर भी उन सबमें गोप-लीला श्रेष्ठ है। भागवतमें बताया गया है कि भगवान्‌ने जब वेणुको अपने अधरोंपर रखा और उसे निनादित किया तो सर्वज्ञ होकर भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवतागण तत्त्व निर्णय न कर सके,—सभी मुग्ध हो रहे।[4] इससे प्रकट है कि भगवान्‌की वेणु-लीला अचिन्त्य है। सूरदासने और अन्य भक्तोंने

---

१ जगनायक-जगदीसपियारी जगतजननिजगरानी।
नित बिहार गोपाललाल सँग वृन्दावन रजधानी॥ —सूरदास

२ अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते॥ —लघुभागवतामृत

३ यद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद-पुरान-विदित जग-जाना॥
अवध-सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ॥
अति प्रिय मोंहि इहांके वासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥

४ विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः।
सवनशस्तदुपधार्यसुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः
भा० १०, ३५, १४–१५

इस वेणु-निनादका वर्णन विस्तृत रूपसे किया है। भगवान्‌की विग्रह-माधुरी अर्थात् रूप-माधुर्यसे मध्ययुगका साहित्य भरा पड़ा है। ऐसा तनुधारी जगत्‌में नहीं जो इस रूप-माधुरीके दर्शनसे मुग्ध न हो गया हो।[1] गोस्वामी तुलसीदासने प्रत्येक व्यक्तिके साथ भगवान्‌के समागमके प्रसंगमें बड़ी सावधानीसे उसका मुग्ध होना बताया है। इस विषयमें रामचरितमानसके राम और भागवतके श्रीकृष्ण समान हैं। भागवतमें कहा है कि त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो भगवान्‌के कल-पदामृतरूप वेणु गीतसे विमोहित होकर और त्रैलोक्य-सौभग इस रूपको देखकर मुग्ध न हो जाय? इस वेणु-गीतको सुनकर और रूपको देखकर गायें, पक्षी, वृक्ष और मृग भी पुलकित हो जाते हैं[2]। इस माधुरीका छका हुआ भक्त स्वर्ग अपवर्ग नहीं चाहता, ऋद्धिसिद्धिकी परवा नहीं करता, केवल अनन्त कालतक अव्यभिचारिणी भक्तिकी कामना करता है। एक बार इस सगुण रूपको स्मरण करके वह ज्ञान-विज्ञान सबको नमस्कार कर देता है। ज्ञान और विज्ञान धर्म और कर्म, सभी भक्तिके सामने तुच्छ हैं। क्योंकि वह जानता है कि ज्ञानका मार्ग कृपाणकी धारा है। उसपरसे गिरते देर नहीं लगती। उसे किसी प्रकार पार किया जा सके तो निश्चय ही कैवल्यपद प्राप्त किया जा सकता है; लेकिन भक्तके पास तो यह कैवल्य पद बिना माँगे जबर्दस्ती आना चाहता है। हरि-भक्तिके बिना बड़ासे बड़ा पद भी टिक नहीं सकता[3]। यह भक्तिरूप चिन्तामणि

---

१ कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह अस रूप निहारी ॥

—रामचरितमानस

२ का स्त्र्यंग ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥

—भागवत १०, २९, ४०.

३ ग्यान पंथ कृपाणके धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निरबिघन पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥
अति दुरलभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद ॥
राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अन इच्छित आवै बरिआईं ॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई ॥
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि-भगति बिहाई ॥—रामायण

तबतक भक्तको प्राप्त नहीं होती जबतक भगवान् स्वयं कृपा न करें।[1] भक्तिहीन ब्रह्मा भी भगवान्‌के निकट अप्रिय है पर भक्तियुक्त नीचसे नीच प्राणी भी उन्हें प्राणके समान प्रिय है[2]। वह प्राणी जन्म और कर्मसे कितना भी ओछा क्यों न हो भगवान् उसके निकट दौड़ आते हैं[3]।

ऊपर जिस भक्तिकी बात कही गई है वह दो प्रकारकी होती है, रागानुगा और वैधी। कर्तव्य-बुद्धिसे जो नियम स्थिर किये जाते हैं उसे विधि कहते हैं और स्वाभाविक रुचिसे जो वृत्ति उत्तेजित होती है उसे राग कहते हैं। अर्थात् इष्ट वस्तुके प्रति स्वाभाविक तन्मयताको राग कहते हैं। और राग जिसके प्रति धावित होता है वही इष्ट होता है। भगवान् और बद्ध जीवमें एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि जीवमें विषयासक्ति होती है और भगवान्‌में वैराग्य। तुलसीदासने कहा है कि भगवान् अखण्ड ज्ञान-स्वरूप हैं और जीव मायावश अज्ञानी। यह जीव मायाके वशमें होनेके कारण परवश है और भगवान् मायाके अधिपति और स्ववश। जड़ देहके प्रति भी राग होता है पर चूँकि वह जड़ोन्मुख होता है इसलिए संसारमें बंधनका कारण होता है, पर जीवकी स्वाभाविक राग-प्रवणता यदि भगवान्‌की ओर हो जाय तो वह तर जाता है। जड़-जगत्‌में विधि और रागमें विरोध दिखता है पर भगवद्विषयक होनेपर विधि और रागमें कोई विरोध नहीं रह जाता। जबतक राग पुष्ट नहीं होता तभी तक भक्तको कर्तव्याकर्तव्यका बंधन रहता है। ब्रजवासियोंका भगवान्‌के प्रति रागात्मक सम्बन्ध था। इसीलिए उनकी भक्तिको रागात्मक भक्ति कहते हैं। इस भक्तिके अधिकारी केवल ब्रजवासी ही थे। जो भक्त उनका अनुकरण और अपनेमें उनका अभिमान करके भगवान्‌के प्रसंग-सुखका अनुभव करते हैं उनकी भक्तिको रागानुगा भक्ति कहते हैं।

---

१ सो मति यदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई।

२ भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवनमँह अप्रिय सोई।

—रामायण

३ काहूके कुल नाहिं विचारत।
अविगतकी गति कहौं कौन सों पतित सबनको तारत॥
ओछे जन्म कर्मके ओछे ओछे ही बोलावत।
अनत सहाय सूरके प्रभुकी भक्तहेतु पुनि आवत॥

—सूरदास

रागानुगा और वैधी भक्तिके साधक शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलनोंके द्वारा भगवान्‌का भजन करते हैं। उनके लिए ये दस आचार निषिद्ध हैं—(१) बहिर्मुख लोगोंका संग अर्थात् अनैतिक, अविश्वासी और मिथ्याचारी लोगोंका संग उन्हें त्याज्य है। (२) शिष्य, संगी, भृत्य या बान्धवोंद्वारा किया हुआ अनुबंध, (३) महारंभका उद्यम, (४) नाना ग्रंथ, कलाओं और वाद्योंका अभ्यास, (५) कृपणता, (६) शोकादिसे वशीभूत होना, (७) अन्य देवताके प्रति अवज्ञा, (८) जीवोंको उद्विग्न करना, (९) सेवापराध अर्थात् यत्नका अभाव, अवज्ञा, अपवित्रता, निष्ठाका अभाव और गर्व तथा (१०) नामापराध अर्थात् साधुनिन्दा शिव और विष्णुका पृथक्त्व-चिन्तन, गुरु-अवज्ञा, देवादिनिन्दा, नाम-माहात्म्यके प्रति अनास्था, हरिनामकी नानाविध अर्थ-कल्पना, नाम-जप और अन्य शुभकर्मोंकी तुलना करना, अश्रद्धालुको नामोपदेश, नामके प्रति अप्रीति। वैध भक्तकी तीन अवस्थायें होती हैं: श्रद्धावान्, नैष्ठिक आर रुचियुक्त। ये लोग पाँचों अंगों और दो मूलतत्त्वोंको स्वीकार करते हैं। दो मूल-तत्त्व हैं—(१) भगवान् ही एकमात्र जीवोंका स्मर्तव्य है और जो उनके सुमिरनमें सहायक हैं वे ही कर्म भक्तके कर्तव्य हैं,—चाहे वह कुछ भी क्यों न हों, (२) भगवान्‌को भूल जाना ही अमंगल है और इस अमंगलके सहायक सभी कार्य त्याज्य हैं। पाँच अंग इस प्रकार हैं—(१) भगवान्‌के विग्रह (मूर्तियाँ) की सेवा, (२) कथा-सत्संग, (३) साधु-संग, (४) नाम-कीर्तन और (५) व्रजवास। वैधी मार्गका साधक स्वभावतः ही इन्हें पालन करता है। भक्ति-शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार कोई भक्त किसीसे छोटा या बड़ा नहीं है पर भक्तकी स्वाभाविक इच्छा हो होती है कि भगवत्-प्रसंगमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो जाय।

अब, मध्ययुगके भक्ति-साहित्यको देखें तो उसमें इन विधि-निषेधोंके उपदेश, रूपक और अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं। भक्ति शास्त्रकी मर्यादाको न समझनेवाले इन बातोंसे ऊब जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस युगका साहित्य केवल साहित्य नहीं है बल्कि लोकमें बद्धमूल साधना-पद्धतिका प्रतिफलन भी है। उसका यह दूसरा पहलू ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ऐसे भक्त बहुत कम हैं जिनको भगवत्प्रसादसे एकाएक प्रेमकी प्राप्ति हो जाय। साधारणतः प्रेमोदय निम्नलिखित क्रमसे होता है—१ श्रद्धा, २ साधुसंग, ३ भजनक्रिया, ४ अनर्थ-निवृत्ति, ५ निष्ठा, ६ रुचि, ७ आसक्ति, ८ भाव और

९ प्रेम। प्रेमोदय हो जानेपर भक्तोंमें पाँच प्रकारके स्वभाव हो सकते हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँचों प्रकारके भक्तोंकी भगवद्विषयिणी रति भी पाँच प्रकारकी होती है। यथ —

स्वभावका नाम	रतिका नाम
शान्त	शान्ति
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेय
वात्सल्य	अनुकम्पा
मधुर	कान्ता या मधुरा

काव्य-शास्त्रके अनुशीलन करनेवाले रस-शास्त्रियोंके बताये हुए सात रस अर्थात् शृंगार और शान्तको छोड़कर शेष (हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स) इस भगवत्प्रेमके सहायक होकर गौण रस नाम ग्रहण करते हैं। शृंगार और शान्तरस ऊपर बताये हुए पाँच स्थायी भावोंका आश्रय करते हैं। पर यह न समझना चाहिए कि आलंकारिकोंके शृंगार और शान्त रस वही हैं जो भक्तोंके। दोनोंमें तात्विक भेद हैं। पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तोंके) चिन्मुख।

यह बात ध्यान देनेकी है कि वैष्णव भक्त भगवान्‌के निर्विशेषक रूपको (अथात् जिसमें व्यक्तिगत संबंधकी कल्पना न की जा सके, ऐसे रूपको) कभी प्रधानता नहीं देते; फिर भी वे शान्त स्वभावके हो सकते हैं। भक्तिके लिए केवल निर्विशेष ब्रह्मसे काम नहीं चल सकता, उसके सविशेषक रूपकी जरूरत रहती है। इसीलिए शमयुक्ता बुद्धि वह है जहाँ भक्त केवल इतना समझ सका है कि भगवान् केवल निर्गुण और निर्विशेष नहीं हैं बल्कि उनके साथ उसका व्यक्तिगत योग है। भगवत्तत्त्वमें उसकी जड़बुद्धि लोप हो गई रहती है। वह विषयोन्मुखताका त्याग कर अपने आपमें रमने लगता है। निर्गुण मतके भक्त इसी श्रेणीके थे। कबीरदासका 'कमलकुआम ब्रह्मरस पीओ बारंबार' वाली समाधि, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, इसी श्रेणीकी है। यह रस वहीं सम्भव है जहाँ भगवद्विषयक निर्विशेषता समाप्त हो गई हो। इसीलिए यद्यपि भक्त इस अवस्थामें आत्माराम होता है अथात् अपने आपमें ही रमता रहता है फिर भी उसका उपास्य निर्गुण ब्रह्म नहीं होता। सनक सनन्दन आदि भक्तगण इसी श्रेणीके थे। किन्तु ब्रज-

लीलाके वर्णनमें शान्त रसका कोई स्थान नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्ण-लीलाके गायक भक्तोंने इस रसका विशेष गान नहीं किया।

दास्य स्वभावका प्रीतिरस दो प्रकारका होता है, संभ्रमगत और गौरवगत। भगवान्‌के ऐश्वर्य-स्वरूपके प्रति संभ्रम और गुरुताका भाव रखनेवाले भक्त इसी श्रेणीमें आते हैं। दास्य रसका विषयरूप आलम्बन, भगवान्‌का वह ऐश्वर्य रूप है जिसके इशारेपर माया कोटि कोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टि करती है, जो राजाओंके भी राजा हैं, जिनकी शक्तिका एक एक कण विश्वको उद्भासित करता है और जो सत्य, न्याय और शुभ कर्म आदिके आकर हैं[1]। भगवान्‌के इसी ऋद्धिसिद्धिसेवित रूपके प्रति आकृष्ट भक्त उनका दास होनेका अभिमान करता है। इस रसके आश्रय-रूप आलंबन चार प्रकारके भक्त हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग[2]।

भगवान्‌को मित्र रूपसे भजन करनेवाले भक्त सख्य स्वभावके होते हैं। श्रीकृष्णके मित्र कई श्रेणीके थे, उनमें ब्रजवासी मित्र ही अधिक श्रेष्ठ समझे जाते हैं। क्योंकि इन मित्रोंको भगवान्‌के द्विभुज मानवरूपके अगोचर विराट् रूपका भान कभी नहीं हुआ इसलिए उनकी मित्रताके संभ्रम या गौरवका कहीं प्रवेश नहीं हुआ। इसीलिए वे दास्य आदि भावोंसे सदा ऊपर रहे। ये भी चार प्रकारके हैं—सुहृद्, सखा, प्रिय-सखा और प्रिय-नर्म-सखा। सुहृद वे थे जो श्रीकृष्णसे उमरमें बड़े थे; सखाओंके प्रेममें वात्सल्यका मिश्रण था; प्रिय-सखा श्रीकृष्णकी क्रीड़ाके साथी थे और प्रिय-नर्म-सखा ब्रजसुन्दरियोंके साथ भगवान्‌की प्रेम-लीलामें उनका पक्ष समर्थन करते थे।

---

१ सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल विचरति माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरै जो विविध देह सुरत्राता। तुम्हसे सठन्ह सिखावनदाता॥
हर-कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल-मद गंजा॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥
जाके बल लवलेसतें जितेउ चराचर झारि।
तासु दूत हौं जाहिकी हरि आनेसि प्रिय नारि॥
—रामचरितमानस

२ विशेष विस्तारके-लिए 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' द्रष्टव्य है।

श्रीकृष्णके गुरुजन वात्सल्य भावसे उनसे प्रेम करते थे। इस प्रकार भजन करनेवाले भक्त वात्सल्य स्वभावके होते हैं। मधुर रस सबसे श्रेष्ठ है। इसे उज्ज्वल रस भी कहते हैं। इसका आश्रयरूप आलंबन ब्रजसुन्दरियाँ थीं। आचार्योंने इसका विस्तृत विवेचन भक्तिरसामृतसिन्धु आदि ग्रन्थोंमें किया है। इस रसका सबसे श्रेष्ठ आलंबन श्री राधिका हैं। बिहारी कविने "ज्यों ज्यों भीजे प्रेम-रस त्यों त्यों उज्ज्वल होय" उक्तिमें इसी परम रसकी ओर इशारा किया है। इस विषयका कुछ विस्तृत विवेचन हमने अपने 'सूर-साहित्य'में किया है।

इन पाँच रसोंके उत्कर्षापकर्षका विचार भी किया गया है पर इसमें मत-भेद है। श्रीकृष्ण रूपके उपासकोंका कहना है कि शान्त रस सबसे नीचे है, उसके ऊपर दास्य, उसके ऊपर सख्य, फिर वात्सल्य और सबके ऊपर मधुर या उज्ज्वल रस है। यह भी बताया गया है कि लोकमें यह रस सर्वथा उलटा है, क्योंकि यह जगत् मायाके दर्पणके प्रतिबिंबके समान है जिसमें हम जड़ रूपमें भगवान्‌की छाया देख रहे हैं[१]। दर्पणमें जो चीज़ सबसे ऊपर दिखती है वह असलमें सबसे नीचे होती है और जो सबसे नीचे दिखती है वह वस्तुतः सबके ऊपर रहती है। इसीलिए मधुर रस जब भगवद्विषयक होता है तो सबके ऊपर रहता है और जब जड़विषयक होकर शृंगार रस नाम ग्रहण करता है तो सबके नीचे पड़ जाता है।

गोस्वामी तुलसीदासने अपने ग्रथोंमें इस तत्त्वका प्रत्याख्यान तो नहीं किया पर अप्रत्यक्ष रूपसे, मानों प्रत्याख्यान करनेके ही उद्देश्यसे, प्रसंग आते ही वे दास्य या प्रीति रतिकी स्तुति कर जाते हैं। इस प्रकारके एक प्रसंगपर वे कहते हैं, सेवक-सेव्य भावके बिना संसार तरना असंभव है, ऐसा विचार कर राम-पदका भजन करना चाहिए। एक दूसरे प्रसंगपर भगवान् स्वयं अपना सिद्धान्त बताते हुए कहते हैं कि जीवोंमें मुझे सबसे प्रिय मनुष्य हैं; उनमें भी ब्राह्मण, उनमें भी वेदज्ञ, उनमें भी निगम धर्मानुयायी, उनमें भी विरक्त, उनमें भी ज्ञानी, उनमें भी विज्ञानी और इन सबसे अधिक प्रिय मेरा वह दास है जिसे मेरी गति छोड़ और आशा नहीं। मैं जोर देकर सत्य सत्य कह रहा हूँ

---

१ वा गुनकी परछाँह री माया-दर्पन बीच।
गुनते गुन न्यारे भये अमल वारि जल कीच॥

सखा सुनु श्यामके। —नंददास

कि मुझे सेवकसे अधिक कोई प्रिय नहीं[1]। इस विषयमें तुलसीदास श्रीरामानुजाचार्यके अधिक नजदीक जाते हैं। महात्मा तुलसीदासके इस दृष्टि-कोणके कारण समूचे राम-परक साहित्यका स्वर एक विशेष रूपसे प्रभावित हुआ है। मधुर-भावकी साधनामें छोटे-बड़ेका सवाल नहीं उठता। वहाँ ऐश्वर्य-बोध जितना ही कम होगा मधुर भावकी अनुभूति उतनी ही तीव्र होगी। पर दास्य-भावमें ऐश्वर्य-बोधका होना बहुत आवश्यक है। इसीलिए गतिके लिए भक्तको भगवान्‌के तीन रूपोंपर बहुत अधिक जोर देना पड़ता है। उनका (१) क्षमावान् रूप, (२) शरणागत-वत्सल रूप और (३) करुणायतन रूप। इन स्वरूपोंके द्वारा भगवान् भक्तोंके बड़ेसे बड़े पातकको भी क्षमा कर देते हैं, उनके सामने जाते ही करोड़ों जन्मके पाप नष्ट होजाते हैं, उनकी शरणमें जानेपर भक्त कृतकृत्य हो जाता है और उसके सभी परिताप जाते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासने अपने ग्रंथोंमें बार बार इन स्वरूपोंका उल्लेख किया है। मधुर भावसे भजन करनेवाले

---

१ सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबतें अधिक मनुजमोहि भाये।
तिन्हमँह द्विज द्विजमँह श्रुतिधारी। तिन्हमँह निगम-धर्म अनुसारी॥
तिन्हमँह प्रिय विरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँते अति प्रिय विग्यानी।
तिन्हतें पुनि मोंहि प्रिय निजदासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहिं पाहीं। मोंहिं सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

—रामचरितमानस

२ (क) मैं जानहुँ निजनाथसुभाऊ। अपराधिहुपर कोप न काऊ।

और—

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसीलि निरीस निसंकी।
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनामु किये अपनाये॥

(ख) जौं नर होइ चराचरद्रोही। आवइ सरन समय तकि मोही।
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउं सद्य तेहि साधु समाना॥

और—

कोटि विप्र बध लागइ जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू॥

(ग) ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर रामसरिस कोउ नाहीं। —विनयपत्रिका

भक्तोंके साथ इन भक्तोंका इसी दृष्टि-विशेषके कारण बहुत अन्तर हो गया है। मधुर भावसे भजन करनेवाले भक्तके लिए उनकी लीलायें ही प्रधान स्मर्तव्य हैं, उनकी शृंगार-चेष्टायें, उनकी विलास-लीलायें, उनकी प्रेम-गाथायें ही गेय हैं; पर दास्य-भावसे भजन करनेवालेके लिए ऐश्वर्य भाव बहुत ज़रूरी है। जब तक भगवान्के ऐश्वर्य रूपको वह सदा स्मरण नहीं करता रहता तब तक उसमें दैन्य आदि भाव तीव्र रूपमें नहीं प्रकट होते। यही कारण है कि हिन्दीका कृष्णपरक साहित्य ऐहिक लीलासे भरा हुआ और आमुष्मिक चिन्तासे इतना मुक्त है। राम-साहित्यमें ऐश्वर्य-बोधकी प्रबलता होनेके कारण उसमें ऐहिक लीलाओंका प्राधान्य हो ही नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदासजीके राम-चरित-मानसमें इसीलिए हर प्रसंगपर भगवान्के ऐश्वर्य-रूपका स्मरण करा दिया जाता है। इस ऐश्वर्य-रूपका वर्णन करते समय तुलसीदास अघाते नहीं दिखते *। दास्य-भावसे भजन करनेवाले भक्तोंके इस विशेष दृष्टिकोणकी प्रशंसा न कर सकनेवाले आलोचकोंने कभी कभी रामायणकी कथामें ऐश्वर्य-रूपके वर्णनके आधिक्यको कवित्वका परिपंथी बताया है और यह व्यवस्था दी है कि ऐसा करके तुलसीदास कवि-धर्मसे च्युत हुए हैं। ऐसे आलोचकोंको मधुर-भावके भक्तोंकी रचनामें स्वभावतः ही काव्यकी परिपंथी वृत्तियाँ नहीं दिखनी चाहिए, पर वहाँ भी कभी कभी अनुचित अश्लीलता दिख जाती है। ये दोनों तथा-कथित दोष काव्यके परिपंथी या सहायक हों या न हों, दोनों प्रकारके भक्तोंके विशेष दृष्टि-कोणोंको निश्चित रूपसे प्रकट करते हैं।

---

* जो गति जोग बिराग जतन करि, नहिं पावहिं मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गीध सबरीकहँ, प्रभु न अधिक जिय जानी॥ इत्यादि

और—

ऐसे राम दीनहितकारी
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन परउपकारी।
साधनहीन दीन निज अघवस सिला भई मुनिनारी,
गृहतें गवनि परसि पद-पावन, घोर सापतें तारी।...

७

मध्य-युगके सन्तोंका सामान्य विश्वास

मध्ययुगके सन्तोंमें मत, साधना-पद्धति और आचार-विचारसम्बन्धी नाना-मतभेदोंके साथ भी एक साम्य है। इसी साम्यके कारण मध्य-युगका सारा भक्ति-साहित्य एक विशेष श्रेणीका साहित्य हो सका है। कुछ बातें ऐसी थीं जो प्राचीनतर साधकोंमें वर्तमान थीं और मध्य-युगके सभी साधकों और सन्तोंने उन्हें समान भावसे पाया था।

सबसे पहली बात जो इस सम्पूर्ण साहित्यके मूलमें है, यह है कि भक्तका भगवान्‌के साथ एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर इन भक्तोंकी दृष्टिमें कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है बल्कि एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति है जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है, अवतार ले सकता है। निर्गुण मतके भक्त हों या सगुण मतके, भगवान्‌के साथ उन्होंने कोई न कोई अपना सम्बन्ध पाया है। निर्गुणमतवादियोंमें श्रेष्ठ कबीर कह सकते हैं—'हे भगवान्! तू मेरी माँ है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यों नहीं बख्श देता? पुत्र तो बहुतसे अपराध करता है, किन्तु माँके मनमें वे बातें नहीं रहतीं। बालक अगर उसके केश हाथोंमें पकड़कर उसे मारे भी तो माता बुरा नहीं मानती। बालकके दुखी होनेपर वह दुखी होती है।' इसी प्रकार दादू कह सकते हैं—'हे केशव! तुम्हारे बिना मैं व्याकुल हूँ, मेरी आँखोंमें पानी भर

---

१ हरि जननी, मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा॥
सुत अपराध करे दिन केते। जननीके चित रहे न तेते॥
कर गहि केस करे जो घाता। तऊ न हेत उतारै माता॥
कहे कबीर एक बुद्धि बिचारी। बालक दुखी दुखी महतारी॥

आया है; हे अन्तर्यामी, तुम अगर छिपे रहोगे तो मैं कैसे बच सकता हूँ? तुम स्वयं छिप रहे हो, मेरी रात कैसे कटेगी? तुम्हारे दर्शनके लिए जी तड़प रहा है[1]!' सूरदास कह सकते हैं—'तुम्हारी भक्ति ही मेरे प्राण हैं, अगर यही छूट गई तो भक्त जियेगा कैसे? पानी बिना प्राण कहीं रह सकता है[2]?'

लोग कबीर आदि भक्तोंको 'ज्ञानाश्रयी,' 'निर्गुनिया' आदि कहते हैं। वे प्रायः भूल जाते हैं कि निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त हैं और उनके 'राम' वेदान्तियोंके ब्रह्मकी अपेक्षा भक्तोंके भगवान् अधिक हैं। अर्थात् केवल सत्ता केवल ज्ञानमयतासे भिन्न व्यक्तिगत ईश्वर हैं। इसीलिए कबीरदास आदि भक्त ज्ञानी होते हुए भी प्रेममें विश्वास रखते हैं।

उस युगके इस रहस्यको समझनेके लिए सगुण-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंकी कुछ बातें समझनी पड़ेंगी। भागवतमें एक श्लोक आता है जिसमें बताया गया है कि अखण्डानन्दस्वरूप तत्त्वके तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्[3]। जो ज्ञानाश्रयी भक्त भगवान्‌के केवल चिन्मय रूपका साक्षात्कार करते हैं वे उसके एक अंशमात्रको जानते हैं और अपने ज्ञानके द्वारा उस चिन्मय अंशमें लीन होनेका दावा करते हैं। यही केवलज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है। इस मतमें ज्ञान निराकार होता है और ज्ञाता और ज्ञेयके विभागसे रहित होता है। दूसरा स्वरूप परमात्माका है। इस रूपके उपासकोंमें शक्ति और शक्तिमान्‌का भेद ज्ञात रहता है। यह स्वरूप योगियोंका आराध्य है। किन्तु भक्तोंके भगवान् परिपूर्ण सर्वशक्तिविशिष्ट हैं। भक्त ही भगवान्‌की सारी शक्तिके रसका

---

१ तुम बिन व्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि।
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें दूरि॥
आप अपरछन होइ रहे, हम क्यों रैन बिहाइ।
दादू दरसनकारने तलफि तलफि जिय जाइ॥

२ तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥

३ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
—भा० ३।२।११
इसपर श्रीजीवगोस्वामीका क्रम-सन्दर्भ और वल्लभाचार्यकी सुबोधिनी देखिए।

अनुभव कर सकता है, इसीलिए भक्तकी सबसे बड़ी कामना यह है कि वह भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करे। मोक्षको, अर्थात् भगवान्‌के एक अंशमें लीन हो जानेको, वह कभी पसन्द नहीं करता। मोक्ष उसके मतसे परम पुरुषार्थ नहीं हैं, प्रेम ही परमपुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।' यह दूसरी बड़ी बात है जिसमें उस युगके प्रायः सभी भक्त एकमत हैं। इसको वे नाना रूपमें कहते है। कोई कहता है—'हे भगवान्! मुझे दर्शन दो, मुझे तुम्हारी मुक्ति नहीं चाहिए। हे गोविन्द! मुझे ऋद्धि सिद्धि नहीं चाहिए, मैं तुम्हींको चाहता हूँ। हे राम! मैं योग नहीं चाहता, भोग नहीं चाहता, मैं तुम्हींको चाहता हूँ। हे देव! मैं घर नहीं माँगता, वन नहीं माँगता, मैं तुम्हींको माँगता हूँ। मैं और कुछ नहीं माँगता, केवल दर्शन माँगता हूँ।[1]" कोई कहता है, 'न मुझे धर्म चाहिए, न अर्थ चाहिए, न काम चाहिए और न निर्वाण ही चाहिए। मैं यही वर-दान माँगता हूँ कि जन्म-जन्म रघुपतिकी भक्ति मिले[2]।' कोई दूसरा बताता है कि 'आठों सिद्धि और नवों निधिका सुख वह नन्दकी गाय चराकर बिसार सकता है, करोड़ों कलधौतके धाम करीलके कुंजोंपर कुर्बान कर सकता है, कामरी और लकुटिया उसे मिल जाय तो त्रैलोक्यका राज्य वार सकता है[3]।'

---

१ दरसन दे दरसन देहौं तो तेरी मुकति न माँगों रे।
सिधि ना माँगों रिधि ना माँगों तुम्हहीं माँगों गोविंदा॥
जोग न माँगों भोग न माँगों तुम्हहीं माँगों रामजी।
घर नहिंमाँगों बन नहिं माँगों तुम्हहीं माँगों देवजी॥
'दादू' तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगों देहु जी।

२ अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरबान॥
जनम जनम रघुपति-भगति, यह बरदान न आन।
—तुलसीदास

३ या लकुटी अरु कामरियापर राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिकौ सुख नंदकी धेनु चराइ बिसारौं॥
आँखिनसों रसखानि कबै ब्रजके बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौतके धाम करीरके कुंजन ऊपर वारौं॥—रसखान

इसीलिए भक्तकी परम साधना है भगवान्‌के साथ लीला। भक्तोंमें अपनी उपासना-पद्धतिके अनुसार इस लीलाके रूपमें भेद हो सकता है, पर सबका लक्ष्य यह लीला ही है। जो भक्त दास्य-भावसे भजन करता है वह भगवान्‌की अनन्त-काल तक पद-सेवा करना चाहता है और जो मधुर भावसे भजन करता है वह गोलोकमें अनवरत विहारकी कामना करता है। जो निर्गुण भावसे भजन करता है वह भी भगवान्‌की चिन्मय सत्तामें विलीन हो जानेकी इच्छा नहीं रखता बल्कि अनन्त कालतक उसमें रमते रहनेकी लालसा करता है। इस प्रकार दादू भगवान्‌के साथ नित्य लीलामें रत हैं। 'प्रियसे रंग भरके खेलता हूँ, जहाँ रसीली वेणु बज रही है। अखण्ड सिंहासनपर प्रेम-व्याकुल स्वामी बैठे हैं और प्रेम-रसका पान करा रहे हैं। रंग भरके प्रियके साथ खेल रहा हूँ, यहाँ कभी वियोगकी आशंका नहीं है। यह कुछ पूर्वका संयोग है कि आदिपुरुष अन्तरमें मिल गया है। रंग भरके प्रियसे खेल रहा हूँ, यहाँ बारहों मास वसन्त है। सेवकको सदा आनन्द है कि युगयुग वह कान्तको देखता है[1]।' कबीरदासजी कहते हैं कि हाय, मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मैं अंग अंग लगाकर मिलूँगी, जिसके लिए मैंने यह देह धारण किया है। वह दिन कब आवेंगे जब तन, मन और प्राणोंमें प्रवेश करके तुम्हारे साथ सदा हिलमिलकर खेलूँगी। हे समर्थ रामराय! मेरी यह कामना परिपूर्ण करो[2]।' यह इस युगकी तीसरी समानधर्मिता है।

---

१ रँगभरि खेलौं पीवसों तहँ बाजे बेनु रसाल।
अकल पाट करि बैठ्या स्वामी प्रेम पिलावै लाल॥
रँगभरि खेलौ पीवसों कबहुँ न होइ वियोग।
आदिपुरुष अंतरि मिल्या कछु पूरबके योग॥
रँगभरि खेलौं पीवसों बारह मास वसन्त।
सेवग सदा अनंद है जुगि जुगि देखौं कंत॥—दादूदयाल

२ वे दिन आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंगि लगाइ।
हौं जानूँ जे हिलिमिलि खेलूँ तन मन प्रान समाइ॥
या कामना करौ परिपूरन समरथ हो रामराइ।
—कबीरग्रंथावली

कबीरदास, दादूदयाल आदि निर्गुण-मतवादियोंकी नित्य-लीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुण-मतवादियोंकी नित्य-लीला एक ही जातिकी है। अन्तर यही है कि पहली श्रेणीके भक्तोंके सामने भगवान्‌के व्यक्तिगत सम्बन्धात्मक रूपके साथ उसकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है और दूसरी श्रेणीके भक्तोंके सामने भगवान् सदा प्रतीकरूपमें आते हैं और इसीलिए उनकी अनन्तता और असीमता ओझल-सी हुई रहती है।

मध्य-युगके भक्ति-आन्दोलनकी एक बड़ी विशेषता यह है कि भक्त और भगवान्‌को समान बताया गया है। प्रेमका आधार ही समानता है। गुरुको भगवान्‌का रूप बताया गया है[1]। ये दोनों बातें साधारणतः भक्तिके भावावेशमें प्रशंसात्मक अर्थवाद समझी जाती हैं। अर्थात् यह मान लिया जाता है कि भावावेशमें भक्तको भगवान् कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सचमुच भक्त भगवान् है, बल्कि इसका मतलब इतना ही है कि भक्त महान् है। कहीं कहीं तो भक्तको भगवान्‌से भी बढ़कर बताया है। यह ध्यान देनेकी बात है कि तन्त्र-साधनामें गुरुको शिवके समान स्थान दिया गया है। सहजिया मतके जो बौद्ध दोहे और गान पाये गये हैं उनमें गुरुकी भक्तिके बहुत उपदेश हैं। एक दोहेमें कहा गया है कि गुरु सिद्धसे भी बड़े हैं। गुरुकी बात बिना विचारे ही करनी चाहिए।[2] कबीरदासने भी गुरुको गोविन्दके समान कहा है।[3] असलमें मध्ययुगके भक्ति-साहित्यमें गुरुका स्थान बहुत बड़ा है। वैष्णव भक्तोंके मतसे गुरु दो प्रकारके हैं—शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। शिक्षा-गुरु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और सिद्धावस्थामें दीक्षागुरु भी भगवान्‌के ही तुल्य हैं। कुछ विद्वानोंका खयाल है कि गुरुमहिमा मध्ययुगके साधकोंके अपने पूर्ववर्ती तान्त्रिकों और सहजयानके साधकोंसे उत्तराधिकारके रूपमें मिली थी।

---

१. भगति भगत भगवंत गुरु, नाम रूप वपु एक।
इनके पद वंदन किये, नासैं विघन अनेक॥ —भक्तमाल

२ म० म० हरप्रसादशास्त्री —'बौद्ध गान ओ दोहा', भूमिका पृ० ६

३. गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरैं, तौ पावै करतार॥

—कबीरग्रन्थावली

इसी तरह इस युगमें भक्तके समान भगवान्‌को समझनेकी प्रवृत्ति लगभग सभी भक्तोंमें समान रूपसे पाई जाती है। यह भी कहा गया है कि 'रामसे अधिक रामकर दासा*।' इस कथनका अर्थ यह है कि प्रेमकी दुनियामें बड़े-छोटेका कोई सवाल नहीं। भगवान् प्रेमके वशमें हैं। सूरदास कहते हैं कि 'मुरारि प्रेमके वशमें हैं, प्रीतिके कारण ही उन्होंने नटवर-वेश धारण किया प्रीतिवश ही उन्होंने गिरिराज धारण किया, प्रीतिके वश ही माखन चुराया, प्रीतिके कारण ही उनका सबसे अधिक प्रिय नाम 'गोपी-रँवन' है, प्रीतिके वश ही यमल तरुओंको मोक्ष दिया।' +अधिकतर इस भावका विकास सगुणोपासक भक्तोंमें ही पाया जाता है, पर निर्गुण मतवादी भक्त भी इस बातपर कम ज़ोर नहीं देते। दादू कहते हैं कि 'साधुकी रुचि है राम जपनेकी और रामकी रुचि है साधुको जपनेकी। दोनों ही एक भावके भावुक हैं, दोनोंके आरम्भ समान हैं, कामनाएँ समान हैं।×' वैष्णव भक्तोंमें कहानी मशहूर है कि एक बार भगवान्‌ने रुक्मिणीसे मज़ाकमें कहा कि मैं तुम्हें हर ले आया था, तुम्हारा वास्तविक प्रेमी कोई दूसरा

---

* पद्मोत्तर खण्डमें (विष्णुसे भी वैष्णवकी पूजा श्रेष्ठ है।)

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

और—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान् नार्चयेत्तु यः।
न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः॥

—भागवत ११।१९।२१

\+ प्रीतिके वश्यमें हैं मुरारी।
प्रीतिके वश्य नटवर-वेश धरयो प्रीतिवश करन गिरिराज धारी।
प्रीतिके वश्य भये माखन चोर प्रीतिके वश्य दाँवरी बँधाई॥
प्रीतिके वश्य गोपीरँवन प्रिय नाम प्रीतिके वश्य तरु यमल मोक्षदाई॥

—इत्यादि

× राम जपै रुचि साधुको, साधु जपै रुचि राम।
दादू दोनों एक ढँग, सम अरंभ सम काम॥

था, मैं तुम्हें उसी प्रेमीको लौटा देना चाहता हूँ। रुक्मिणी रोने लगीं[1]। ठीक इसी प्रकारका मज़ाक एक बार भगवान्ने राधिकासे किया। राधिकाने मज़ाकका जवाब दूसरे मज़ाकसे दिया। इस कथाका प्रयोजन प्रेमका तारतम्य दिखाना है। रुक्मिणी प्रेमकी दुनियामें सम्पूर्ण रूपसे न आ सकी थीं, उनके अन्दर ऐश्वर्य-बुद्धि अर्थात् पूज्य-पूजकका, बड़े-छोटेका भाव वर्तमान था; पर राधिका सोलहों आने प्रेममयी थीं, वहाँ बड़े-छोटेका सवाल ही नहीं था। अष्टछापके सभी कवियोंमें इस बातका बहुत सुन्दर विकास हुआ था।

प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। सूरदास कहते हैं कि प्रेम प्रेमसे ही होता है, प्रेमसे ही भवसागर पार किया जा सकता है; प्रेमके बन्धनमें ही सारा संसार बँधा है, एक प्रेमका 'निश्चय ही रसीली जीवन्मुक्ति है, प्रेमका निश्चय ही सत्य है जिससे गोपाल मिलते हैं।[2]

दादू कहते हैं, 'प्रेम ही भगवान्की जाति है, प्रेम ही भगवान्की देह है। प्रेम ही भगवान्की सत्ता है, प्रेम ही भगवान्का रंग। विरहका मार्ग खोजकर प्रेमका रास्ता पकड़ो, लौके रास्ते जाओ, दूसरे रास्ते पैर भी न रखना[3]।' कबीरदास कहते हैं कि 'स्वामी और सेवक एकमत हैं, दोनों मन ही मन (प्रेमसे ही) मिलते हैं। वह चतुराईसे प्रसन्न नहीं होता, मनके भावसे रीझता है।' तुलसी दास कहते हैं कि 'भगवान् भक्तपर ऐसी प्रीति करते हैं कि अपनी प्रभुता भूलकर भक्तके वश हो जाते हैं; यह सदाकी रीति है'।[4]

---

१ श्री मद्भागवतमें यह कथा बहुत ही सुन्दर है। कल्याणमें प्रकाशित हो चुकी है।

२ प्रेम प्रेमसों होय प्रेमसों पारहिं जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये ॥
एकै निश्चय प्रेमको जीवन्मुक्ति रसाल।
सांचो निश्चय प्रेमको जातैं मिलै गोपाल ॥

३ इश्क अलहकी जाति है इश्क अलहका अंग।
इश्क अलह औजूद है इश्क अलहका रंग ॥
बाट विरहकीसोधि करि पंथ प्रेमका लेहु।
लवके मारग जाइये दूसर पाँव न देहु ॥

४ ऐसी हरि करत दासपर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके वस होत, सदा यह रीति।

भक्त और भगवान्‌की तरह भक्ति भी अपरम्पार महिमामयी है । दादू-दयालने कहा है कि जैसे राम अपार हैं, भक्ति भी उसी प्रकार अगाध है । सभी साधुओंने पुकार पुकारकर कहा है कि इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है । जिस प्रकार राम अविगत हैं, भक्ति भी उसी प्रकार अलेख्य है, दोनोंकी कहीं सीमा नहीं है, यह शेष हजार मुँहसे कह रहे हैं । राम जैसे निर्गुण हैं, भक्ति भी वैसी ही निरञ्जन है, इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है, ऐसा संतोंने निश्चय किया है । जैसे पूर्ण राम हैं ठीक उसी प्रकार भक्ति भी पूर्ण है, इन दोनोंकी कोई सीमा नहीं है, ये दोनों दो चीजें भी नहीं हैं ।[1] इस प्रकार इस युगका साहित्य भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरुकी महिमासे भरा पड़ा है ।

इस युगके सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके मतके सन्तोंने नामकी महिमा खूब गाई है । नाम-माहात्म्य भागवत आदि प्रायः सभी पुराणोंमें पाया जाता है, पर मध्य-युगके भक्तोंमें इसका चरम विकास हुआ है । तुलसीदासने कहा है कि ब्रह्म और राम अर्थात् निर्विशेष चिन्मयसत्ता और अखण्डानन्त प्रेम स्वरूप भगवान् इन दोनोंमें नाम बड़ा है ।[2]

रामचरितमानसके आरम्भमें ही विस्तारपूर्वक बताया गया है कि रामकी अपेक्षा रामका नाम अधिक उपकारी है । कबीरने भी कहा है कि 'मैं भी कह रहा हूँ, ब्रह्मा और महेशने भी कहा है कि राम-नाम ही सारतत्त्व है । भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह रामनाम ही है; और सब दुःख है ।

---

१ जैसा राम अपार है तैसी भगति अपार ।
इन दोनोंकी मित नहीं सकल पुकारें साध ॥
जैसा अविगत राम है तैसी भगति अलेख ।
इन दोनोंकी मित नहीं सहसमुखी कहै सेख ॥
जैसा निरगुन राम है भगति निरंजन जान ।
इन दोनोंकी मित नहीं संत कहैं परवान ॥
जैसा पूरा राम है पूरन भगति समान ।
इन दोनोंकी मित नहीं दादू नाहीं आन ॥

२ ब्रह्म-रामतें नाम बड़ वरदायक वरदानि ।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि ॥

मन, वचन और कर्मसे इनका स्मरण करना ही सार है[1]। इसी प्रकार नानक, दादू आदि संतोंने भी नामका माहात्म्य वर्णन किया है। दादूने बताया है कि प्रभुके नाममें ही मति, बुद्धि, ज्ञान, प्रेम, प्रीति है[2]। दरिया साहब कहते हैं कि नामके बिना संसारसे छुटकारा नहीं मिल सकता। साधु-संग और राम-भजनके बिना काल निरन्तर लूटता रहेगा[3]। इस प्रकार नामकी अपार महिमाके सम्बन्धमें सभी संत एकमत हैं और सभी जानते हैं कि विधियोंमें सबसे श्रेष्ठ विधि रामनामका जपना है और निषेधोंका सिरताज है उसे भुला देना[4]। जिसने नामपर विश्वास कर लिया उसने सब आनन्द पा लिया और उसके सब दुःख दूर हो गये। वह प्राणी धन्य है।[5]

प्रेमोदयके जो क्रम[6] सगुणोपासक भक्तोंने निश्चय किये हैं वे सभी भक्तोंमें समानरूपसे समादृत हैं। भक्तियुगके साहित्यमें इन नौ बातोंका भूरि-भूरि वर्णन पाया जाता है। इनकी चर्चा पहले ही हो चुकी है।

---

१ कबीर कहै मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार है सब काहू उपदेस॥
भगति भजन हरि-नाँव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा कर्मना कबीर सुमिरन सार॥

२ साहिबजीके नाउँमाँ मति, बुधि, ज्ञान विचार।
प्रेम प्रीति सनेह सुख दादू सिरजनहार॥

३ नाम विना भव करम न छूटै॥
साधुसंग और रामभजन बिन काल निरंतर लूटै॥

४ नाम-सुमिरन सब विधिहूको राज रे।
नामको बिसारिबौ निषेध सिरताज रे॥ —विनयपत्रिका

५ नाम-प्रतीत भई जा जनकी लै अनन्द दुख दूरि रह्यौ।
'सूरदास' धन-धन वे प्रानी जो हरिको व्रत लै निबह्यौ॥

६ आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ —भक्तिरसामृतसिन्धुः

और भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें सगुण और निर्गुण मतवादी भक्त समान हैं। सभी भक्त अपनी दीनतापर जोर देते हैं, आत्म-समर्पणमें विश्वास रखते हैं और भगवान्‌की कृपासे ही मुक्ति मिल सकती है, इस बातपर सम्पूर्ण रूपसे विश्वास करते हैं। राम-अवतारके भक्त इस बातपर अधिक जोर देते हैं। तुलसीदास, सूरदास और दादूदयालमें ये बातें पूर्णताको प्राप्त हुई हैं।

८

भक्ति-कालके प्रमुख कवियोंका व्यक्तित्व

कबीर

कबीरदासने ऐसे कालमें जन्म ग्रहण किया था जिस समय भारतवर्षकी सांस्कृतिक अवस्था अत्यन्त उतार पर थी। वे एक ऐसे कुलमें उद्भूत हुए थे जो परम्परासे ज्ञानार्जनके अयोग्य समझा जाता था। बाहरके प्रलोभनसे हो, या भीतरके आघातसे, मुसलमानी शासनमें इस जातिको राजधर्म ग्रहण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर न तो इससे उनमें राजकीय गरिमाका संचार ही हो पाया और न प्राचीन हीनतासे उद्धार ही। नाम-मात्रके मुसलमान इस जुलाहे-जातिके रक्तमें प्राचीन हिन्दू-विश्वास पूर्ण मात्रामें वर्तमान था पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करनेका दरवाजा उनके लिए यहाँ भी रुद्ध ही था। ये गरीबीमें जनमते थे, उसीमें पलते थे और उसीमें मर जाया करते थे। लेकिन प्रतिभा किसी कुलविशेषका इन्तजार नहीं करती। कबीरके पूर्ववर्ती युगमें भी नीच समझी जानेवाली शास्त्र-ज्ञान-विवर्जित जातियोंमें प्रतिभाशाली पुरुष पैदा होते रहे और एक न एक प्रकारसे समाजमें शीर्षस्थानपर अधिकार करते ही रहे। इस प्रकारके पुरुषोंका एकमात्र द्वार था वैराग्य। आज साधुओंकी जो समस्या भारतवर्षमें वर्तमान है उसके मूलमें वही व्यवस्था है जो करोड़ोंकी संख्यामें आदमियोंको अकारण नीच समझनेका विधान करती है। कबीरदासके युगमें वैराग्यप्रधान साधुओंका जो दल था वह अधिकांशमें बौद्ध-धर्मके परिवर्तित रूपका अनुगमन कर रहा था। इनमें सहजयान, नाथपंथ, अवधूत, तंत्रवादी आदि थे। महायान बौद्ध-धर्मका दूरविभ्रष्ट प्रभाव देवदेवियोंके रूपमें प्रचलित था। चौरासी सिद्धोंमेंसे अनेक नीच समझी जानेवाली जातियोंकी देन थे। कबीरदासके लिए ज्ञान प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग यही था कि वे इन्हीं किसी एकके

हो जाते। इनके सिवा मुसलमान सूफियोंका भी रास्ता था। लेकिन यह बात एक तरहसे असम्भव ही थी कि अपने जुलाहेपनके साथ वे ज्ञानी हो जायँ।

सौभाग्यवश इस युगके महागुरु रामानन्दसे कबीरकी पहचान हो गई और जो बात असम्भव थी वह सम्भव हो गई। कबीरको वैराग्य नहीं लेना पड़ा पर वे वैराग्यके ज्ञाता हो सके, उन्हें योग-मार्गका साधक नहीं बनना पड़ा पर वे उसका तत्त्व समझ सके। इस तरह कबीरमें एक ही साथ कई बातोंका योग हुआ। वे दरिद्र और दलित थे इसलिए अन्त तक वे इस श्रेणीके प्रति की गई उपेक्षाको भूल न सके। उनकी नस-नसमें इस अकारण दण्डके विरुद्ध विद्रोहका भाव भरा था। वे मुसलमान थे अतएव सहज ही मुसलिम साधनाओंको ग्रहण भी कर सके और उनकी कमजोरियोंपर आघात भी कर सके। वे पंडित नहीं थे पर काशीमें नजदीकसे रहकर पंडितोंको देखनेका अवसर उन्हें मिला था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे और लोगोंकी भाँति अपनेको हल्का समझनेकी भावनाके शिकार न बने; क्योंकि उन्होंने अच्छी तरह देखा कि तथाकथित बड़े बड़े पंडित ठीक उसी प्रकारके हाड-मांसकी बुराइयों-भलाइयोंके बने हुए हैं जिस प्रकारका एक साधारण जुलाहा। वे जमकर आघात कर सकते थे और फिर भी इस लापरवाहीके साथ मानो उनपर कोई आघात कर ही नहीं सकता। वे दूसरोंकी कमजोरियोंको दिखा सकते थे, और विश्वास कर सकते थे कि उनके अन्दर ऐसी कोई कमजोरी है ही नहीं जिसपर दूसरा पक्ष कुछ कह सके। वे शास्त्रके दाँव-पेंचसे अनभिज्ञ थे, इसलिए पद पदपर दार्शनिककी भाँति 'ननु' लगाकर अपर पक्षकी सम्भावनाकी कल्पना नहीं कर सकते थे। इसीलिए उनकी उक्तियाँ तीरकी भाँति सीधे हृदयमें चुभ जाती हैं। यह विश्वास उनमें इतनी अधिक मात्रामें था कि कभी कभी पंडितोंको उसमें गर्वोक्तिकी गंध आती है। उनमें युगप्रवर्तकका विश्वास था और लोकनायककी हमदर्दी। इसीलिए वे एक नया युग उत्पन्न कर सके।

अपने पदोंमें उन्होंने पंडितको संबोधन किया है। लेकिन उसमें चिढ़ या कटुता नहीं है, अपने प्रति एक विश्वास है। उन्होंने शेखको संबोधन किया है और इस साहसके साथ गोया वह एक अदना आदमी है। उन्होंने अवधूतको पुकारके कहा है और इस तरह कहा है मानो अवधूतको उनसे बहुत कुछ सीखना है। उन्होंने अपने रामको भी कुछ इसी ढंगसे पुकारा है गोया वे उनके अपने अंग हों। इन सभी उक्तियोंमें उनका अपूर्व आत्मविश्वास, अपने प्रति

अवज्ञाका अभाव और साथ ही सरलता स्पष्ट मालूम होती है। उनकी सरलता और स्पष्टवादितामें कभी कभी शास्त्र-पंथियोंको अक्खड़ता मालूम होती है क्योंकि यह समझ लिया जाता है कि वे एक मामूली जुलाहे थे और उनको ये सब बातें कहनेका हक नहीं था !

कबीर मस्तमौला थे। जो कुछ कहते थे, साफ कहते थे। जब मौजमें आकर रूपक और अन्योक्तियोंपर उतर आते थे तब जो कुछ कहते थे वह सनातन कवित्वका शृंगार होता था। उनकी कवितासे कभी सनातन सत्य खर्वित नहीं हुआ। वे जो कुछ कहते थे अनुभवके आधारपर कहते थे। इसीलिए सभी रूपक सुलझे हुए और उक्तियाँ वेधनेवाली होती थीं। उनके राम जब उनके प्रिय होते हैं तो भी उनकी असीम सत्ता भुला नहीं दी जाती। नौ खुले दरवाजोंके घरमें बन्द दुलहिनके वियोगकी तड़प एक रहस्यमय प्रेम-लीलाकी ओर संकेत करती है जहाँ सीमा असीमसे मिलनेको व्याकुल है और असीम सीमाको पानेके लिए चंचल। इसीलिए इस सारे विश्वका प्रकाश है। अगर यह लीला न होती तो संसारमें कोई वस्तु ही न होती। हम अपने मुख-यंत्र आदिके बंधनमें असीम स्वर-सन्तानको बाँधनेकी चेष्टा करके एक तरहका आनन्द पाते हैं और इस बंधनसे ही असीम-स्वर-संतान,—अनाहत नादका आभास पाते हैं। वैसे ही सीमाके अन्यान्य उपकरणोंसे हम असीमताका अन्दाजा लगाते हैं और प्रिय भी अपने इन्हीं सीमामय विकारोंसे हमारे आनन्दका अनुभव करता है। कबीरके रूपकोंमें सदा इस महासत्यकी ओर संकेत होता रहता है।

[illegible] और भक्तिमें वह गलदश्रु भावुकता नहीं थी जो जरा-सी आँचसे ही पि[illegible]। यह प्रेम ज्ञानद्वारा नीत और श्रद्धाद्वारा अनुगमित था। वियोगकी बात भी वे उसी मौजसे कह सकते थे जिस तरह संयोगकी। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरासे मतवाला था, वह ज्ञानके महुवे और गुड़से बनी थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्मादका उसमें एकान्त अभाव था। भक्तिके अतिरेकमें उन्होंने कभी अपनेको अति पतित नहीं समझा। सिरसे पैर तक वे मस्तमौला थे: बेपरवाह, दृढ़, उग्र।

तीन प्रकारकी बातें वे लिखते थे: ज्ञानी और साधकोंको लक्ष्य करके, जनसाधारणके लिए और अपनी मौजमें। तीनोंमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, छन्दशास्त्र और अलंकारके ज्ञानसे भी वंचित थे। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था; फिर भी उनकी उक्तियोंमें कवित्वकी ऊँचीसे ऊँची

चीज प्राप्य है। दोहे और पद उन्होंने पूर्ववर्ती साधकोंसे अपनाये थे पर इनमें अपनी छाप डाल दी थे। साधनाके क्षेत्रमें युग-गुरु थे और साहित्यके क्षेत्रमें भविष्यके स्रष्टा। संस्कृतके 'कूप-जल'को छुड़ा कर उन्होंने भाषाके 'बहते नीर' में सरस्वतीको स्नान कराया। उनकी भाषामें बहुत-सी बोलियोंका मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजानमें वे भाषाकी सृष्टि कर रहे थे।

नानक

ये कबीरकी ही भाँति भगवानके निर्गुण रूपके उपासक थे। समाजके उस निचले स्तरसे उनका आगमन नहीं हुआ था जिससे कबीरका। इसीलिए उनकी उक्तियोंमें कबीरकी तरह तीव्रता नहीं है। फिर भी उन्होंने समाजमें प्रचलित भेद-भावको बुरा समझा। लेकिन कबीर और नानककी इन बातोंमें फर्क है। कबीरकी दृष्टिमें भेद-भावका रहना इसलिए अन्यायमूलक नहीं था कि उसमें एक श्रेणीके मनुष्योंपर निर्दयताका व्यवहार हो रहा है और यह मनुष्यका कर्तव्य होना चाहिए कि उन दलित मनुष्योंको भी अपनी बराबरीका समझे। वे स्वयं उस लांछनाको भोग चुके थे, इसीलिए, उनकी उक्तियोंमें उस विधानके लिए जो लोग उत्तरदायी हैं, उनपर खुला आक्रमण किया गया है। पर नानककी साम्य भावना विचार-प्रसूत और करुणा-मूलक थी। उन्होंने जिस सिक्ख-सम्प्रदायका प्रवर्तन किया था, उसे बादमें परिस्थितियोंमें पड़कर शस्त्र-ग्रहण करना पड़ा था और इसीलिए हमारे सामने उस सम्प्रदायकी भक्त मूर्तिकी अपेक्षा वीरमूर्ति ही अधिक नजर आती है और इसके प्रवर्तकमें भी हम उसी रुद्रताका अनुमान करने लगते हैं। पर बात असलमें ऐसी नहीं है। नानककी भक्ति [illegible]-मूलक थी। अपने शिष्य फरीदसे उन्होंने एक बार कहा था—'फरीद, अगर तुम्हें कोई मारे तो तुम उसका पैर पकड़ो!' इस उपदेशमें नानकका असली स्वरूप निहित है। उनके भजनोंमें श्रद्धालु भावसे हरि-भजनका उपदेश है और साथ ही विषय-सुखसे अपनेको दूर हटा लेनेका आदेश है।

हिन्दीमें गुरु नानकने बहुत कम लिखा है। उनकी अधिकांश उक्तियोंमें पंजाबीपन अधिक है। लेकिन 'नानक' नाम देकर अन्यान्य गुरुओंने भी पद लिखे हैं। इन पदोंमेंसे अधिकांशकी भाषा हिन्दी है। बहुत लोगोंने भ्रमवश इन सभी उक्तियोंको नानककी रचना समझ लिया है।

नानककी रचनाओंमें एक अत्यन्त अहंभाव-हीन निरीह भक्तका परिचय

मिलता है। भाषा सादी, सहज और प्रभाव डालनेवाली है। पदोंमें कबीरकी-सी मस्ती तो नहीं है, पर श्रद्धा और भगवान्‌के प्रति विश्वास प्रचुर मात्रामें है। कबीरदासकी भाँति नाना जातिके साधकोंसे गृहीत शास्त्रीय शब्दोंका अभिनव अर्थ इन्होंने नहीं किया और न रूपक आदि अलंकारोंका आश्रय लेकर पदोंको कवित्वपूर्ण बनाया है। साफ भाषाके दर्पणमें उनके मनोभाव सुन्दर रूपमें प्रतिफलित हुए हैं।

सूरदास

सूरदास कबीरकी तरह समाजके निम्नतर स्तरमें नहीं पैदा हुए थे। वे ऊँची जातिके,—शायद सारस्वत ब्राह्मण वंशके रत्न थे। लेकिन उस युगमें सूरदासने अपने इर्द-गि[illegible] समाजको देखा था उसका कोई उच्च आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते [illegible] पी भी सा निरोगी होते थे, और चार दिनतक हँस या रोकर चल बसते थे। न लग [illegible] धिका प्रवृत्तिके थे वे दस-बीस मन्दिर बनवा देते थे, यज्ञ-याग करके हजार पाँच [illegible] ना ब्राह्मणोंके भोजन करा देते थे। ऊँचे वर्गके लोग अपनी झूठी शानमें मस्त रहते थे। उनका कर्तव्य था विलासिता। समाजकी इसी पतित अवस्थाका वर्णन सूरदासने बड़ी जोरदार भाषामें किया है। सम्मिलित परिवार-प्रथा वर्तमान थी, घरोंमें झगड़े सदा होते रहते थे। जो जब तक कमा सकता था वह तबतक चैन क[illegible] और शिथिलेन्दिय होनेपर उसीके लड़के-वाले उसका निरादर [illegible] हराई जा रही है,—वि [illegible] परिस्थितिमें विकसित भावप्रवण कविके चित्तपर इस [illegible] नहीं हुआ। जिसने [illegible] स्वाभाविक है। सूरदास इस विरक्तिको लेकर बड़े हुए [illegible] लगेगी, शायद यह [illegible] र्गमें आनेके पहले उनके अन्दर इस विरक्ति प्रधानता [illegible] ो इस विशाल वनस्थली [illegible] हृदय लेकर पैदा हुए थे और अन्त तक बालकका [illegible] ध्यानके समान नहीं जिसका [illegible] त्रा निबाह गये। वल्लभाचार्यके संसर्गमें आनेपर [illegible] करता है, बल्कि उस अ[illegible] दीक्षा ली और सरल हृदय बालककी भाँति इस नई [illegible] ामें ही घुल-मिल गया है! [illegible] ोह एकदम त्याग दिया।

लीला-गानमें भी [illegible] नहीं थे, ज्ञान-मार्गी भी नहीं [illegible] किया ही नहीं। वे कहीं भी [illegible] माताका प्रेम, पुत्रका प्रेम, गोप-गोपियोंका प्रेम [illegible] के प्रति कटु नहीं हुए। यह भी [illegible] और पत्नीका प्रेम,—इन बातोंसे ही सूरसा[illegible] कन वे कबीरदासकी तरह ऐसे समाजसे [illegible] कारके प्रेमकी गंध भी नहीं है जो प्रियकी [illegible] अपमानित होता था और जहाँका [illegible] कुंठित और वियोगावस्थामें

१ चौरासी कठोर और तपोमय था। सूरदास

मिलन-लालसामें भरा रहता है। यशोदा कभी उस माताकी तरह साश्रु नयनोंसे देवताओंकी ओर नहीं ताकती जो सदा आँचल पसार कर वर माँगा करती है कि, हे भगवान्, जिसे पाया है वह खो न जाय। इसी प्रकार राधिकाने कृष्णके व्रजवासके समय कभी भी,—मान और अभिमानके समय भी कातर नयनोंसे नहीं देखा। सूरदासका प्रेम संयोगके समय सोलह आना संयोग-मय है और वियोगके समय सोलह आना वियोगमय है क्योंकि उनका हृदय बालकका था जो अपने प्रियके क्षणिक वियोगमें भी अधीर हो जाता है और क्षणिक सम्मिलनमें ही सब कुछ भूलकर किलकारियाँ मारने लगता है।

बाल-स्वभावके वर्णनमें सूरदास बेजोड़ समझे जाते हैं। वे स्वयं वयः प्राप्त बालक थे। बाल-स्वभाव चित्रणमें वे एक तरहका अ[illegible] अनुभव करते जान पड़ते हैं और ठीक उसी प्रकार मातृ-हृदयका मर्म [illegible] समझ लेते हैं। केवल कृष्णका बाल-स्वभाव ही उन्होंने नहीं वर्णन किया, र[illegible]की बाल-केलिको भी समान रूपसे आकर्षक बनाया है। सच पूछा जाय तो राधिका और कृष्णका सारा प्रेम-व्यापार जो सूरसागरमें वर्णित है, बालकोंका प्रेम-व्यापार है। वही चुहल, वही लापरवाही, वही मस्ती, वही मौज। न तो इस प्रेममें कोई पारिवारिक रस-बोध ही है और न आमुष्मिक [illegible] ही। सारी लीला साफ, सीधी और सहज है। जैसा [illegible]में पारास्थतिमें [illegible]चार्यने बताया है 'लीलाका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि [illegible] उस सम्प्रदायकी [illegible] है'। सूरदास इस लीलाको ही चरम साध्य मानते हैं [illegible]और इसके प्रवर्तकमें भ

प्रेमके इस साफ और [illegible]लमें ऐसी नहीं है। [illegible] भारतीय साहित्यमें किसी और कविने नहीं किया। [illegible] उन्होंने एक बार कहा [illegible]षता है। वियोगके समय राधिकाका जो चित्र सूरदा[illegible] पकड़ो!' इस उपदेशमें [illegible] इस प्रेमके योग्य ही है। श्यामसुन्दरके मिलन-समय [illegible]द्धाल भावसे हरि-भजन[illegible]ला और हँसोड़ राधिका वियोगके समय मौन, शान्त [illegible]टा लेनेका आदेश है। [illegible]द्धवसे अन्यान्य गोपियाँ काफी बकझक करती हैं पर [illegible] कम लिखा है। उनकी [illegible] उद्धवने श्रीकृष्णसे उनकी जिस मूर्तिका वर्णन [illegible] 'नानक' नाम देकर अन्यान्य [illegible]ता है। उन्होंने राधिकाकी आँखोंको निरन्त[illegible] [illegible]शकी भाषा हिन्दी है। बहुत [illegible]रासे आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था [illegible]चना समझ लिया है। [illegible]-शेष रह गया था। वे दरवाजेसे आगे न [illegible] अत्यन्त अहंभाव-हीन निरीह भ[illegible] जब सन्देश

माँगा तो वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं। प्रेमका वही रूप जिसने संयोगमें कभी विरहाशंकाका अनुमान नहीं किया, वियोगमें इस मूर्तिको धारण कर सकता है। असलमें सूरदासकी राधिका शुरूसे आखिर तक सरल बालिका हैं। उनके प्रेममें चंडीदासकी राधाकी तरह पद पद पर सास-ननंद का डर भी नहीं है और विद्यापतिकी किशोरी राधिकाके समान रुदनमें हास और हासमें रुदनकी चातुरी भी नहीं है। इस प्रेममें किसी प्रकारकी जटिलता नहीं है। घरमें, वनमें, घाटपर, कदम्ब-तले, हिंडोलेपर,—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं वह अपने आपमें ही पूर्ण है, मानों वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है।

सूरदास जब अपने विषयका वर्णन शुरू करते हैं तो मानों अलंकारशास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे दौड़ा करता है। उपमाओंकी बाढ़ आ जाती है, रूपकोंकी वर्षा होने लगती है। संगीतके प्रवाहमें कवि स्वयं बह जाता है। वह अपनेको भूल जाता है। काव्यमें इस तन्मयताके साथ शास्त्रीय पद्धतिका निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलंकारोंको देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारोंका उपयोग कर रहा है। पन्ने-पर पन्ने पढ़ते जाइए, केवल उपमाओं और रूपकोंकी घटा, अन्योक्तियोंका ठाठ, लक्षणा और व्यंजनाका चमत्कार,—यहाँ तक कि एक ही चीज दो दो
चार चार दस दस बार तक दुहराई जा रही ... स्वाभाविक और
सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। कि उनके गुरु वल्लभ ...ढ़ा उसे यह
बात सुनकर कुछ अजीबसी लगेगी, शायद लीला ही स्वयं प्रयोज... सके, पर
बात सही है। काव्य-गुणोंकी इस बिशाल वनस ... न सौन्दर्य
है। वह उस रमणीय उद्यानके समान नहीं जि मार्जित रूपका चित्रण मालीके
कृतित्वकी याद दिलाया करता है, बल्कि उ यह सूरदासकी अपनी विशेषता है
जिसका रचयिता रचनामें ही घुल-मिल गया ...सने चित्रित किया है वह भ

सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञान-मार्गी भी ...की मुखरा, लीलावती, चंचलेका
भान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं और गम्भीर हो जाती है। जाद
या व्यक्तिविशेषके प्रति कटु नहीं हुए। यह भ राधिका वहाँ जाती भी नहीं।
शंक है। लेकिन वे कबीरदासकी तरह ऐसे समा किया है उससे पत्थर भी पिघल स
लांछित और अपमानित होता था और जहाँक र बहते देखा था, कपोल-देश वारि-
अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था। सूरदास आखें धँस गई थीं, शरीर कंका
बढ़ सकी थीं। प्रियके प्रिय वयस्य

गृहस्थ जीवन विलासिताका जीवन था, मिथ्याचार और फरेबका जीवन था और 'यौवन-मद, जन-मद, धन-मद, विध-मद, भारी,' का जीवन था। इसीलिए इस समाजसे वैराग्य ग्रहण करना उनका मत था। वे तुलसीदासकी भाँति दृढचेता सेनानायक नहीं थे जो समाजकी कुरीतियोंसे कुशलता-पूर्वक बाहर निकलकर उसपर गोलाबारी आरम्भ कर दें। नन्ददासकी तरह पर-पक्षकी युक्तियोंको तर्कबलपर निरास करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ोंमें पड़नेके ही नहीं।

भक्तोंमें मशहूर है कि सूरदास उद्धवके अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि-जीवनकी सर्वोत्तम आलोचना है। वृहद्भागवतामृतके अनुसार उद्धव भगवानके महाशिष्य, महाभृत्य, महामात्य और महाप्रियतर थे। वे सदा श्रीकृष्णके साथ रहते थे। शयनके समय, भोजनके समय, राज-कार्यके समय,—कभी भी भगवान्‌का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तककी अन्तःपुरमें भी साथ रहते थे। केवल एक बार उन्होंने भगवान्‌का साथ छोड़ा था और वह उस समय जब उन्हें भगवान्‌ने ब्रजमें गोपियोंकी खबर लेनेको भेजा था। इस बार उन्हें भगवत्संगसे दूना आनन्द मिला था। उनके तीन काम थे, भगवान्‌की पद-सेवा, उनसे परिहास करना, और क्रीड़ामें साथ रहना। पहले काममें वे इतने तन्मय रहते थे कि अबोध लोगोंको यह भ्रम हो जाता था कि वे पागल हो गये हैं। सूरदासके जीवनका यही परिचय है। उद्धवके सभी गुण उनमें वर्तमान थे। अपने काव्यमें एक ही जगह उन्होंने भगवान्‌का साथ छोड़ा है, भ्रमर-गीतमें। और इस बातमें कोई सन्देह ही नहीं कि इस अवसरपर सूरदासको भी दूना रस मिला था। इसी तरह इस कथनका यह भी अर्थ है कि सूरदासकी भक्तिमें दास्य, (प्रीति-रति,) सख्य और मधुर इन तीनों भावोंका सम्मिश्रण है।

नन्ददास

ये सूरदासकी अपेक्षा तार्किक ज्यादा और कवि कम थे। अष्टछापके कवियोंमें सूरदासके बाद नंददासका ही स्थान है। उनकी भाषा साफ और मार्जित, विचार-पद्धति शास्त्रीय और वल्लभाचार्यके अनुकूल, तथा भाव असाधारण थे। भ्रमरगीतमें उद्धव और गोपियोंके संवादमें इन्होंने बड़ी मार्मिकताके साथ निर्गुण-

वादके विरुद्ध सगुणवादका पक्ष स्थापन किया है। इनके बारेमें प्रसिद्ध है कि 'और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।'

तुलसीदास

डॉक्टर ग्रियर्सनने कहा है कि बुद्धदेवके बाद भारतमें सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। ये असाधारण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए। जिस युगमें इनका जन्म हुआ था उस युगके समाजके सामने कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाजके उच्च स्तरके लोग विलासिताके पंकमें उसी तरह मग्न थे जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदासने देखा था। निचले स्तरके पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित और रोग-ग्रस्त थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घरकी संपत्ति नष्ट हो गई या स्त्री मर गई, संसारमें कोई आकर्षण नहीं रहा, वही चट सन्यासी हो गया। सारा देश नाना सम्प्रदायके साधुओंसे भर गया था। 'अलख' की आवाज गर्म थी हालाँ कि ये 'अलखके लखनेवाले' कुछ भी नहीं लख सकते थे। नीच समझी जानेवाली जातियोंमें कई पहुँचे हुए महात्मा हो गये थे, उनमें आत्म-विश्वासका संचार हो गया था। पर, जैसा कि साधारणतः हुआ करता है, शिक्षा और संस्कृतिके अभावमें यही आत्म-विश्वास दुर्वह गर्वका रूप धारण कर गया था। आध्यात्मिक साधनासे दूर पड़े हुए ये गर्वमूढ़ पंडितों और ब्राह्मणोंकी बराबरीका दावा कर रहे थे। परंपरासे सुविधा-भोग करनेकी आदी ऊँची जातियाँ इससे चिढ़ा करती थीं। समाजमें धनकी मर्यादा बढ़ रही थी। दरिद्रता हीनताका लक्षण समझी जाती थी। पंडितों और ज्ञानियोंका समाजके साथ कोई भी सम्पर्क नहीं था। सारा देश विशृंखल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्श-हीन और बिना लक्ष्यका हो रहा था। एक ऐसे आदमीकी आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर-विभ्रष्ट टुकड़ोंमें योग-सूत्र स्थापित करे। तुलसीदासका अविर्भाव ऐसे समयमें ही हुआ।

भारतवर्षका लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाजमें नाना भाँतिकी परस्परविरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीतामें समन्वयकी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। वे स्वयं नाना प्रकारके सामाजिक स्तरोंमें रह चुके थे। ब्राह्मण-वंशमें उनका जन्म हुआ था, दरिद्र होनेके कारण उन्हें दर दर भटकना पड़ा था, गृहस्थ-जीवनकी सबसे

निकृष्ट आसक्तिके वे शिकार हो चुके थे, अशिक्षित और संस्कृति-विहीन जनतामें वह रह चुके थे और काशीके दिग्गज पंडितों तथा सन्यासियोंके संसर्गमें उन्हें खूब आना पड़ा था। नाना पुराण निगमागमका अभ्यास उन्होंने किया था और लोक-प्रिय साहित्य और साधनाकी नाड़ी उन्होंने पहचानी थी। पंडितोंने सप्रमाण सिद्ध किया है कि उस युगमें प्रचलित ऐसी कोई भी काव्य-पद्धति नहीं थी जिसपर उन्होंने अपनी छाप न लगा दी हो। चंदके छप्पय, कबीरके दोहे, सूरदासके पद, जायसीकी दोहा-चौपाइयाँ, रीतिकारोंके सवैया-कवित्त, रहीमके बरवै, गाँववालोंके सोहर आदि जितनी प्रकारकी छन्द-पद्धतियाँ उन दिनों लोकमें प्रसिद्ध थीं, सबको उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभाके बलपर अपने रँगमें रंग दिया।

लोक और शास्त्रके इस व्यापक ज्ञानने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वयकी विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्रका समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्यका समन्वय, भक्ति और ज्ञानका समन्वय, भाषा और संस्कृतका समन्वय, निर्गुण और सगुणका समन्वय, कथा और तत्त्व-ज्ञानका समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डालका समन्वय, पांडित्य और अपांडित्यका समन्वय,—राम-चरितमानस शुरूसे अखीरतक समन्वयका काव्य है। इस महान् समन्वयके प्रयत्नका आधार उन्होंने राम-चरितको चुना। वस्तुतः इससे अधिक सुन्दर चुनाव हो नहीं सकता। कुछ पश्चिमी समालोचकोंने कहा है कि कविता अच्छी करना चाहते हो तो विषय अच्छा चुनो। राम-नामका प्रचार उन दिनों बड़े जोरोंपर था। निर्गुण भावसे भजन करनेवाले भक्तोंने इस नामको ही अपनाया था। लोकमें इस शब्दकी महिमा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। तुलसीदासके लिए काम इतना ही बाकी था कि लोकगृहीत इस नामको मर्यादापुरुषके चरित्रसे संबद्ध कर दिया जाय। कृष्ण-भक्ति खूब प्रचलित थी, पर तुलसीदास मन ही मन मधुर भावकी उपासनापर झुँझलाये हुए थे। वे इसके विरुद्ध तो कुछ कह नहीं सकते थे, क्योंकि यह भी 'हरि-भक्ति-पंथ' था और उनके उद्भावित पंथसे कम 'श्रुतिसम्मत' न था; पर उन्होंने भक्तिका प्रसंग आते ही दास्यभावकी भक्तिको श्रेष्ठ कहकर अप्रत्यक्ष रूपमें मधुर भावका प्रत्याख्यान कर दिया। निर्गुणियोंपर भी वे उसी तरह झुँझलाये हुए थे, पर यह पथ भी श्रुति-सम्मत था, इसलिए इसके विरुद्ध बोलनेमें भी उनका मुँह बन्द था और इसीलिए वे इसे मान कर भी नहीं मानना चाहते थे। प्रसंग आते ही वे रामके सगुण रूपपर जोर

देते हैं। कथामें कहीं किसी भक्तसे भगवानकी भेंट हो गई तो चट उसने वरदानमें माँगा कि हे राम, तुम्हारा यह सगुण रूप ही मेरे मनमें बसे, निर्गुण नहीं। इसी तरह उच्च वर्णके होनेके कारण स्वभावतः ही उस युगको तथाकथित 'वर्णाधमों' की बढ़ बढ़ कर की हुई बातें उन्हें बुरी लगती थीं पर कथा-प्रसंगमें सर्वत्र उनकी महिमा गाई है। हाँ, अवश्य ही इस बातके लिए उनमें भक्तिका होना आवश्यक माना गया है। इस समस्याका उन्होंने यही समन्वय किया है कि अगर छोटी जातिका आदमी भक्त हो तो वह मुहूर्त-भरमें ऊँची जातिके भक्तोंसे ऊपर उठ जाता है, 'भरत-सम भाई,' हो जाता है। उनके राम अधम-उधारन हैं जो हठपूर्वक अधमोंका उद्धार करते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि तुलसीदासने रूपकी अपेक्षा नामको श्रेष्ठ बताया है यहाँ तक कि 'ब्रह्म-रामते नाम बड़' है। अर्थात् निर्गुण भावसे भजन किया गया हो या सगुण भावसे, नामकी महिमामें कोई सन्देह नहीं। इस सिद्धान्तके द्वारा उन्होंने सहज ही अपने विरुद्ध-वादियोंको भी अपनी श्रेणीमें ले लिया है।

समन्वयका मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरोंको झुकनेके लिए बाध्य करना। तुलसीदासको ऐसा करना पड़ा है। यह करनेके लिए जिस असामान्य दक्षताकी जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि राम-चरित-मानसके कथा-काव्यकी दृष्टिसे अनुपमेय होनेभर भी उसके प्रवाहमें बाधा पड़ी है। अगर वह विशुद्ध कविताकी दृष्टिसे लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता। यहाँ दार्शनिक मतकी विवेचना है तो वहाँ भक्तितत्त्वकी व्याख्या। फिर भी अपनी असामान्य दक्षताके कारण तुलसीदासने इस बाधाको यथा-संभव कम किया है। अपने प्रयत्नमें वे इतने अधिक सफल हुए हैं कि भावुक समालोचकको उसमें कोई दोष ही नहीं दिखाई देता। कथाका झुकाव इतनी मार्मिकताके साथ पहचाना गया है कि यह बात आदमी प्रायः भूल जाता है कि रामचरितमानसका लक्ष्य केवल कथा ही नहीं और कुछ भी है। शुष्क तत्त्वज्ञान तुलसीदासको कभी प्रिय नहीं हुआ, जब कभी उसकी चर्चा वे करते हैं तो कविकी भाषामें। उपमाओं और रूपकोंके प्रयोगसे विषय अत्यन्त साफ हो जाता है और जहाँ कविता करनेके लिए तुलसीदास कविका भाषाका प्रयोग करते हैं, वहाँ वे अद्वितीय नजर आते हैं।

चरित्र-चित्रणमें तुलसीदास अतुलनीय हैं। उनके सभी पात्र हाड़-मांसके बने हमारे ही जैसे जीव हैं। उनमें जो अलौकिकता है वह भी मधुर और समझमें आने लायक है। उनके पात्रोंके प्रत्येक आचरणमें कोई न कोई विशेष लक्ष्य होता है। मानव-जीवनके किसी न किसी अंगपर उनसे प्रकाश पड़ता है, या किसी न किसी सामाजिक या वैयक्तिक कुरीतिकी तीव्र आलोचना व्यक्त होती है या मानव-मानवमें सद्भावनाकी पुष्टिकी ओर इशारा रहता है। लीलाके लिए लीला-गान उन्होंने कहीं नहीं किया। वे आदर्शवादी थे और अपने काव्यसे भावी समाजकी सृष्टि कर रहे थे। वे उस देशमें पैदा हुए थे जहाँ कल्पना की जा सकती है कि रामके जन्मके साठ हजार वर्ष पहले रामायण काव्य लिखा गया अर्थात् जहाँ कवि भविष्यका द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है। तुलसीदास ऐसे ही भविष्य-स्रष्टा थे। आज तीन सौ वर्ष बाद इस विषयमें कोई संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाजकी सृष्टि सचमुच की थी। आजका उत्तर-भारत तुलसीदासका रचा हुआ है। वही इसके मेरु-दंड हैं।

भाषाकी दृष्टिसे भी तुलसीदासकी तुलना हिन्दीके किसी अन्य कविसे नहीं हो सकती। जैसा कि पहले ही बताया गया है, उनकी भाषामें भी एक समन्वयकी चेष्टा है। तुलसीदासकी भाषा जितनी ही लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उसमें संस्कृतका मिश्रण बड़ी चतुरताके साथ किया गया है। जहाँ जैसा विषय होता है, भाषा अपने आप उसके अनुकूल हो जाती है। तुलसीदासके पहले किसीने इतनी मार्जित भाषाका उपयोग नहीं किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखनेमें तो तुलसीदास कमाल करते हैं। उनकी विनय-पत्रिकामें भाषाका जैसा जोरदार प्रवाह है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है वहाँ तुलसीदासकी उक्तियाँ तीरकी तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गम्भीर होती हैं और वहाँ पाठकका मन चीलकी तरह मँड़रा कर प्रतिपाद्य सिद्धान्तको ग्रहण कर उड़ जाता है।

मानव-प्रकृतिका ज्ञान तुलसीदाससे अधिक उस युगमें किसीको नहीं था। पर यह एक आश्चर्यकी बात है कि उन्होंने विश्व-प्रकृतिको अपने काव्यमें कोई स्थान नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ कहीं उन्होंने थोड़ी-सी चर्चा की है वहीं उसमें कमाल किया है, पर असलमें वे इससे उदासीन ही रहे। जो भावुक सहृदय पद-पदपर फूल-पत्तियोंको देखकर मुग्ध हो जाता है,

नदी पहाड़को देखकर तन-मन बिसार देता है, वह तुलसीदासके काव्यका लक्ष्यीभूत श्रोता नहीं है। तुलसीदास प्रकृत्या भावुकताको पसंद नहीं करते थे। एक ही जगह उनकी भावुकता 'पुलक-गात' और 'लोचन-सजल' के रूपमें प्रकट होती है और वह भगवान्के 'करुणायतन' या 'मोहन-मयन' रूपको देखकर। इससे भी अधिक अजीब बात यह है कि उनकी उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओंमें कहीं कहीं काव्य-गत रूढ़ियोंका बुरी तरह पालन किया गया है। उनके जैसे प्रतिभाशाली कविके लिए, जो इच्छा करते ही नई नई उपमाओं और उत्प्रेक्षाओंका ठाठ लगा सकता था, जो इस गुणमें अतुलनीय था, यह बात एक अजीब-सी लगती है। शायद इस बातका भी समाधान उनकी समन्वयात्मिका प्रतिभाके द्वारा ही किया जा सकता है जो नवीनताके साथ सदा प्राचीनताका सामंजस्य-विधान करती थी।

तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्यके स्रष्टा थे। इन रूपोंमें उनका कोई भी रूप किसीसे घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओरसे समता (Balance) की रक्षा करते हुए एक अद्वितीय काव्यकी सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारतका मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारतका जन्म हो गया होगा।

दादूदयाल

दादू तुलसीदासके समकालीन थे। वे कबीरदासके मार्गके अनुगामी थे। उनकी उक्तियोंमें बहुत कुछ कबीरदासकी छाया है, फिर भी वे वही नहीं थे जो कबीरदास थे। समाजके निचले स्तरसे उनका भी आविर्भाव हुआ था, जन्मगत अवहेलनाको लेकर इनका भी विकास हुआ था, पर उस युग तक कबीरका प्रवर्तित निर्गुणमतवाद काफी लोक-प्रिय हो गया था। नीच कही जानेवाली जातियोंमें उत्पन्न महापुरुषोंने अपनी प्रतिभा और भगवन्निष्ठाके बलपर समाजके विरोधका भाव कम कर दिया था। दादूने शायद इसीलिए परम्परा-समागत उच्च-नीच विधानके लिए उत्तरदायी समझी जानेवाली जातियों पर उस तीव्रताके साथ आक्रमण नहीं किया जिसके साथ कबीरने किया था। इसके सिवा उनके स्वभावमें भी कबीरके मस्तानेपनके बदले विनय-मिश्रित मधुरता अधिक थी। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों और साधना-सम्बन्धी मिथ्याचारोंपर

आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते हैं। अपने जीवन-कालमें ही वे इतने प्रख्यात हुए थे कि सम्राट् अकबरने उन्हें सीकरीमें बुलाकर चालीस दिन तक निरन्तर सत्संग किया था, फिर भी दादूके पदोंमें अभिमानका भाव बिलकुल नहीं है। उन्होंने बराबर इस बातपर जोर दिया है कि भक्त होनेके लिए नम्र शीलवान्, अफलाकांक्षी और वीर होना चाहिए। कायरता उनके निकट साधनाकी सबसे बड़ी शत्रु है। वही साधक हो सकता है जो वीर हो, सिर उतार कर रख सके। कबीर (क-बीर) अपना सिर काट कर (क अक्षर छोड़कर) ही बीर हो सके थे। जो साहसके साथ मिथ्याचारका विरोध नहीं कर सकता वह वीर भी नहीं, वह वीर साधक भी नहीं। दादूके इस कथनका बेढंगा अर्थ करके बादके उनके शिष्योंका एक दल (नागा) केवल लड़ाकू ही रह गया।

कबीरकी भाँति दादूने भी रूपकोंका कहीं कहीं आश्रय लिया है, पर अधिक नहीं; अधिकांशमें उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझमें आ जाने लायक होती हैं। इनके पदोंमें जहाँ निर्गुण निराकार निरंजनको व्यक्तिगत भगवान्के रूपमें उपलब्ध किया गया है वहाँ वे कवित्वके उत्तम उदाहरण हो गये हैं। ऐसी अवस्थामें प्रेमका इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियोंकी याद आ जाती है। सूफियोंकी भाँति इन्होंने भी प्रेमको ही भगवान्का रूप, नाम और जाति बताया है। विरहके पदोंमें सीमका असीमसे मिलनके लिए तड़पना सहृदयको मर्माहत किये बिना नहीं रह सकता।

भाषा इनकी यद्यपि पश्चिमी राजस्थानीसे मिली हुई परिमार्जित हिन्दी है तथापि उसमें गजबका जोर है। स्थान स्थानपर प्रकृतिका जो वर्णन उन्होंने किया है वह देखने ही योग्य है। भाषामें किसी प्रकारका काव्य-गुण आरोप नहीं किया गया, छन्दोंका नियम प्रायः भंग होता रहता है, फिर भी अपने स्वाभाविक वेगके कारण वह अत्यन्त प्रभावजनक हुई है।

कबीरकी भाँति दादूदयाल भी जिन पाठकोंको उद्देश्य करके लिखते हैं वे साधारण कोटिके अशिक्षित आदमी हैं। उनके योग्य भाषा लिखनेमें दादूको स्वभावतः ही सफलता मिली है। क्योंकि वे स्वयं भी कोई पंडित नहीं थे और जो कुछ कहते थे, अनुभवके बलपर कहते थे। इनके पदोंमें मुसलमानी साधनाके शब्द भी अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वे स्वयं जन्मसे मुसलमान थे और मुस्लिम

उपासना-पद्धतिके संसर्गमें आ चुके थे, फिर भी उनका मत अधिकतर हिन्दू भावापन्न था। कबीरके समान मस्तमौला न होनेके कारण वे प्रेमके वियोग और संयोगके रूपकोंमें वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं पर स्वभावतः सरल और निरीह होनेके कारण ज्यादा सहज और पुरअसर बना सके हैं। कबीरका स्वभाव एक तरहके तेजसे दृढ़ था पर दादूका स्वभाव नम्रतासे मुलायम। कबीरके लिए उनका स्वभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि उन्हें अपने रास्तेके बहुतसे झाड़झंखाड़ साफ करने थे। दादूको मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और इसमें उनके मीठे स्वभावने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादूको कबीरकी अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले। पर जीवनमें कहीं भी दादू कबीरके महत्त्वको न भूल सके और पद पदपर कबीरका उदाहरण देकर साधना-पद्धतिका निर्देश करते रहे।

सुन्दरदास

दादूके शिष्योंमें सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीयज्ञान-सम्पन्न महात्मा थे। बहुत छोटी उमरमें उन्होंने दादूका शिष्यत्व ग्रहण किया था। बादमें काशीमें आकर बहुत दीर्घ कालतक शास्त्राभ्यास किया था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उनकी कविताके बाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टिसे कथंचित् निर्दोष हो सके थे पर वक्तव्य-विषयका स्वाभाविक वेग, जो इस जातिके सन्तोंकी सबसे बड़ी विशेषता है, कम हो गया। विषय अधिकांशमें संस्कृत ग्रंथोंसे संगृहीत तत्त्ववाद है जो हिन्दी-कवितामें नयी चीज होनेपर भी शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले सहृदयोंके लिए विशेष आकर्षक नहीं है। छत्र बंध आदि प्रहेलिकाओंसे भी उन्होंने अपने काव्यको सजानेका प्रयास किया है। असलमें सुन्दरदास संतोंमें अपने बाह्य उपकरणोंके कारण विशेष स्थानके अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषयमें तो कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय ढंगके वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं।

सुन्दरदासका अनुभव विस्तृत था। देश देशान्तर घूमा हुआ था। जब कभी वेदान्तका तत्त्वज्ञान छोड़कर ये अन्य विषयोंपर लिखते थे तब निःसन्देह रचना उत्तम कोटिकी होती थी। कुछ लोगोंका अनुमान है कि सुन्दरदास एक मात्र ऐसे निर्गुणिया साधक थे जिन्होंने, सुशिक्षित होनेके कारण, लोक-धर्मकी उपेक्षा नहीं की है। लेकिन यह भ्रम है। कबीर, दादू आदि सन्तोंने पतिव्रताके अंगोंमें

पातिव्रत धर्मका खूब बखान किया है । साधनामें भक्तको भी इस व्रतका पालन करनेका विधान किया है और वीरोंका सम्मान तो दादूसे अधिक अन्यत्र दुर्लभ ही है ।

रज्जब

रज्जबदास निश्चय ही दादूके शिष्योंमें सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे । उनकी भाषामें भी राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथा-कथित शास्त्रीय काव्य-गुणका उसमें अभाव है फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है । और लोग जिसको कई पदमें कहते हैं रज्जब उस तत्त्वको सहज ही छोटे दोहेमें कह जाते हैं । इनके वक्तव्य विषय भी वहीं हैं जो साधारणतः निर्गुणभावापन्न साधकोंके होते हैं पर साफ और सहज अधिक ।

दादूदयालकी शिष्य-परम्परामें और भी अनेक सन्त हुए जो कविता करते थे पर उनकी 'कविता' कविताका स्थान नहीं पा सकी । जगजीवन साहब इसी परम्परामें हुए थे जिन्होंने सतनामी सम्प्रदाय चलाया । इनकी ९३ बानियाँ भी साधारण कोटिकी हैं ।

१०

रीति-काव्य

हमने पहले ही देखा है कि हिन्दी साहित्यमें दो भिन्न प्रकृतिके आर्योंने ग्रंथ लिखे हैं। पूर्वी आर्य अधिक भावप्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रूढ़ि-मुक्त थे और पश्चिमी या मध्यदेशीय आर्य अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ि-रूढ़, परम्पराके पक्षपाती, शास्त्र-प्रवण और स्वर्गवादी थे। पूर्वी आर्योंमें ही उपनिषदोंकी ज्ञान-चर्चा, बौद्ध और योगमार्गका प्रचार और आध्यात्मिकता-स्वरसित भावप्रवण गीति-काव्यका विकास हुआ है। ये अवधसे लेकर आसाम तक फैले हुए थे। मध्यदेशीय आर्योंमें पौराणिक भाव-धाराका विकास, धर्मशास्त्र और निबंध-ग्रंथोंकी प्रतिष्ठा, कर्मकाण्डका प्रचार तथा स्वर्ग अपवर्गकी प्राप्तिका विश्वास अधिक था। तूरानियन आक्रमणके पूर्ववर्ती भारतीय साहित्यमें इन दो जातियोंकी रचनाओंका ही समावेश है अर्थात् या तो उसमें आध्यात्मिकताप्रवण ग्रन्थों (जैसे उपनिषद्, बौद्ध ग्रन्थ, जैनग्रंथ, दर्शन आदि) का अस्तित्व है या परम्परापोषक कर्मकाण्डप्रवण शास्त्रोंका (जैसे ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौत और गृह्यसूत्र, प्राचीन स्मृति या इतिहास-पुराण आदिका) आधिक्य है। ये दो जातिकी रचनायें दो प्रदेशोंमें हुई थीं। पहली अधिकतर अयोध्या, काशी, मगध आदिमें और दूसरी कान्यकुब्ज आदि मध्य-देशमें। सन् ईसवीके बाद एक तीसरी वस्तुका अचानक आविर्भाव होता है। यह अध्यात्मवादी या मोक्षकामी रचनायें भी नहीं हैं और कर्मकण्डवादी या स्वर्गकामी भी नहीं हैं। इनमें ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। ये उस जातिकी रचनायें हैं जिसे अँग्रेजीमें 'सेक्यूलर' कविता कहते हैं। इसके पूर्व जिन दो प्रकारकी रचनाओंकी चर्चा है उससे इनमें विशेष अन्तर है। ये पहली रचनाओंकी भाँति धारावाहिक रूपमें नहीं लिखी जाती थीं और किसी

ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुषके चरित्रको अवलम्बन करके भी नहीं गाई जाती थीं, बल्कि फुटकल श्लोकोंके रूपमें, छोटे छोटे पद्योंमें ही अपने आपमें सम्पूर्ण अन्य-निरपेक्ष भावसे लिखी जाती थीं। आरम्भमें ऐसी रचनायें प्राकृत भाषामें लिखी गई और बादमें चलकर संस्कृतमें भी लिखी जाने लगीं। हमारे इस कथनका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि इसके पूर्व समूचे भारतीय साहित्यमें ऐसी कोई रचना रही ही नहीं होगी जिसे ऐहिकता-परक कहा जा सके; वस्तुतः पण्डितोंने ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा बौद्धोंकी थेर-गाथा और थेरी-गाथाओंसे इस प्रकारके प्रमाण ढूँढ़ निकाले हैं जिनसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ऐसी रचनायें प्राचीन कालमें भी किसी रूपमें रही ज़रूर होंगीं, मानव-प्रकृति उन दिनों भी सदा आमुष्मिकतामें उलझी रहना पसंद नहीं करती होगी। महाभारतमें आई हुई कई प्राचीन कहानियोंके संबंधमें भी पण्डित लोग इसी प्रकारका विचार पोषण करते हैं। यहाँ हमारे कथनका तात्पर्य यह है कि सन् ईसवीके आरंभ कालके आसपास ऐसी रचनायें बहुत अधिक दिखने लगीं और उत्तरोत्तर भारतीय साहित्यमें प्रमुख स्थान ग्रहण करने लगीं। इनका आरंभ प्राकृतसे हुआ। इस प्रकारकी कविताका सबसे पुराना संग्रह 'हाल' की 'सत्तसई' या सतसई है। इस ग्रंथमें जिस जातिकी कविता पाई जाती है वैसी कविता इसके पहले संस्कृतके किसी ग्रंथमें नहीं देखी गई। इसकी अपनी विशेषता है। प्रत्येक पद्य अपने आपमें स्वतंत्र है और आमुष्मिकताकी चिन्तासे एकदम मुक्त है। इस ग्रंथके समयको लेकर पण्डितोंमें काफी मतभेद है। कुछ लोग हालको सन् ईसवीके प्रथम शतकका मानते हैं और कुछ चौथे पाँचवे शतकका। जो मत ज्यादा प्रचलित है वह यह कि हालकी सत्तसई (सतसई) में बहुतसे प्रक्षिप्त पद्य हैं जिनके कारण वह रचना अर्वाचीन-सी लगती है। जैसे अंगारवार (मंगलवार), होरा और राधिका शब्दसे संबद्ध आर्यायें। परन्तु अन्ततः साढ़े चार सौ आर्यायें काफी प्राचीन जान पड़ती हैं। उनका सन् ईसवीके पूर्वकी या परकी प्रथम शताब्दीमें रचित या संकलित होना असंभव नहीं है। इस सत्तसईका प्रभाव बादके संस्कृत साहित्यपर भी पड़ा और गोवर्धनकी आर्या-सप्तशती वस्तुतः उसीके आधारपर लिखी गई, यद्यपि उसका आधा सौन्दर्य इस संस्कृत सप्तशतीमें कम हो गया है। हिन्दीके प्रसिद्ध कवि बिहारीलालकी सतसई भी इस ग्रंथसे प्रभावित है जो सुकुमारतामें अतुलनीय है। सैकड़ों वर्षसे वह रसिकोंका हियहार बनी हुई है

और जब तक सहृदयता जीती रहेगी तब तक बनी रहेगी।

हालकी सत्तसईमें जीवनकी छोटी मोटी घटनाओंके साथ एक ऐसा निकट संबंध पाया जाता है जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्यमें बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणाके भाव, प्रेमिकोंकी रसमयी क्रीड़ायें और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथमें अतिशय जीवित रसमें प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनोंकी प्रेम-गाथायें, ग्राम-वधूटियोंकी शृंगार-चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधोंको सींचती हुई सुन्दरियोंके मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओंका भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्यकी ओर आकृष्ट होता है। भारतीय काव्यका आलोचक इस नई भावधाराको भुला नहीं सकता। यहाँ वह एक अभिनव जगत्‌में पदार्पण करता है जहाँ आध्यात्मिकताका झमेला नहीं है, कुश और वेदिकाका नाम नहीं सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्गकी परवा नहीं की जाती, इतिहास और पुराणकी दुहाई नहीं दी जाती और उन सब बातोंको भुला दिया जाता है जिसे पूर्ववर्ती साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। फिर भी यह समझना भूल है कि हालकी सत्तसई लोक-साहित्य है। उसका स्पिरिट नया है पर भाषागत और भावगत वह सतर्कता इसमें भी है जो संस्कृत कविताकी जान है। इस नवीनताका संबंध जरूर किसी लोक-साहित्यसे रहा होगा, पर स्वयं यह 'सत्तसई' लोक-साहित्य नहीं थी। इस नई धाराका पूर्ण विकास हिन्दी साहित्यमें हुआ है, इसीलिए इसके विषयमें कुछ अधिक विस्तारपूर्वक आलोचना करनेका यहाँ संकल्प किया गया है।

हूणोंके साथ ही आभीरगण भी इस देशमें आये थे। इनका परिचय भारत-वासियोंको पहलेसे ही था। हूणोंकी तरह ये लूटपाट करके चलते नहीं बने, बल्कि यहीं बस गये और आगे चल कर बड़े बड़े राज्य स्थापनमें समर्थ हो सके। इनकी सरलता, वीरता और सौम्य प्रकृति शीघ्र ही भारतीय साहित्यको प्रभावित करनेमें समर्थ हुई। शुरू-शुरूमें इन्हें भी हूणोंकी तरह अत्याचारी समझा गया था पर बहुत शीघ्र ही भारतवासियोंने इनके प्रति अपनी धारणा बदल ली। इन आभीरोंका धर्म-मत भागवत धर्मके साथ मिल कर एक अभिनव वैष्णव-मतवादके प्रचारका कारण हुआ। अपभ्रंशके प्रसंगमें बताया गया है कि किस प्रकार इन्होंने भाषा और साहित्यको प्रभावित किया था। बहुतसे पंडितोंका विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर संस्कृतमें जो यह ऐहिकता-परक सरस

रचनायें आईं उसका कारण आभीरोंका संसर्ग था। ये फुटकर कवितायें, अहीरोंकी प्रेम-कथायें और उनके गृहचरित्र लोक-साहित्यमें अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे और उनकी शक्ति और सरसता पंडितोंसे छिपी नहीं रही। उसने प्रत्यक्ष रूपसे प्राकृत और संस्कृतके साहित्यको प्रभावित किया। उसी प्रभावके फलस्वरूप संस्कृत और प्राकृतमें अपने आपमें स्वतंत्र ऐहिकता-परक फुटकल पद्योंका प्रचार हुआ। पर अपभ्रंशमें, जो निश्चयपूर्वक पहले आभीरोंकी और बादमें उनके द्वारा प्रभावित आर्यभाषा थी, उसकी धारा बराबर जारी रही और उन दिनों अपने पूरे वेगमें प्रकट हुई जिन दिनों संस्कृत और प्राकृतके साहित्य पहले ही बताये हुए नाना कारणोंसे लोक-रुचिके लिए स्थान खाली करने लगे। हमारा मतलब हिन्दी साहित्यके आविर्भाव-कालसे है। यह याद रखना चाहिए कि यहाँ तक आते आते इसमें अनेकानेक अन्य धाराओंका भी प्रभाव पड़ा होगा और हिन्दीमें यह धारा जिस रूपमें प्रकट हुई वह मूल अपभ्रंश-धारासे बहुत कुछ भिन्न हो गई थी। किन अंशोंमें भिन्न थी और किन प्रभावोंसे युक्त थी, यह विचार करनेके पहले यह विचार किया जाय कि उस अपभ्रंश कवितामें किस प्रकारकी रचनायें थीं।

परवर्ती-कालकी अपभ्रंश रचनाओंसे अनुमान होता है कि दो तरहकी रचनायें इस भाषामें शुरू शुरूमें ही रही होंगी—

(१) ऐहिकतापरक फुटकल पद्य और (२) लोकप्रचलित कहानियोंके गीतरूप। संसारके समस्त लोक-साहित्यमें ये दो प्रकारकी रचनायें पाई जाती हैं। जातिकी संस्कृति और धर्ममतके अनुसार इनके ऊपरी आकार-प्रकारमें परिवर्तन होते रहते हैं। अपभ्रंशकी कविताओंके आदि स्वरूपके विषयमें विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें आमुष्मिकताकी चिन्ता बहुत कम थी।

लोकप्रचलित कहानियोंके गीतरूपका प्राचीन संग्रह बहुत कम मिलता है,—नहीं मिलता है, कहना ज्यादा ठीक होगा क्योंकि जो कुछ मिलता है उसमें काफी परिवर्तन हो गये हैं। भारतीय लोक-कथानकोंकी एक विशेषता यह रही है कि वे सदा किसी ऐतिहासिक व्यक्तिको आश्रय करके रचित होते हैं पर ऐतिहासिक घटना-परम्पराका उनमें नितान्त अभाव होता है। कल्पना भारतीय कविकी प्रधान विशेषता है। ऐसा भी देखा गया है कि बहुतसे कवि अपने आश्रयदाताओंका जीवनचरित लिखते समय भी ऐसी बहुत-सी लोकप्रचलित अद्भुत चमत्कारात्मक कहानियाँ उनमें जोड़ देते हैं जो विशुद्ध कल्पनाकी उपज होती हैं।

बहुतसे इतिहास-लेखक इस भारतीय-परंपराको ठीक ठीक नहीं समझ सकनेके कारण बहुत-सा व्यर्थका वाद बढ़ाते हैं और किसी नतीजेपर न पहुँच सकनेके कारण अटकल लगाया करते हैं। चंद वरदाईके 'पृथ्वीराजरासो'में ऐसी बहुत-सी कल्पित घटनायें हैं जिनके कारण पृथ्वीराजरासोको केवल जाली ग्रन्थ बताकर ही मौन धारण नहीं किया है, चंदको जाली कवि भी कहा गया है। नरपति नाल्हके बीसलदेवरासोकी घटनाओंने भी इसी प्रकार पांडित्यगत झमेलोंको खड़ा किया है। जायसीके पदमावतमें वर्णित अलाउद्दीन और भीमसिंह तथा पद्मावती और सिंहलद्वीप आदिकी घटनाओंने पण्डितोंको बहुत दिन तक उलझा रखा था और बड़े बड़े विद्वानोंको सिर खपा खपा कर यह सिद्ध करना पड़ा है कि ये बातें निराधार हैं। वस्तुतः इन काव्य-ग्रन्थोंमें बहुत-सी लोक-प्रचलित गाथायें भिन्न भिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियोंके नामसे जोड़ दी गई हैं। उस युगके कवि-लोग भी इसमें कोई अनौचित्य नहीं देखते थे और आश्रयदाता लोग भी इसमें कोई दोष नहीं देखते थे। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदासजीने जब रामायणमें लिखा था कि 'कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।' तो उनका मतलब केवल राजाओं या आश्रयदाताओंके गुण-गानसे ही नहीं था बल्कि लोक-कथानकोंसे भी था। यह वक्तव्य ही बतलाता है कि उन दिनों लोक-प्रचलित कथानकोंको आश्रय करके बहुत ग्रंथ लिखे जा रहे थे। गोस्वामीजीका शक्ति-शाली 'रामचरित मानस' जहाँ हिन्दी साहित्यको अक्षय्य मधुसे आप्लावित कर सका वहाँ उसने एक बड़ा भारी अपकार भी किया। वे सारे 'प्राकृत जन गुन-गान'-मूलक काव्य सदाके लिए लुप्त हो गये। जिस समाजमें रामायणका प्रभाव नहीं पड़ सका उस मुसलमानी समाजकी ही कृपासे मुसलमान कवियोंकी लिखी हुई कुछ प्रेम-गाथायें उपलब्ध हुई हैं। पदमावतसे ही पता चलता है कि उस जमानेमें सपनावती, मुगधावती, मिरगावती, मधुमालती, प्रेमावती आदिकी कथायें लोकमें प्रचलित थीं। इनमें मृगावती और मधुमालतीकी कहानियोंका आश्रय करके लिखे हुए दो ग्रंथ (पहला कुतबनका और दूसरा मंझनका) मिल भी चुके हैं। ऐसी और अनेक कहानियाँ भी लोक-भाषामें प्रचलित रही होंगी और उनपर ग्रंथ भी लिखे गये होंगे,—कमसे कम उनको आश्रय करके बनाई हुई गीतियोंसे ग्रामीण जनता अवकाशके समय मनो-रंजन तो जरूर करती होगी,—परन्तु, उनमेंका अधिकांश अब लुप्त हो गया है। हिन्दी साहित्यमें इन कहानियोंको आश्रय करके लिखी हुई दो प्रकारकी गाथाओंका

प्रचार पाया जाता है। (१) पहली वे हैं जो पश्चिमी आर्योंमें प्रचलित थीं : इनमें ऐहिकतापरक, संघर्षमय जीवनकी झलक है और (२) दूसरी वे हैं जो पूर्वी आर्योंमें प्रचलित थीं। इनमें आध्यात्मिकता-प्रवण रूपकों और भाव-प्रवण घटनाओंका उल्लेख है। ये दोनों ही स्वाभाविक भावसे विकसित हुई हैं। इन्हींको हिन्दी साहित्यके प्रवीण पंडितोंने क्रमशः वीर-गाथा और प्रेम-गाथा नाम दिया है। दूसरी जातिकी गाथाओं या कथानकोंमें, जो मुसलमान कवियोंकी लिखी हुई हैं या यों कहिए कि जो उन हिन्दुओंकी लिखी हुई हैं जो किसी कारणवश एकाध पुश्तसे ही मुसलमान हो गये थे पर जिनमें हिन्दू-संस्कार पूरी मात्रामें थे—उनमें सूफी मतका प्रभाव भी पाया जाता है। ये दोनों प्रकारकी रचनायें हिन्दी साहित्यमें वर्तमान हैं और जो लोग अपभ्रंशके साहित्यमें प्रतिबिम्बित भारतीय समाजको देखना चाहते हैं उनके लिए ये नितान्त आवश्यक हैं। बिना किसी प्रकारके प्रतिवादकी आशंकाके जोर देकर कहा जा सकता है कि मध्य-कालके आरंभके अन्धकारयुगीन भारतीय जीवनको इतनी सजीवतासे अभिव्यक्त कर सकनेका कोई दूसरा साधन नहीं है। नाना प्रकारकी लोक-चिन्ताओंके सम्मिश्रणका जो अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें इस वीर-गाथा और प्रेम-गाथाके साहित्यको अध्ययन करनेको निमंत्रित करता हूँ। इससे अधिक सरस, अधिक स्फूर्तिदायक और लोक-जीवनको समझनेमें अधिक सहायक साहित्यको मैं नहीं जानता।

परन्तु इस लोक-भाषाका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग जिसने कि शीघ्र ही शास्त्रपंथी पंडितोंको भी आकृष्ट किया वह उसका पहला अंग था। अलंकार-शास्त्रमें उत्तम कविताके उदाहरणोंमें प्राकृतके और संस्कृतके ऐसे सैकड़ों सरस श्लोक उद्धृत किये गये हैं। संस्कृतके सुभाषित-संग्रहोंमें भी ऐसे अनेक रत्न सुरक्षित हैं। इस जातिकी रचनाओंने संस्कृत और विशेष रूपसे प्राकृत साहित्यको एक अभिनव समृद्धिसे सम्पन्न किया है। यदि अलंकार-शास्त्रके आदि ग्रंथोंकी छान-बीन की जाय तो स्पष्ट ही पता चलता है कि आरंभमें दो अत्यन्त स्पष्ट धारायें इस शास्त्रकी मौजूद थीं जो आगे चलकर एकमें मिल गई। एक प्रकारकी शास्त्रीय चिन्ता नाट्य-शास्त्रके रूपमें प्रकट हुई थी जिसका प्रधान प्रतिपाद्य रस था। दूसरी चिन्ता अलंकार-शास्त्रके रूपमें प्रकट हुई जिसका प्रधान विवेच्य विषय अलंकार थे।

नाट्य-शास्त्रके प्रधान विवेचनीय ग्रंथ नाटक थे और अलंकार-शास्त्रके फुटकल पद्य। आगे चलकर दोनों धारायें एकमें मिल गईं और यह माना जाने लगा कि फुटकल पद्योंमें भी रस-विवेचन उतना ही आवश्यक है जितना नाटक या प्रबंध काव्यमें। इन दो सम्प्रदायोंको एकत्र करनेका काम आनन्दवर्धनद्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि-सम्प्रदायके पण्डितोंने किया। आनन्दवर्धनके पूर्ववर्ती आलङ्कारिक रस-विवेचनाको उतना महत्त्व नहीं देना चाहते। यह आलंकारिक सम्प्रदाय निश्चय ही नाट्य-सूत्रोंके बादका है। नाट्य-सूत्रोंका ज्ञान पाणिनिको भी था। भरतके जिस नाट्यशास्त्रका परिचय हमें आज प्राप्त है उसका मूल रूप कैसा था, यह कहना कठिन है। पर इसमें कुछ थोड़ेसे अलंकारोंकी प्रसंगवश चर्चा है। इससे इतना सिद्ध हो जाता है कि भारतीय नाट्यशास्त्रके वर्तमान रूपको पहुँचनेके पूर्व अलंकार शास्त्र कुछ न कुछ रूप धारण कर चुका था परन्तु वह अत्यन्त बचपनकी अवस्थामें था। सन् १५०-१५२ ई० का एक शिलालेख गिरिनारमें पाया गया है जिसे महाक्षत्रप रुद्रदामाने खुदवाया था। इस गद्यकाव्यात्मक शिलालेखमें अलंकारशास्त्रका स्पष्ट उल्लेख है और विद्वान् लोग इस शिलालेखसे इस नतीजेपर पहुँचे हैं कि अन्ततः उस समय तक अलंकार-शास्त्रके कुछ ग्रन्थ जरूर बन गये होंगे। यह ध्यान देनेकी बात है कि उस समय तक हालकी सत्तसई लिखी जा चुकी थी और एक सम्पूर्ण अभिनव भावधाराका सम्मिश्रण भारतीय साहित्यमें हो गया था। अगर यह मत ठीक हो कि पहले काव्यकी रचना हो लेती है तब अलंकारशास्त्रकी रचना होती है, तो मानना पड़ेगा कि अपने आपमें स्वतंत्र फुटकल पद्योंकी रचनाकी प्रथा इन दिनोंतक काफी प्रचारित हो गई थी। पर यह समझना ठीक नहीं कि इस प्रकारके अलंकार-शास्त्री अपनी विवेचनामें नाटकोंके श्लोकोंकी विवेचना करते ही नहीं थे; करते थे पर उनको अपने आपमें स्वतंत्र मान कर। यह प्रवृत्ति अर्थात् फुटकल पद्योंको दृष्टिमें रखकर काव्य-विचारकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और इस प्रकारके अलंकार-ग्रन्थ भी भूरिशः रचित हुए। अन्तमें रस और अलंकारको अलग अलग विवेचनीय समझनेवाले दोनों संम्प्रदायोंने मिलकर जब ध्वनि-सम्प्रदायके रूपमें आत्म-प्रकाश किया तो एक बहुत ही प्रभावशाली शास्त्रकी नींव पड़ी जो आगे चलकर केवल काव्यका विवेचक ही नहीं रहा, उसे प्रभावित और अन्तमें अभिभूत भी कर सका। आगे चलकर काव्यविवेचनाके नियमोंको दृष्टिमें रखकर कवि लोग कविता लिखने लगे और

वे काव्य जिन्हें संस्कृतमें 'बृहत्त्रयी' (माघ, भारवि और श्रीहर्षके लिखे हुए शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय और नैषधीय चरित) कहते थे, निश्चय-पूर्वक इस अभिनवशास्त्रद्वारा प्रभावित थे। हिन्दीके आविर्भाव-कालमें भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। जिन वीरत्वमूलक और आध्यात्मिकता-प्रवण कथानक-काव्योंका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उनमें अलंकारों और रसोंको दृष्टिमें रखकर कवित्व-कौशल दिखानेकी प्रवृत्ति है।

परन्तु यह प्रवृत्ति बहुत ही शक्तिशाली (और बहुत बार उपहासास्पद) रूपमें हिन्दीकी रीतिकालीन कवितामें प्रकट हुई। इन दिनोंतक यह भाषा मँज-घिसकर साफ़ हो गई थी और कोमलसे कोमल भावको प्रकट करनेका सामर्थ्य रखती थी। इन दिनों उक्त प्रवृत्तिका चरम विकास हुआ। अपने आपमें स्वतंत्र फुटकल पद्योंकी ऐसी भरमार समूचे भारतीय साहित्यमें कहीं भी देखनेको नहीं मिली है, और यद्यपि अधिकांशतः ये पहले लक्षणोंको देखकर उन्हींको दृष्टिमें रख लिखे गये थे, फिर भी इनमें उत्तम पद्योंकी संख्या इतनी अधिक है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे शास्त्रनिष्ठ और दाद देनेमें अत्यन्त सतर्क पंडितको भी यह कहनेमें कोई संकोच नहीं हुआ है कि "ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृतके सारे लक्षण-ग्रन्थोंसे चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।" दो प्रकारसे इस प्रकारके सरस पद्योंकी रचनाको उत्तेजना मिली : पहले अलंकारोंके लक्षणोंपरसे कवित्व करके और फिर नाट्य-विवेचनाके रस-निरूपणके एक अत्यन्त सामान्य पर महत्त्वपूर्ण अंग नायक-नायिकाके नाना भेद-उपभेदोंकी सृष्टि करके और उनके लक्षणोंपर उदा-हरणोंकी रचना करके। दूसरी बातकी ओर कवियोंकी प्रवृत्ति अधिक रही। इस प्रकार लोक-भाषाके जिन पद्योंने एक अलग शास्त्रकी रचनाको जरूरी बना दिया था, काल-क्रमसे उसी शास्त्रने लोक-भाषाको बड़ी दूरतक प्रभावित किया।

उत्तरकालीन हिन्दी कविता (या रीतिकालीन हिन्दी कविता) को हम लोक-साहित्य नहीं कह सकते क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष लोक-जीवनसे स्फूर्ति और प्रेरणा पानेकी क्रिया गौण है और लोककी चित्तभूमिपर उसका संपूर्ण अधिकार भी नहीं था, फिर उसे शास्त्रीय काव्य भी नहीं कह सकते क्योंकि इसके पहले और इस युगमें भी संस्कृतमें अलंकार-शास्त्रको लेकर जैसी सूक्ष्म विवेचना हो रही थी उसकी कुछ भी झलक इसमें नहीं पाई जाती। शास्त्रीय विवेचना तो बहुत कम

कवियोंको इष्ट थी। वे तो लक्षणोंको कवित्व करनेका एक बहाना भर समझते थे। वे इस बातकी परवाह नहीं करते थे कि उनका निर्दिष्ट कोई अलंकार दूसरे किसीमें अन्तर्भुक्त हो जाता है या नहीं। कुवलयानंद और चन्द्रालोकको आश्रय करके या किसी पूर्ववर्ती हिन्दी अलंकार-ग्रंथको उपजीव्य मानकर ये लोग कविता करनेका बहाना ढूँढ़ निकालते थे। फिर भी इस युगमें ऐसे बहुतसे स्वतंत्र भावसे लिखनेवाले कवि भी थे, परन्तु उनपर रीति ग्रंथोंका प्रभाव सुस्पष्ट है।

लेकिन इस युगकी कविताको विशिष्ट रूप देनेके लिए यही सब कुछ नहीं था। अर्थात् केवल लोक-भाषासे प्रभावित और बादमें सम्पूर्ण भावसे वैज्ञानिक विवेचनाका रूप ग्रहण किया हुआ अलंकार-शास्त्र ही इस युगके (रीति-कालके) कवित्वको रूप नहीं दे रहा था। कुछ और उपादान भी काम कर रहे थे। यह लक्ष्य करनेकी बात है कि रीति-कालकी समूची रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ वही नहीं थीं जो प्राचीन संस्कृत-काव्योंमें मिलती हैं। इनमें बहुत कुछ नई थीं और बहुत-सी पुरानी भुला दी गई थीं। स्त्री-रूपके उपमानोंमेंसे बहुत-से भुला दिये गये थे और पुरुष-रूपके वर्णनको अत्यन्त कम महत्त्व दिया गया। एक नई बात जो इस युगकी कवितामें दिखाई पड़ी वह यह है कि प्रायः सभी शृंगारात्मक उत्तम पद्योंका विषय श्रीकृष्ण और गोपियोंका प्रेम है; उन्हींकी केलि-कथायें, उन्हींकी अभिसार-लीलायें और उन्हींकी वंशी-प्रीति आदि। विहारीलालकी प्रसिद्ध सतसई जो संसारके शृंगार-साहित्यका भूषण है, ऐसे गोपी-गोपालकी प्रेम-लीलाओंसे ही भरी है। इस कालकी कवितामें यह बात इतनी अधिकतासे पाई जाती है कि कभी कभी आधुनिक युगका आलोचक बुरी तरहसे इन कवियोंपर बिगड़ खड़ा होता है। कभी कभी इन्हें गंदगीकी नाली बहानेवाले, भगवानके नामपर कलंक प्रचार करनेवाले आदि भी कहा गया है, फिर भी इस विषयमें दो मत नहीं कि ऐसा लिखनेवाले कवि काफी ईमानदार थे। वे सचमुच विचार करते थे कि—

> “ राधा मोहनलालकौ जिन्हें न भावत नेह।
> परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह॥ ” —मतिराम

इस विषयको ठीक ठीक समझनेके लिए हमें एक और प्राचीन भारतीय परम्पराकी जानकारी आवश्यक है। भारतीय साहित्यकी यह शाखा अत्यधिक सम्पन्न है और इसमें इतना अधिक कवित्व है कि इनका विषय अलग होने पर

भी यह काव्यके विवेचककी दृष्टिसे बच नहीं सकती। यह शाखा स्तोत्रोंके साहित्यकी है। रामायण और महाभारतमें ही स्तोत्रोंकी संख्या काफी है। पर सन् ईसवीके बादके संस्कृत-साहित्यमें इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। सबसे पुराना स्तोत्र जो कवित्वकी दृष्टिसे विवेचनीय माना जा सकता है बाणका चण्डी-शतक है। फिर मयूरका सूर्यशतक है, शंकराचार्यकी विविध देवताओंकी स्तुति आदि हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आभीरोंके आने और उनके धर्म-विश्वासोंके संमिश्रणसे भागवत धर्मका जो वैष्णव रूप बादमें चलकर इतना शक्तिशाली हो उठा वह जबतक भागवत धर्मके संश्रवमें नहीं आया था तबतक भीतर ही भीतर लोक-भाषाको और उसके द्वारा शास्त्रीय कवित्वको प्रभावित कर रहा था। इसके पहले हम देख चुके हैं कि हालकी सत्तसईमें अहीर और अहीरिनोंके प्रेमकी लीलाओंका परिचय मिलता है। लोक-भाषामें इन गोप-गोपियोंकी प्रेम-लीलाओंका और भी प्रचार रहा होगा। किसी किसी प्रदेशके ग्राम-गीतोंसे इस मतकी पुष्टि भी हुई है। परन्तु एक बार भागवत धर्मका आश्रय पा लेनेके बाद यह अन्तर्निहित लोक-काव्य प्रचुर मात्रामें शास्त्रप्रभावित काव्यमें भी आने लगा होगा। राधा और श्रीकृष्णके परम दैवत स्वीकृत होनेसे इस क्रियामें कोई बाधा नहीं पड़ी होगी। भारतीय स्तोत्रोंके कवि भक्ति-गद्‌गद भावसे भी जब कविता करते थे तो शिव, दुर्गा, विष्णु, आदि देवी देवताओंकी शृंगार-लीलाके वर्णन करनेमें कभी कुंठित नहीं होते थे। यह समझना गलत है कि केवल राधा-कृष्ण ही उपास्य और शृंगार-लीलाके आश्रय एक ही साथ माने गये। चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, शिव, विष्णु आदि सभी देवताओंके स्तोत्रोंमें उनकी शृंगार-चेष्टाओंका भूरिशः उल्लेख है। यह ज़रूर है कि श्रीकृष्ण और गोपियोंकी सारी कथायें ही शृंगार-चेष्टाकी कथायें हैं और इसीलिए इनकी स्तुतियोंमें इसीकी प्रधानता हो गई है।

प्राकृत और अपभ्रंशमें तो बहुत प्राचीन कालसे ही गोपियोंके साथ गोपाल (यह गोपाल सदा कृष्ण ही नहीं हुआ करते थे) के प्रेमकी चर्चा है पर संस्कृतमें इसका सर्वप्राचीन उल्लेख आनंद वर्धनके ध्वन्यालोकके एक उदाहरणमें ही पाया जाता है[1]। बादमें ग्यारहवीं शताब्दीमें लीलाशुकके कृष्ण-कर्णामृतकी रचना

---

१. तेषां गोपवधूविलाससुहृदो राधारहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनयातीरे लता वेश्मनाम्॥ इत्यादि।

हुई। अपनी सरसता और तन्मय भावनाके कारण यह ग्रन्थ सारे भारतवर्षमें शीघ्र ही फैल गया। उसके बाद ही जयदेव कविके गीत-गोविन्दमें यह भाव-प्रवण कवित्व अपने चरम उत्कर्षको पहुँचा हुआ पाया जाता है। इसके बाद विद्यापति, चण्डीदास और सूरदासकी रचनाओंमें, जो लोक-भाषामें लिखित हैं, राधाकृष्ण और अन्य गोपियोंकी प्रेमलीलायें सम्पूर्ण विकसित रूपमें पाई जाती हैं। इसके पूर्व निश्चय ही लोक-मुखमें ऐसी अनेक गीतियाँ काफी प्रचलित रही होंगी। वैष्णव धर्मके प्रचारके साथ ही साथ ये लोक-गीतियाँ शास्त्र-सिद्ध आचार्यों द्वारा परिष्कृत की गई होंगी। यह ध्यान देनेकी बात है कि बंगालके चैतन्यदेवके शिष्य-प्रशिष्योंने, जिनमें मुख्य रूप सनातन और जीवगोस्वामी हैं, इन लीलाओंको सूक्ष्म रूप दिया था। इन्हीं ग्रन्थोंमें पहले पहल अलंकारों और नायिकाओंके विवेचनके लिए राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाओंको उदाहरणके रूपमें सजाया गया। नाट्यशास्त्रीय रस-विवेचनाके अन्यान्य अंगोंकी उपेक्षा करके केवल नायिकाओंका वर्गीकरण इस उद्देश्यसे किया गया था कि गोपियोंकी विभिन्न प्रकृतिके साथ रसराज श्रीकृष्णके प्रेम-भावके विविध रूपोंको दिखाया जा सके। इस प्रकार लोक-भाषाका यह रूप, जो बहुत दिनोंतक भीतर ही भीतर पक रहा था, शास्त्रकी उँगली पकड़कर अपने चरम उत्कर्षको पहुँचा। हिन्दीमें वह अपने गीतरूपसे स्वतंत्र होकर विकसित हो सका, अर्थात् अपने प्राचीन फुटकल पद्य रूपमें भी विकसित हुआ।

यद्यपि गौड़ीय वैष्णवोंने कुछ पहलेसे ही नायिकाओंका इस प्रकार वर्गीकरण किया था कि उसके बहाने गोपी और गोपालकी केलि-कथायें गाई जा सकें, परन्तु उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दीके रीति-कालपर नहीं पड़ा। उज्ज्वल नीलमणिके साथ रीतिकालीन कवियोंके लिखे हुए नायिका-भेदके ग्रंथोंकी तुलना करनेसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। यह तो निश्चित है कि गौड़ीय वैष्णव मत-वादका प्रभाव व्रजके भक्तोंपर पड़ा था, कई भक्तोंने उनसे प्रभावित होकर तद्भाव-भावित भजन भी गाये थे, एकाधने नये सम्प्रदाय भी चलाये थे परन्तु रीति-कालपर उनके वर्गीकरण और विवेचनाका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। यहाँतक कि दोनोंके कण्ठस्वर भी एकसे नहीं हैं[1]। उज्ज्वल नीलमणिमें

१. रीति-कालकी कविताका कंठस्वर पश्चिमी अपभ्रंशसे अधिक मिलता-जुलता है। बिहारी आदिकी कविताओंमें तो भाषा, भाव-भंगी सब कुछ उन्हींसे मिलती है। कभी कभी बिहारीके समालोचकोंने ऐसे भाव बिहारीमें पाये हैं जो उनके मतसे मुसलमानी संसर्गके

पहली बार उज्ज्वल रसका आस्वादयिता भक्त माना गया है, समस्त अलंकार और रस-ग्रंथोंमें पुनः पुनः निर्दिष्ट 'सहृदय' नहीं। इसमें भक्तिको भी एक रस माना गया है। हिन्दीके रीतिकालीन आलंकारिकों (या कवियों) मेंसे किसी किसीने भक्तिको दसवाँ रस माना जरूर है पर श्रोता उनके सहृदय और सुकवि ही हैं। उनके रीझनेपर ही कवि अपनी रचनाको सफल काव्य माननेको तैय्यार है, नहीं तो, अगर वे न रीझे तो बादमें वह सन्तोष कर लेगा कि चलो, कविता नहीं तो न सही, राधाकृष्णका सुमिरन तो हो ही गया!—

> रीझिहैं सुकवि जो तो जानौ कविताई
> न तो राधिका-गुविंद सुमिरनको बहानो है।

परन्तु रीति-कालके कवियोंने रसका निरूपण बिल्कुल प्राचीन रस-शास्त्रियोंकी शैलीपर किया है। शायद ही किसी कविने उज्ज्वल नीलमणिके अनुकरणपर ३६३ प्रकारकी भिन्न भिन्न स्वभाव और नामवाली गोपियोंकी चर्चा की हो। उज्ज्वल नीलमणिमें गोपियोंके स्वभाव और वस्त्राभूषण आदिके बारेमें विस्तृत वर्णन है। कुछ गोपियाँ प्रखर स्वभावकी थीं, जैसे श्यामला मंगला आदि। श्रीराधा और पाली आदि कुछ गोपियाँ मध्यम और चंद्रावली आदि मृदुस्वभावा थीं। इनमें भी स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्थपक्षा और प्रतिपक्षा ये चार भेद हैं। इनमें कुछ वामा हैं, कुछ दक्षिणा हैं। श्रीराधिकाकी स्वपक्षा ललिता और विशाखा थीं। सुहृत्पक्षा श्यामला, तटस्थपक्षा भद्रा और प्रतिपक्षा चंद्रावली थीं। श्रीमती राधा वामा-मध्या थीं, कभी नीलवस्त्र धारण करतीं, कभी लाल। ललिता प्रखरा थीं, और मयूर-पुच्छ जैसा वस्त्र धारण करतीं थीं। विशाखा वामा-मध्या थीं और

फल हैं। वियोग-तापसे गुलाबकी सीसीका फूटना या दृष्टिका हृदय वेधकर मार डालना ऐसी ही उक्तियाँ बताई गई हैं। यह स्पष्ट ही अतिरंजना है। हेमचन्द्रके प्राकृत व्याकरणमें अपभ्रंशके प्रकरणमें इन भावोंके दोहे आये हैं जो बिहारीके निश्चित रूपसे मार्गदर्शक होंगे। दो ऐसे ही पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

> बिट्टीए मइं भणिय तुहुँ, मा कुरु वंकी दिट्ठि।
> पुत्ति सकण्णी भल्लि जिंव, मारइ हिअइ पइट्ठि॥
> चुडुलउ चुण्णी होइसइ, मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
> सासानल जाल झलक्किअउ, बाह सलिल संसित्तउ।

तारावलि-खचित वस्त्र पसन्द करती थीं। इन्दुलेखा वामा-प्रखरा और अरुण-वस्त्रा थीं। रंगदेवी और सुदेवी वामा-मध्या और नीलवस्त्रा, चित्रा दक्षिणा मृद्वी और नीलवसना, तुंगविद्या दक्षिणा-प्रखरा और शुक्लवस्त्रा, श्यामदा वामा-दाक्षिण्य-युक्त-प्रखरा और रक्तवस्त्रा, भद्रा दक्षिणा मृद्वी और चित्रवसना तथा चंद्रावली दक्षिणा, मृद्वी और नीलवसना थीं। इनकी सखी पद्मा दक्षिणा और प्रखरा तथा शैव्या दक्षिणा और मृद्वी थीं। ये सभी रक्तवस्त्रधारण करती थीं। इस प्रकार उज्ज्वल नीलमणिने गोपियोंकी बड़ी विस्तृत सूची दी है। सबके स्वभाव, वस्त्र और व्यवहार-भंगीको निपुण भावसे चित्रित किया है। परन्तु रीति-कालके किसी कविने इन गोपियोंमेंसे अधिकांशका नाम शायद ही लिया हो। भूले भटके क्वचित् कदाचित् ललिता, विशाखा और चंद्रावलीका नाम आ जाता है। राधिका इस स्थानपर निश्चयपूर्वक प्रधान स्थान ग्रहण करती हैं। समूचे रीति-कालके साहित्यमें गोपियोंकी स्वपक्षता, सुहृत्पक्षता और तटस्थ-पक्षताकी चर्चा नहीं आती।

इन विविध नायिकाओं और उनकी दूतियों तथा उनके अंगज (अर्थात् भाव, हाव, हेला), अयत्नज (अर्थात् शोभा, कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य) तथा स्वभावज (लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत) अलंकारों तथा विविध संचार्यादि भावोंका आश्रय करके कवियोंने बहुत कुछ लिखा, पर सर्वत्र वे प्राचीन ग्रंथोंसे चालित हो रहे थे। अत्यन्त पुराने कालमें नाट्यशास्त्रमें जो कुछ इस विषयमें कहा गया था और बादमें दश-रूपक और साहित्य-दर्पणादि ग्रंथोंमें उसीके अनुवादके रूपमें जो कुछ कहा गया था उससे अधिक किसीने नहीं लिखा। इस प्रकार समूचा नायिका-भेदका साहित्य नाट्य-शास्त्रके एक सामान्य अंगपर लोकगम्य भाष्यके सिवा और कुछ नहीं है। परन्तु संस्कृतके नाटकों और काव्योंको केवल भरत या धनंजयके नायिका-भेद चालित नहीं कर रहे थे। उनके सामने एक और भी इतना ही महत्त्वपूर्ण शास्त्र था जो प्रत्यक्ष रूपसे उनकी कृतियोंका संयमन कर रहा था।

(५) यह शास्त्र है वात्स्यायनका कामसूत्र। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वात्स्यायनका काल क्या था पर इतना निश्चित है कि इस ग्रंथके बननेके बहुत पहलेसे भारतवर्षकी साम्पत्तिक अवस्था और राजकीय व्यवस्था बहुत ऊँचे

दर्जेकी रही होगी। कालिदासके ग्रन्थोंसे पंडितोंने ऐसे प्रमाण ढूँढ़ निकालनेके प्रयत्न किये हैं कि उक्त कविको कामसूत्रका ज्ञान था। वात्स्यायनका बताया हुआ नागरक या रसिक अत्यन्त समृद्ध विलासी हुआ करता था। उसके पास प्रचुर सम्पत्ति, पर्याप्त अवकाश और अकल्पनीय निश्चिन्तता होती थी। ऐसे विलासियोंकी संभावना उसी समय हो सकती है जब देश धन-धान्यसे समृद्ध और सुरक्षित हो। अनुमानतः कामसूत्रका काल सन् ईसवीकी दूसरी शताब्दीके आसपास होना चाहिए। वात्स्यायनने अपने पूर्ववर्ती अनेक विस्तृत कामशास्त्रोंका सार संकलन करके यह ग्रंथ लिखा था। इसमें युवा-युवतियोंकी बहुविध शृंगार-चेष्टाओंका केवल वर्णन ही नहीं दिया गया है, मर्यादा भी बाँध दी गई है। किस स्त्रीके साथ किस पुरुषका कैसा व्यवहार साधुजनोचित है और कैसा ग्राम्य और अभद्रजनोचित इसकी भी मर्यादा इस ग्रंथमें बताई गई है। नायक-नायिकाओंकी शृंगारचेष्टाओंमें, दैनिक जीवनमें, आहार-शयन-भोजनमें, एक विशेष प्रकारके शिष्टाचारकी धारणा कवियोंने इसी ग्रंथके आधारपर बनाई थी। देशकी अवस्था बदलती गई। नागरिक-नागरिकाओंकी स्थिति भी निश्चय ही परिवर्तित होती गई होगी परन्तु कामशास्त्रीय मर्यादा ज्योंकी त्यों ही बनी रही। संस्कृतके अन्यान्य काव्य-ग्रंथोंकी तरह कामसूत्रका सामाजिक वर्णन काल्पनिक नहीं जान पड़ता। वास्तवमें ही उन दिनों उस प्रकारकी अवस्था रही होगी। अवस्था-परिवर्तनके साथ ही साथ यह अनुभव किया जाने लगा कि काम-सूत्र अपने विशुद्ध रूपमें नागरोंके कामका नहीं हो सकता, इसलिए उसके अनावश्यक अंग छाँटकर केवल कामकी चीजोंका आश्रय करके बहुतसे ग्रंथ लिखे गये। कालान्तरमें यही बादके लिखे गये ग्रंथ मध्य-कालकी सामाजिक अवस्थाके अनुकूल बनाकर हिन्दीमें भी ग्रथित हुए। ये उत्तरकालीन ग्रंथ ही रीतिकालीन कविके आदर्श थे। नायिका-भेदमें नायक-नायिकाओंके व्यवहार, कथोपकथन, शृंगारचेष्टा और दैनिक कार्य-समूह इन्हीं ग्रंथोंसे चालित हो रहे थे। यहाँतक आकर नागरकका वह पुराना आदर्श (उसका अतिरिक्त विलासमय जीवन) घिस-घिसाकर साधारण गृहस्थके रूपमें परिणत हो गया था। इस प्रकार एक तरफ नायिका-भेदका विषय जहाँ नाट्य-शास्त्रीय ग्रंथोंसे लिया गया वहाँ उसका व्यावहारिक अंग कामशास्त्रीय ग्रंथोंसे अनुप्राणित था। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि रीति-कालका कवि केवल नाट्यशास्त्र और कामशास्त्रकी रटन्त विद्याका

जानकार था। यह स्पष्ट करके समझ लेना चाहिए कि रीति-कालमें लक्षण ग्रंथोंकी भरमार होनेपर भी वह उस प्राचीन लोक-भाषाके साहित्यका ही विकास था जो कभी संस्कृत साहित्यको अत्यधिक प्रभावित कर सका था। इस विशेष कालमें जब कि शास्त्र-चिन्ता लोक-चिन्ताका रूप धारण करने लगी थी वह पुरानी लौकिकता-परक लोक-काव्य-धारा शास्त्रीय मतके साथ मिलकर देखते देखते विशाल रूप ग्रहण कर गई। कवियोंने दुनियाको अपनी आँखोंसे देखनेका कार्य बंद नहीं कर दिया। नायिका-भेदकी संकीर्ण सीमामें जितना लोक-चित्र आ सकता था इस कालका उतना चित्र निश्चय ही विश्वसनीय और मनोरम है। इतना दोष जरूर है कि यह चित्र असंपूर्ण और विच्छिन्न है। शास्त्रमतकी प्रधानताने इस कालके कवियोंको अपनी स्वतंत्र उद्भावना-शक्तिके प्रति अतिरिक्त सावधान बना दिया, उन्होंने शास्त्रीय मतको श्रेष्ठ और अपने मतको गौण मान लिया, इसलिए स्वाधीन चिन्ताके प्रति एक अवज्ञाका भाव आ गया। यह भाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और वही इस युगमें सबसे अधिक खतरनाक बात थी।

उपसंहार

समूचे भारतीय प्राचीन साहित्यको दो मोटे मोटे विभागोंमें बाँट लिया जा सकता है: एकको साधारण भावसे वैदिक साहित्य और दूसरेको लौकिक साहित्य कह सकते हैं। इतिहासके अध्येताके लिए इन दोनों विभागोंके बीच लकीर खींचनेमें विशेष संकोच नहीं करना पड़ेगा। शुरूसे लेकर तूरानियन आक्रमण तक वैदिक साहित्यकी एक अविच्छिन्न धारा स्पष्ट ही मालूम पड़ती है। तूरानियन आक्रमणके बाद भारतवर्षके दोसौ वर्षका इतिहास अन्धकाराच्छन्न है। यह वही काल है जिसे विन्सेंट स्मिथने 'डार्क एज' या तिमिरावृत युग नाम दिया है। सुप्रसिद्ध स्वर्गीय जायसवालजीके उद्योगसे इस युगके राजनीतिक इतिहासपर एक हल्का-सा आलोक पहुँचा जरूर है; पर इस विषयमें दो मत नहीं हो सकते कि यह युग भारतीय इतिहासमें सबसे कम परिचित है। साहित्यिक दृष्टिसे भी यह युग एक तरहसे अन्धकारमें ही है। सन् ईसवीकी पहलीसे तीसरी शताब्दी तकका साहित्यिक इतिहास भी अभी तक ढका ही हुआ है। इस प्रकार भारतीय साहित्यका विद्यार्थी सहज ही उसे दो बड़े बड़े हिस्सोंमें बाँट ले सकता है। पहले भागकी रचनाएँ निश्चयपूर्वक दूसरे विभागकी रचनाओंसे भिन्न कोटिकी हैं। यद्यपि साहित्यिक विभागोंका नाम देना कभी निर्दोष नहीं होता, पर काम चलानेके लिए कुछ नाम रख लेना आवश्यक होता है। इस अध्यायमें हमने पहले भागका नाम वैदिक साहित्य और दूसरेका लौकिक रख लिया है। वैदिक साहित्यके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध ग्रन्थ, जैन आगम और सूत्र-साहित्य शामिल हैं, और लौकिक साहित्यमें परवर्ती युगके काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि हैं।

ध्यान देनेकी बात यह है कि पूर्ववर्ती साहित्यमें केवल रस-सृष्टिके लिए या

लोक-रंजनके लिए कुछ भी नहीं लिखा गया, परवर्ती साहित्यमें जिसे काव्य कहते हैं, वह वस्तु उसमें नहीं हैं। एक खास विषयको सामने रखकर एक खास उद्देश्यसे पूर्ववर्ती साहित्य रचित हुआ था। फिर भी, यह नहीं समझना चाहिए कि उस युगमें 'कवि' शब्दसे द्योत्य तत्त्व बिल्कुल सोचा ही नहीं गया। पंडितोंने देखा है, ऋग्वेदमें पाया जानेवाला 'कारु' शब्द कविका ही वाचक है। कहते हैं कि इस बातका प्रमाण ऋग्वेदसे ही पाया जा सकता है कि कवि (कारु) वैद्यकी ही तरह एक पेशेवर आदमी होता था (ऋ० ९-११२-३)। इतना ही नहीं, वह राजाओं और धन-सम्पन्न व्यक्तियोंके दरबारमें भी रहता था और उनकी कीर्ति-गाथाका गान भी करता था (७-७३-१)। लेकिन यह सब अनुमान ही अनुमान है। जिन मन्त्रोंको लेकर ये बातें सोची गई हैं, उनमें कवि शब्द आता ही नहीं। 'कवि' शब्द समस्त वैदिक साहित्यमें उसी गौरव और आदरके साथ प्रयुक्त हुआ है जिसके साथ 'ऋषि' शब्द। ऋग्वेदसे ही ऐसे बीसियों मन्त्र उद्धृत कर दिये जा सकते हैं जहाँ सूक्त-रचयिताओंको ऋषि और कवि कहा गया है। इतना ही नहीं, 'कवि' शब्दसे कभी कभी सृष्टिकर्ताको भी स्मरण किया गया है।

सन् १८८२ में सिविल सर्विसके अँगरेज परीक्षार्थियोंके सामने व्याख्यान देते हुए प्रो० मैक्समूलरने इस वैदिक साहित्यका एक शब्दमें बड़ा सुन्दर परिचय दिया था वह शब्द है अतीत, परे—Transcendent, Beyond! "उससे इस सान्त जगत्की बात कहो, वह कहेगा अनन्तके बिना सान्त जगत् निरर्थक है, असम्भव है। उससे मृत्युकी बात कहो, वह इसे जन्म कह देगा। उससे कालकी बात कहो, वह इसे सनातन तत्त्वकी छाया बता देगा। हमारे (यूरोपियनोंके) निकट इन्द्रिय-साधन हैं, शस्त्र हैं, ज्ञान-प्राप्तिके शक्तिशाली इंजन हैं, किन्तु उसके (वैदिक युगके कविके) लिए अगर सचमुच धोखा देनेवाले नहीं तो कमसे कम सदा ही जबर्दस्त बन्धन हैं, आत्माकी स्वरूपोपलब्धिमें बाधक हैं। हमारे लिए यह पृथ्वी, यह आकाश, यह जीवन, यह जो हम देख सकते हैं और हम छू सकते हैं, और जो हम सुन सकते हैं, निश्चित है, ध्रुव है; हम समझते हैं, यहीं हमारा घर है, यहाँ हमें कर्तव्य करना है, यहीं हमें सुख-सुविधा प्राप्त है; लेकिन उसके लिए यह पृथ्वी एक ऐसी चीज है जो किसी समय नहीं थी, और ऐसा भी समय आवेगा जब यह नहीं रहेगी; यह जीवन एक छोटा-सा सपना है जिससे शीघ्र ही हमारा छुटकारा हो जायगा।

हम जाग जायँगे। जो वस्तु औरोंके निकट नितान्त सत्य है, उससे अधिक असत्य उसके निकट और कुछ है ही नहीं, और जहाँ तक उसके घरका सम्बन्ध है, वह निश्चित जानता है कि वह और चाहे जहाँ कहीं भी हो, इस दुनियामें नहीं है।"

सन् ईसवीके आरम्भमें यह विचार भारतीय समाजमें निश्चित सत्यके रूपमें स्वीकार कर लिये गये थे, उसमें विचिकित्साका भाव एकदम जाता रहा था। जो कुछ इस जगतमें दृष्ट हो रहा है, उसका एक अदृष्ट कारण है, यह बात निस्सन्दिग्ध मान ली गई थी। जन्मान्तर-व्यवस्था और कर्मफलवादके सिद्धान्तने ऐसी जबर्दस्त जड़ जमा ली थी कि परवर्ती युगके कवियों और मनीषियोंके चित्तमें इस जागतिक व्यवस्थाके प्रति भूलसे भी असन्तोषका आभास नहीं मिलता। जो कुछ जगत्में हो रहा है, उसका एक निश्चित कारण है, उसमें प्रश्न करने और सन्देह करनेकी जगह ही नहीं। कवि एक शान्तिमय जगत्में निवास करते थे; उसमें दुःख भी कष्ट भीः क्रन्दन भी हास्य भी, एक सामंजस्य-पूर्ण व्यवस्थाका परिणाम समझा जाता था। कवि इन बातोंसे विचलित नहीं होता था। इसीलिए संस्कृतके इस युगके कवियोंमें समाज-व्यवस्थाके प्रति किसी प्रकारके विद्रोहकी भावना, क्लेश-पिष्ट जनसमुदायके प्रति सहानुभूतिमय असन्तोषका भाव एकदम नहीं पाया जाता। कवि स्वयं दरिद्र या दुःखी न होते हों, सो बात नहीं। गरीबीका जितना करुण और हृदयस्पर्शी वर्णन संस्कृत काव्योंमें है वह अन्यत्र दुर्लभ है; फिर भी यह सारा प्रयत्न मानो एक बेबसीका प्रयत्न है, मानो उसको कवि अवश्यंभावी और ध्रुव मान बैठा है, ऐसा अनुभव होता है। आप करुणाविगलित हृदयकी धड़कनके साथ विधवाका मर्मस्पर्शी रोदन पढ़ जायँगे; अपमानिताका साश्रु क्रन्दन सुन जायँगे, निर्दलितका उच्छ्वासपूर्ण आवेग बर्दाश्त कर जायँगे; पर बहुत कम ऐसा देखेंगे कि कविने एक बार भी आपका हृदय सहला देनेके लिए विद्रोहके साथ कहा हो कि यह अन्याय है, हम इसका विरोध करते हैं। व्यक्तित्वकी इतनी जबर्दस्त उपेक्षा संसारके साहित्यमें दुर्लभ है, क्योंकि संस्कृतका कवि अपने आपको,—अपने सुख-दुःखोंको अभिव्यक्त करनेके लिए कविता करने नहीं बैठता था। उसका उद्देश्य कुछ और ही होता था।

२

वह उद्देश्य क्या था?

आजके भारतीय लेखकके निकट इस प्रश्नका उत्तर जितना ही सहज है, उतना ही कठिन भी। आए दिन श्रद्धापरायण आलोचक युरोपियन-मत-वादोंको धकिया देनेके लिए भारतीय आचार्य-विशेषका मत उद्धृत करते हैं और आत्म-गौरवके उल्लासमें घोषित कर देते हैं कि 'हमारे यहाँ' यह बात इस रूपमें मानी या कही गई है। मानो भारतवर्षका मत केवल वही एक आचार्य उपस्थापित कर सकता है, मानो भारतवर्षके हजारों वर्षके सुदीर्घ इतिहासमें नाम लेने-योग्य एक ही कोई आचार्य हुआ है, और दूसरे या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो एक ही बात माने बैठे हैं। यह रास्ता ग़लत है। किसी भी मतके विषयमें भारतीय मनीषाने गड्डुलिका-प्रवाहकी नीतिका अनुसरण नहीं किया है। प्रत्येक बातमें ऐसे बहुत-से मत पाए जाते हैं जो परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध पड़ते हैं। काव्यके उद्देश्य और वक्तव्यके सम्बन्धमें भी मत-भेद हैं; पर एक बातमें आश्चर्यजनक एकता है। प्रायः सभी पंडित स्वीकार करते हैं कि काव्यका मुख्य उद्देश्य लोकोत्तर आनन्द और कीर्ति प्राप्त करना है। कवि कविताके द्वारा अमर हो जाता है, और जैसा कि भामहने कहा है; वह मरकर भी जीता रहता है। जहाँ तक इस बातका सम्बन्ध है, सभी एकमत हैं। पर आनन्द प्राप्त करनेकी पद्धतिमें मत-भेद है। कोई तो यह समझता है कि कवि कविता कर लेनेके बाद जब स्वयं आलोचककी हैसियतसे उसे देखता है तो उसे लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है; और कोई यह समझता है कि काव्यके करते समय ही उसे वह आनन्द प्राप्त होता है। जो हो, इस विषयमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कवि कीर्ति प्राप्त करता है। यह कीर्तिकी लिप्सा ही कविताकी सृष्टिके मूलमें है। शास्त्र-ग्रन्थोंमें कीर्ति प्राप्त करनेके उपायोंका वर्णन है। कैसे राजाओंको प्रभावित किया जा सकता है; अभ्यास, शास्त्रनिष्ठा और तपोबलसे किस प्रकार कवित्व-शक्तिकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि बातोंका बड़ा विशद वर्णन किया गया है। राजशेखरकी प्रसिद्ध पुस्तक काव्य-मीमांसासे जान पड़ता है कि कविको कीर्ति प्राप्त करनेके लिए कितना आयास करना पड़ता था। एक बात जो यहाँ स्मरण कर लेने योग्य है वह यह है कि यद्यपि कविताकी रचनाके लिए प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यासकी आवश्यकता बताई गई है, पर इस बातपर अधिक जोर नहीं दिया गया कि केवल प्रतिभा ही कवित्वका कारण हो सकती है। सच पूछा जाय तो जिस व्यक्तिने शास्त्राभ्यास नहीं किया वह संस्कृत आलंकारिककी दृष्टिमें कवि ही नहीं

हो सकता। कविके लिए शास्त्राभ्यास नितान्त आवश्यक है। संस्कृत आलंकारिककी दृष्टिमें ग्रामीण गीतों या सन्तोंकी अटपटी बानीमें कवित्व ही नहीं हो सकता। इस मनोवृत्तिका परिणाम पिछले खेवेके हिन्दी समालोचकोंकी आलोचनाएँ हैं जिसमें देव, बिहारी आदि आलोच्य कवियोंको सर्वशास्त्रोंसे परिचित सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई थी।

मध्य युगमें जब नये सिरेसे हिन्दी-कविता सिर उठाने लगी तो उसमें ये सब बातें नहीं थीं। उसमें शास्त्राभ्यासका स्थान गौण था। धार्मिक शास्त्रोंके सम्बन्धमें भी कुछ सुनी-सुनाई बातें ही उसकी उपजीव्य थीं; पर शीघ्र ही शास्त्राभ्यासने इस क्षेत्रमें भी प्रवेश किया और बादकी कविताएँ जीवनसे विच्छिन्न हो गई। कविगण नायक और नायिकाओंके और अलंकार तथा संचारी आदि भावोंके पूर्व-निर्णीत वर्गीकरणका आश्रय लेकर एक बँधे-सधे सुरमें एक बँधी-सधी बोलीकी कवायद करने लगे। संस्कृतके उत्तरकालीन साहित्यका प्रभाव ही उसे चालित कर रहा था।

इस ओर इसके उपजीव्य उत्तरकालीन संस्कृत साहित्यके साथ जब हम उन रचनाओंकी तुलना करते हैं जो लोक-जीवनके साथ घनिष्ठ भावसे जड़ित थीं, तो सहज ही दोनोंका भेद स्पष्ट होता है। मेरा मतलब गाँवोंमें प्रचलित गीतों और कथानकोंसे है। वहाँ हम प्रेम और वियोगमें तड़पते हुए सच्चे हृदयोंका वर्णन पाते हैं। भाईसे विच्छिन्न बहनकी करुण कथा; सौतके, ननदके और सासके अकारण निक्षिप्त वाक्य-बाणोंसे विद्ध बहूकी मर्म-कहानी; साहूकार जमींदार और महाजनके सताये गरीबोंकी करुण पुकार; आनपर कुर्बान हो जानेवाले विस्मृत वीरोंकी वीर्य-गाथा; अपहार्यमाणा सतीका वीरत्वपूर्ण आत्मघात; नई जवानीके प्रेमके घात-प्रतिघात; प्रियतमके मिलन-विरह और मातृ-प्रेमके अकृत्रिम भाव इन गीतोंमें भरे पड़े हैं। जन्मसे लेकर मरण तकके कालमें, और सोहाग-शयनसे लेकर रणक्षेत्र तक फैले हुए विशाल स्थानमें सर्वत्र इन गानोंका गमन है। यही हिन्दी-भाषाकी वास्तविक विभूति है। इसकी एक एक बहूके चित्रणपर रीति-कालकी सौ सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होनेपर भी प्राणमयी हैं, और वे अलंकारोंसे लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवनके लिए किसी शास्त्र-विशेषकी मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आपमें ही परिपूर्ण हैं। मध्य-युगकी हिन्दीकी

सुसंस्कृत समझी जानेवाली कवितामें जो बात सबसे अधिक खटकनेवाली है, वह है उसकी परमुखापेक्षिता। क्या अलंकार, क्या नायिका-भेद, सर्वत्र इसमें उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्यकी नकल की गई है, और साथ ही साथ यह समझकर कि भाषामें किया हुआ यह प्रयत्न संस्कृतके कवियोंकी तुलनामें नितान्त तुच्छ है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह चित्रका एक पहलू है। उसका दूसरा पहलू इससे कहीं अधिक उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण है। पिछले दो हजार वर्षोंका भारतीय साहित्य जहाँ कविके व्यक्तित्वको उत्तरोत्तर खोता गया है; जनसाधारणके वास्तविक सुख-दुःखोंसे हटकर अपने ही द्वारा निर्मित बन्धनोंमें बराबर बँधता गया है, कीर्ति-प्राप्तिका केन्द्र अपने आपको न बनाकर किसी अन्य ऐश्वर्यको बनाता गया है, वैयक्तिकताकी स्वाधीनताको छोड़कर 'टाइप' रचनाकी पराधीनता स्वीकार करता गया है, वहाँ निश्चयपूर्वक उसने कुछ ऐसी बातें संसारको दी हैं, जो अनुपम हैं। विशेषज्ञ पंडितोंने समसामयिक ग्रीक, रोमन तथा अन्य समृद्ध समझे जानेवाले साहित्योंके साथ तुलना करके देखा है कि कालिदास तो कालिदास, माघ और भारविके साथ भी जिनका नाम लिया जा सके, ऐसे कवि भी समसामयिक साहित्यमें नहीं हैं। यदि हम पहली बातोंको सामने रखकर इस बातपर विचार करते हैं, तो यह एक अद्भुत विरोधाभास-सा जान पड़ता है; किन्तु है यह ठीक। कारण यह है कि विविध बन्धनोंके भीतर रहकर संस्कृतके कविने एक अपूर्व संयमका अभ्यास किया है, अपने आपको मिटाकर वह सहज ही सर्वसाधारणका प्रतिनिधि हो सका है, और वास्तविकताकी कठोर विषमताके भीतर एक शाश्वत मंगलको प्राधान्य दे सका है। सच पूछा जाय तो जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, उसकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका प्रेम स्थायी नहीं हो सकता अगर वह वन्ध्य हो, अगर वह अपने-आपमें ही संकीर्ण हो रहे, कल्याणको जन्म न दे और संसारमें पुत्र-कन्या अतिथि-प्रतिवेशी आदिके बीच विचित्र सौभाग्य रूपसे व्याप्त न हो जाय। एक ओर संसारका निविड़ बन्धन और दूसरी ओर आत्माकी बन्धनहीन व्यापकता, इन दोनोंका सामंजस्य संस्कृत-कविताको एक अपूर्व माधुर्यसे मंडित कर सका है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है संस्कृत कविकी श्रद्धा और निष्ठा। शास्त्राभ्यासके साथ जहाँ प्रतिभाका मणि-काञ्चन योग हुआ है, वहाँ संस्कृतका कवि अतुलनीय है।

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दीके शुरूमें हिन्दीकी रीतिकालीन कवितामें वह उज्ज्वल पक्ष बहुत कुछ म्लान हो गया था और पूर्ववर्णित अनुज्ज्वल अंश गाढ़ हो उठा था। इसी समय हमारा सम्बन्ध पश्चिमी दुनियासे हुआ। बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित हुआ, और पिछले पंद्रह-बीस वर्षोंमें इसने हिंदी-साहित्यमें युगांतर उपस्थित कर दिया है। इस नये साहित्यकी अलोचना करनेके पहले हम एक बार फिर स्मरण कर लें कि यहाँ तक हमारी क्या पूँजी थी।

संस्कृतमें लिखे हुए शास्त्रोंपर हमारी अविचल श्रद्धा थी। हिंदीमें जो कुछ लिखा जा रहा था, वह निश्चित रूपसे, कम अच्छा और Inferior मान लिया गया था। कविका व्यक्तित्व कवितामें यथासम्भव कम प्रस्फुटित होता था, बँधे-बँधाए नियमोंकी अनुवर्तितामें कवित्वका साफल्य स्वीकृत हो चुका था, कविता रसपरक हो गई थी, पर वह सम्पूर्णतः अपनेको धर्मसे अलग नहीं कर सकी थी, जन्मान्तरवाद निश्चित रूपसे स्वीकृत हो जानेके कारण प्रचलित रूढ़ियोंके विरुद्ध तीव्र सन्देह एकदम असम्भव था, काव्य-शास्त्रकी रूढ़ियाँ कविताका अविच्छेद्य अंग हो गई थीं और साहित्यके नामपर एकमात्र पद्यका राज्य था। इसी संपद्‌को लेकर हम पश्चिमके संस्पर्शमें आये। अपना पूर्व गौरव हम भूल चुके थे।

२

हम कविताकी बात करते आ रहे थे। यह अच्छा ही हुआ था, क्योंकि नवयुगके आरम्भमें अपने प्राचीनोंसे हमने जो कुछ वर्तमान साहित्यका पाया था, वह कविता ही थी। यहाँ हम बिना रुके कविताकी बात करते जा सकेंगे। जहाँ तक कविताका सम्बन्ध है, बहुत कम दिन पहले ही हमारे साहित्यकोंको नवयुगकी हवा लगी है। जिस दिन कविने परिपाटीविहीन रसज्ञता और रूढ़िसमर्थित काव्य-कलाको साथ ही चुनौती दी थी, उस दिनको साहित्यिक क्रान्तिका दिन समझना चाहिए। सब कुछ झाड़-फटकारकर कविने अपने आत्म-निर्मित आधारकी कठोर भूमिपर अपने आपको आ जमाया। पहली बार उसने अपनी अनुभूतिके तानें-बानेंसे एक संकीर्ण दुनिया तैयार की, संकीर्ण होनेके साथ ही यह प्रसारधर्मी थी। इस भूमिपर, इस आत्म-निर्मित बेड़ेके अन्दर खड़े होकर हिंदीके कविने अपनी आँखोंसे दुनियाको देखा, कुछ समझा। पहली बार उसने प्रश्नभरी मुद्रासे दुनियाके तथाकथित सामञ्जस्यकी ओर देखा। उसे सन्देह हुआ,

असन्तोष हुआ, संसार रहस्यमय दिखा। हिन्दी कविके विचार और हिन्दी-कविताकी रूप-रेखा दूसरी हो गई। केवल इसी दृष्टिसे देखा जाय, तो हमारे आधुनिक कवियोंका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

लेकिन नवयुगकी बात कहते समय हमें कविताको अन्तमें ही ले आना चाहिए था। जो कोई भी नवयुगका आदिप्रवर्तक क्यों न हो, वह निश्चय ही गद्य-लेखक था। सच पूछा जाय तो नवयुगका साहित्य गद्यका साहित्य है। भाषाने परिवर्तनके अनेक रूप देखे हैं, शब्दकोषमें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है, गद्यकी शैलियोंमें ज़बर्दस्त परिवर्तन हुआ है, पद्यकी भाषा एकदम बदल गई है। हिन्दीके उपन्यास और कहानियाँ एकदम नई चीज हैं। इस क्षेत्रमें हिन्दी साहित्यकी वेगवती यात्रा, जो 'चन्द्रकान्ता' से शुरू होकर 'गोदान' तक पहुँच चुकी है, बड़े मार्केकी है। नाटकोंमें यद्यपि इतना बड़ा विकास नहीं हुआ है; पर वह नितान्त कम भी नहीं है। लिरिक (गीत काव्य) में अभूतपूर्व परिवर्तन और नया प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, और जैसा कि कभी कभी वृद्ध पंडित झुँझलाकर कहा करते हैं, छन्द, भाषा, रीति-नीति और यहाँ तक कि उपमा-रूपक आदिमें भी आजकी कविता प्रत्येक अँग्रेजी ताल-सुरपर नाचने लगी है। और चाहे इन वृद्ध पंडितोंकी आलोचनाको ले लीजिए, या भारतीय राष्ट्रकी विशुद्धताके वकीलोंके लेख और व्याख्यान, या धार्मिक और दार्शनिक मतवादोंकी व्याख्याएँ, या मासिक और अन्य सामयिक साहित्य—सर्वत्र सुर बदल गया है, अँगरेजी ढंगका अनुकरण हो रहा है। और हमारा साहित्य निश्चित रूपसे प्राचीनोंकी निर्धारित नियमावलीसे अलग हट गया है। यह तथ्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

लेकिन फिर भी साहित्यके उपरिलिखित बाह्य रूपमें जो परिवर्तन हुआ है, वह उसके आभ्यन्तर रूपको देखते हुए बहुत मामूली है। साहित्यका स्पिरिट ही बदल गया है। मनुष्यकी वैयक्तिकताने निश्चित रूपसे साहित्यमें स्थान पाया है। नारीने अपने समानाधिकारके दावेके साथ साहित्यमें प्रवेश किया है और दृढ तथा उदात्त कंठसे पिछली शताब्दीकी कल्पित अवास्तविक नारी-मूर्तिके चित्रणका प्रतिवाद किया है, साहित्य अनजानमें इस कल्पनासे दूर हट गया है। वह दिन अब जाता रहा है, जब प्रकृति सिर्फ उद्दीपन भावके रूपमें, या केवल सजावटके रूपमें चित्रित की जाती थी, और यदि नहीं गया है, तो जानेकी तैयारीमें है। आज प्रकृतिके साथ साहित्यका रिश्ता आलम्बनका रिश्ता है, उद्दीपनका नहीं।

आधुनिक कवितामें प्रकृतिमें आध्यात्मिकताका भी आरोप देखा गया। ईश्वरका स्थान आज मानवताने ले लिया है, पूजन-भजनके स्थानपर आज पीड़ित मानवताकी सहायता और हमदर्दी प्रतिष्ठित हो चुकी है। प्राचीन धार्मिक विश्वासोंकी रूढ़ियोंके हिल जानेके कारण आजके साहित्यिकने संसारको नई दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया है, और यूरोपियन साहित्यकी रहस्य-भावना क्रमशः उसे अपनी ओर खींचने लगी है। प्रत्येक क्षेत्रमें ऐतिहासिकताकी प्रतिष्ठा इस बातका पक्का सबूत है कि भारतीय चिन्ता अपना पुराना रास्ता केवल छोड़ ही नहीं चुकी है, भूल भी गई है।

ऊपरकी कहानी एक जातिके बनने या बिगड़नेकी कहानी है। एक बार आश्चर्य होता है उस भाषाकी अपूर्व ग्राहिका-शक्तिपर, जो पचीस बरसके मामूली अर्सेमें इतना ग्रहण कर सकती है—नहीं, इतना परिवर्तन स्वीकार करके भी निर्विकार-सी बनी रह सकती है! और फिर आश्चर्य होता है उस जातिपर जो इतनी जल्दी इतना भूल सकती है! आजका हिन्दी-साहित्य हमारे लिए इतना निकट है कि हम उसको ठीक-ठीक नहीं देख सकते। सांख्य-कारिकामें बताया गया है कि अत्यन्त दूर और अत्यन्त नजदीक ये दोनों ही अवस्थाएँ प्रत्यक्षकी उपलब्धिमें बाधक हैं। फिर विविध परिवर्तनोंके आलोड़न-विलोड़नसे इसकी ऊपरी सतह कुछ ऐसी फेनिल हो गई है कि नीचेकी गहराई साफ नजर नहीं आती। पर हम चाहे जितने भी उन्नत या अवनत हो गये हों, चाहे जितना भी आगे या पीछे हट आये हों, जो बात सर्वाधिक स्पष्ट है, वह है हमारी अनुकरणक्षमता। हमने अन्धाधुन्ध अनुकरण किया है; अच्छा-बुरा जो कुछ मिला है, उसे उदरस्थ करनेकी चेष्टा की है, सत्-असत् जो कुछ अपना था, सब छोड़ते और भूलते गये हैं। शायद हम ऐसा करनेको बाध्य थे, शायद यही स्वाभाविक है; पर जिस त्रुटिको कोई भी बर्दाश्त नहीं कर सकता वह यह है कि हमने अपनी वह सबसे बड़ी सम्पत्ति खो दी है, जिसने भारतीय साहित्यको, उसके सम्पूर्ण दोष-त्रुटियोंके बाद भी, संसारके साहित्यमें अद्वितीय बना रखा था। वह सम्पत्ति है—संयम, श्रद्धा और निष्ठा।

इस अनन्य-साधारण गुणके अभावमें कई जगह हमारी वैयक्तिकता साहित्यमें गलदश्रु-भावुकतासे आरम्भ करके हिस्टीरिक प्रमाद तकका रूप धारण करती जा रही है; प्रकृतिका आलम्बन थोथी बकवाद और शून्यगर्भ प्रलाप-वाक्योंके रूपमें

प्रकट हो रहा है; व्यक्तिगत प्रेम-चर्चा विज्ञापनवाज़ी-सी मालूम होती है और मानवताके प्रति 'अर्पित श्रद्धांजलि' रटी हुई सूक्तियोंका आकार ग्रहण कर गई है। हमने संसारको नई दृष्टिसे देखा ज़रूर है; पर साधना और संयमके अभावसे हमारी दृष्टि व्यापक नहीं हो सकी है। नकलकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसके अपवाद भी हैं, और आशाका कारण इन अपवादोंकी बढ़ती हुई संख्या ही है।

४

सही बात, जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, शायद यह है कि—"यूरोपका साहित्य और यूरोपका दर्शन मानस-शरीरको सहला नहीं देता, केवल धक्का मार देता है। यूरोपकी सभ्यता चाहे अमृत हो, मदिरा हो, या हालाहल हो, उसका धर्म ही है मनको उत्तेजित करना, उसे स्थिर न रहने देना। इसी अँग्रेजी सभ्यताके संस्पर्शसे हम समूचे देशके आदमी जिस किसी एक दिशामें चलनेके लिए तथा अन्य लोगोंको चलानेके लिए छटपटा उठे हैं। सौ बातकी एक बात यह कि हम उन्नतिशील हों या अवनतिशील, लेकिन हम सब गतिशील जरूर हैं—कोई स्थितिशील नहीं।" हिन्दीके साहित्यिक भी गतिशील हैं; पर हजारों वर्षकी पुरानी सम्पत्तिको छोड़ देनेके कारण हमारी गति सदा वांछित दिशाकी ओर ही नहीं जा रही है। फिर भी इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि हम एक जीवित जातिके संस्पर्शमें आये हैं, और जीवनके आघातसे ही जीवनकी स्फूर्ति होती है। हजारों वर्षके सुषुप्त देशके जगानेमें भी कुछ समय लगेगा। आजकी गतिशीलता वांछित दिशामें हो या अवांछित दिशामें, वह हमारे जागरणका निश्चित सबूत है। जो लोग इसे आशंका और भयकी दृष्टिसे देखते हैं, वे गलती करते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' और जो लोग इसे आत्यन्तिक उन्नति समझ कर झूमने लगते हैं, वे और भी गलती करते हैं; क्यों कि उन्हें महसूस करना चाहिए कि सभी पुरानी चीजें सड़ा ही नहीं करतीं।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति भी है, जिसे हमने नवीनताके नशेमें छोड़ दिया है। वह है हमारी सुदीर्घ साधनालब्ध दृष्टि। अपने काव्यके अभिधेय अर्थोंकी सीमा पार करके जिस प्रकार हमारा कवि एक अन्य अर्थको ध्वनित

करता था, उसी प्रकार वह इस ठोस रूपावरण जागतिक व्यापारोंके भीतर भी एक रूपातीत सत्यको देखा करता था। हमारे कहनेका यह मतलब नहीं है कि वह कवितामें फिलासफी झाड़ा करता था—यह काम तो हम लोग अब करने लगे हैं, बहुत हालमें,—हम केवल यही कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार अर्थमें, उसी प्रकार परमार्थमें भी वह एक ठोस रूपके परेकी वस्तु—रस—को देखा करता था। इसीलिए हजार बन्धनोंके भीतर रहकर भी वह मंगलकी सृष्टि कर सकता था। अब इस युगमें, जिस प्रकार हमने अन्य विषयोंमें यूरोपियन कलाका अनुकरण किया है, उसी प्रकार काव्यके क्षेत्रमें भी हम अभिव्यक्तिको प्रधानता देने लगे हैं; व्यंजनाको हमने छोड़ और भुला दिया है। हम रूपकी वास्तविकताकी ओर प्रलुब्ध भावसे दौड़ पड़े हैं; परन्तु अरूपकी वास्तविकता हमसे दूर हट गई है। अनित्यका चित्रण हम सफलताके साथ करने लगे हैं; पर उसमें निहित शाश्वतका चित्रण हमारे साध्यके बाहर हो गया है। प्रो० लेवीने कहा था कि कलाके क्षेत्रमें भारतीय प्रतिभाने संसारको एक नूतन और श्रेष्ठ दान दिया था, जिसे प्रतीक रूपसे 'रस' शब्दके द्वारा प्रकट कर सकते हैं और जिसे एक वाक्यमें इस प्रकार कह सकते हैं कि कवि अभिव्यक्त (express) नहीं करता, व्यंग्य या ध्वनित (suggest) करता है। आज हमने अपने इस श्रेष्ठ दानको भुला दिया है और इसीके फलस्वरूप काव्य और आख्यायिकाके क्षेत्रमें कुरुचि और जुगुप्सामूलक रचनाओंकी अधिकता हो गई है। फिर भी हम कविके साथ आश्वस्त हो सकते हैं, क्योंकि—"दूर देशका मलय-समीर देशान्तरके साहित्य-कुंजमें पुष्पोत्सवका ऋतु लानेमें समर्थ हुआ है, इस बातका प्रमाण इतिहासमें है। जहाँसे हो और जैसे भी हो जीवनके आघातसे जीवन जाग उठता है, मानव-चित्तके लिए यह चिरकालके लिए एक वास्तविक सत्य है।"

५

हालहीमें हिन्दी कविता गत पन्द्रह-बीस वर्षोंकी परम्परासे भी अलग होने लगी है। यह अलगाव मुख्यतः वक्तव्य-विषयमें स्पष्ट हुआ है। असहयोग आन्दोलनके बादसे खड़ी बोलीकी कवितामें उन्नीसवीं शताब्दीके अँग्रेजी कवियोंका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। इस श्रेणीके कवियोंने बाह्य जगत्को

अपने अन्तरके योगमें उपलब्ध किया था। कवि जगत्‌को अपनी रुचि, अपनी कल्पना और अपने सुख-दुःखोंमें गुथा हुआ देखता था और रचना-कौशलसे उसका व्यक्तिजगत् पाठकका उपभोग्य हो उठता था। यूरोपीय महायुद्धके बादसे इस विशेष दृष्टिमें बहुत परिवर्तन हो गया है। वैसे तो परिवर्तनके लक्षण बहुत पहलेसे ही दृष्टिगोचर हो रहे थे पर महायुद्धकी कठोरता, क्रूरता और घिनौनेपनने यूरोपीय कविके अन्दर बड़ी तीव्र प्रतिक्रियाका भाव ला दिया। इधरकी हिन्दी कवितामें अप्रत्यक्ष रूपसे इस युद्धोत्तरकालीन प्रतिक्रियाका प्रभाव भी दिखाई पड़ा है। इधर जो परिवर्तन हिन्दी कवितामें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे दिखाई दिया है वह युद्धोत्तरकालीन काव्यके प्रभाव-वश या अनुकरण करनेकी चेष्टा-वश नहीं, बल्कि आधुनिक युगके विचारोंके कारण हुआ है। पिछले पन्द्रह बीस वर्षोंकी हिन्दी कवितामें, उसकी सैकड़ों वर्षकी परम्पराके विरुद्ध वैयक्तिकताका अबाध प्रवेश हुआ है। चाहे कवि कल्पनाके द्वारा इस जगत्‌की विसदृशताओंसे मुक्त एक मनोहर जगत्‌की सृष्टि कर रहा हो, या चिन्ताद्वारा किसी अज्ञात रहस्यके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूतिके बलपर पाठकके वासनान्तर्विलीन मनोभावोंको उत्तेजित कर रहा हो,—सर्वत्र उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठती रही है। अत्यन्त आधुनिक कवि इस भावुकताको पसन्द नहीं करता। वह वस्तुको आत्म-निरपेक्ष भावसे देखनेको ही सच्चा देखना मानता है। यह बात उसके निकट सत्य नहीं है कि वस्तुको उसने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी कैसी है। इस वैज्ञानिक चित्त-वृत्तिका प्रधान आनन्द कौतूहलमें है, उत्सुकतामें है, आत्मीयतामें नहीं। और जैसा कि इस विषयके पंडितोंने बताया है, विश्वको व्यक्तिगत आसक्तभावसे न देखकर अनासक्त और तद्‌गत भावसे देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है। हालके बहुत-से हिन्दी कवियोंने जगत्‌को इस दृष्टिसे देखनेका प्रयास किया है। इसी दृष्टिकोणको उन्होंने रूपसे भावकी ओर जाना कहा है। इसके विरुद्ध कल तक वे भावसे रूपकी ओर आनेका ही प्रयत्न करते थे।

कविवर सुमित्रानन्दन पन्तकी कविताओंमें इस निर्वैयक्तिक दृष्टिकोणका सबसे अधिक प्रकाश हुआ है। उनके द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' नामक मासिक पत्रमें इस प्रकार बाह्य जगत्‌को तद्‌गत और अनासक्त भावसे देखनेका प्रयत्न करनेवाले कवियोंकी बहुत-सी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं, किन्तु यह समझना

ठीक नहीं कि इस प्रकारके कवियोंमें कोई एक सामान्य प्रवृत्ति ही दिखाई पड़ी है। छोटी-मोटी ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ बीज रूपसे दृष्टिगोचर हुई हैं जो भविष्यमें निश्चित और विशेष आकार धारण कर सकती हैं। उनका मूल उद्गम भी सर्वत्र एक नहीं और आपाततः एक जैसी दिखाई देनेपर भी उनका भावी विकास भी एक रूपमें ही नहीं होगा। नीचे कुछ विशेष प्रवृत्तियोंका उल्लेख किया जाता है।

साहित्यमें समाजवादी सिद्धान्तके बहुल प्रचारसे हो या प्रान्तीय स्वायत्त-शासनकी प्रतिक्रियासे हो, राष्ट्रीय भावके कवियोंमसे अधिकांशने भारतमाताके स्थानपर किसानों और मज़दूरोंका स्तव-गान आरंभ किया है। इन स्तव-गायकोंके सिवा बहुतसे ऐसे युवकोंको भी, जो भविष्यमें चमक सकते हैं, गरीबों, मजदूरों और किसानोंके संबंधमें कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओंकी संख्या वर्गीकरण और विवेचनाके लिए पर्याप्त नहीं हैं, फिर भी इनमें चार प्रकारकी प्रवृतियाँ स्पष्ट ही लक्षित हो रही हैं। वे चार प्रकारके कवि ये हैं—(१) पहले वे लोग जो स्वयं गरीबीका जीवन बिता चुके या बिता रहे हैं अथवा गरीबोंमें हिल, मिल कर उनके सुख-दुःखोंको गाढ़ भावसे अनुभव कर चुके हैं। ऐसे कवियोंमें गरीबों या शोषितोंके प्रति हमदर्दीकी अपेक्षा पूँजीपतियों और जमींदारों या शोषकोंके प्रति प्रतिशोध और विक्षोभके भाव ही अधिक प्रकाशित हुए हैं। इस श्रेणीके कवि बिहारमें अधिक दिखाई दे रहे हैं। (२) दूसरे वे जो वर्तमान सामाजिक बुराइयोंको ग्रंथ-गत ज्ञानके द्वारा या आत्म-चिन्तनके द्वारा समझनेकी कोशिश करके इस नतीजेपर पहुँचे हैं कि आर्थिक वितरणकी विषमता ही समस्त दोषोंका मूल कारण है। उन्होंने बुद्धिद्वारा विषयकी उपलब्धि की है, इसलिए इनकी भाषामें आक्रामक गुण नहीं हैं, पर ये मध्यश्रेणीके उन लोगोंको अपने विचारोंके अनुकूल बना लेनेकी शक्ति रखते हैं जिन्हें समाजके अत्यन्त निचले और उपेक्षित स्तरोंका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। (३) तीसरे वे हैं, जिन्होंने हवामें उड़ते हुए विचारोंको पकड़कर छन्दके फ्रेममें बाँधा है। इनमें अधिकतर कवि-सम्मेलनोंके वे अखाड़ेबाज कवि हैं जो प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषयका कारण किसानों आर मजदूरोंको ही बताते हैं। (४) चौथी श्रेणीके कवि गरीबोंकी ओर मानवताके विचारसे आकृष्ट हुए हैं। वे उन्हें शोषित समझ कर शोषकोंके विरुद्ध पाठकको उत्तेजित करनेके लिए नहीं

बल्कि उनके कष्टोंका वर्णन कर मनुष्यकी सत्प्रवृत्तियोंको उत्तेजित करनेके लिए कलम उठाते हैं। कभी कभी एक ही कविमें इनमेंकी एकाधिक प्रवृत्तियाँ दृष्ट हुई हैं। अभी ये प्रवृत्तियाँ ऐसी कोमलवस्थामें हैं कि उनके प्रतिनिधि कवियोंको ढूँढ़ निकलना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रथम दोमेंसे अन्यतरका प्रकाश कई कवियोंमें अधिक स्पष्टताके साथ हुआ है।

कुछ छिटके फुटके प्रयत्न उस जातिकी कविताके लिए भी हुए हैं जिन्हें प्रभाववादी सम्प्रदायकी कविता कहते हैं। इस श्रेणीके कवि वक्तव्य-विषयकी प्रत्येक छोटी-मोटी विशेषताओंको या उनके सौकुमार्य आदि विशेष धर्मोंको अनावश्यक विस्तारके साथ वर्णन करनेके पक्षपाती नहीं हैं। वे कहते हैं कि कलाकी मनोहारिताको तूल देना व्यक्तिगत मोहका लक्षण है। वक्तव्य वस्तुकी रमणीयता नहीं, बल्कि उसकी यथार्थता वर्णनीय होती है। उसका 'कैरेक्टर' उसकी समग्रतामेंसे प्रकाशित होता है, विशेषतामें नहीं। इस समग्रताको प्रस्फुटित करनेकी अभी चेष्टा भर ही हुई है, सफलता कम ही मिली है।

इन नवीनतम प्रवृत्तियोंके साथ ही साथ पुरानी कल्पना-प्रधान और चिन्तन-मूलक प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। श्री निरालाने 'तुलसीदास' के द्वारा एक नवीन मार्गपर चलनेकी सूचना दी है। अपेक्षाकृत तरुण कवियोंमें अनुकरणकी प्रवृत्ति खूब दिखाई पड़ी है। अधिकांश अनुकरण प्रसादजी, पन्तजी और महादेवी-जीकी कविताओंका हुआ है। कुछ अंश तक विवशतामूलक नैराश्य भावनाओं और तज्जन्य क्षणिक आनंदके यथालाभ-सन्तोषवादके अनुकरणकी भी चेष्टा हुई है। ऐसे तरुणोंकी यह ग्राहिका शक्ति मौलिकताके अभावकी निशानी है। इसका नियोग अन्य क्षेत्रोंमें होता तो साहित्यके लिए मंगलकी बात होती।

६

दो कारणोंसे बहुत हालमें कविताकी भाषा और शैलीमें भी परिवर्तन हुआ है। एक तो विषयको जब अनासक्त और तद्गत भावसे देखा जाता है तब स्वभावतः ही भावुकताको स्थान नहीं हो जाता। ऐसी अवस्थामें कवि वैज्ञानिक-की भाँति गद्यमय भाषा लिखने लगता है। दूसरे, विषयकी नवीनताको संपूर्ण रूपसे अनुभव करानेके लिए कविलोग जान बूझ-कर ऐसी भाषा और शैलीका व्यवहार करते हैं जो पाठकके मनको इस प्रकार झकझोर दे कि उसपरसे प्राची-

नताके संस्कार झड़ जाँय। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वक्रोक्तियोंका व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं, अद्भुत भी जँचें। इस श्रेणीका कवि अनायास ही, अपनी प्रियाके प्रेमकी महत्ता दिखाते समय, कह सकता है—हे प्रिये, तुम सूर्यसे भी बड़ी हो, समुद्रसे भी, मेढ़कसे भी, कुकुरमुत्तेसे भी। यहाँ मेढ़क और कुकुरमुत्ता केवल पाठकके चित्तको झकझोरनेके लिए ही व्यवहृत होंगे, यद्यपि उनका अंतर्निहित तत्त्व यह हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्तामें जितने सत्य हैं उतने ही सत्य मेढ़क और कुकुरमुत्ते भी हैं। ठीक इसी प्रकारकी उक्तियाँ हिन्दीमें अभी नहीं हुई हैं पर इस जातिकी बहुत हुई हैं। कवि महानगरीकी सड़कोंपर घूमता हुआ उसकी अट्टालिकाओंमें बैठी हुई प्रतीक्षा-परायण नवोढ़ा या पार्कोंमें उद्विग्न-भावसे टहलते हुए प्रेमीको नहीं देखता, बल्कि गंदी नालियों और कुष्टजर्जर पीपवाही शव-कल्प शरीरोंको देखता है। सिद्धान्ततः उसकी दृष्टिमें नवोढा या उद्विग्न प्रेमी अपने आपमें जितने सत्य हैं, उतने ही सत्य गंदी नालियाँ और दुर्गंधित शरीर भी हैं। परन्तु दूसरेका उल्लेख वह झकझोर देनेके लिए और अपने नवीन विचारोंको पूरे जोरसे हृदयंगम करानेके उद्देश्यसे ही करता है। इन दो बातोंके सिवा जिन निर्वैयक्तिक कवियोंका लक्ष्य अपनी कविताको अपढ़ जनता तक पहुँचाना है, उनकी भाषामें भी सरलताकी प्रवृत्ति दिखाई दी है। पुराने रास्तेपर चलनेवाले कवियोंकी भाषामें और कोई खास परिवर्तन तो नहीं हुआ पर लाक्षणिक वक्रताका ह्रास होता हुआ जान पड़ता है।

आधुनिक हिन्दी कविताकी भाषापर विचार करते समय जो बात सबसे अधिक उल्लेख-योग्य है वह यह है कि अत्यधिक प्रचारित और विज्ञापित होनेपर भी वह अधिकांशमें हिन्दी जाननेवाले पाठकोंके बहुत नजदीक नहीं आ सकी है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कवियोंकी प्रेरणा अधिकांशमें विदेशी माध्यमके द्वारा आती है और जो शास्त्र आधुनिक युगके मनुष्यको प्रभावित कर रहे हैं उनकी बहुत कम चर्चा हिन्दी भाषामें हुई है। इस युगके मनुष्यकी विचार-धारा मुख्यतः दो यूरोपियन आचार्योंसे बहुत दूर तक प्रभावित है। ये हैं, मार्क्स और फ्रायड। एकने बहिर्जगत्के क्षेत्रमें और दूसरेने अन्तर्जगत्के क्षेत्रमें क्रान्ति ला दी है। इनके विचारों और ग्रन्थोंका हिन्दीमें बहुत कम प्रचार हुआ है परन्तु इनके द्वारा प्रभावित साहित्यका निर्माण होने लगा है। फिर मानवताकी

नई कल्पना भी, जिसने आधुनिक साहित्यमें ईश्वरका स्थान ले लिया है, अधिकांशमें हिन्दीके लिए नई चीज है। यह प्राचीन विश्व-मैत्रीके आदर्शसे पूर्णतः भिन्न है जिसमें 'आब्रह्मस्तंभपर्यन्त' सर्वभूतके हितकी चिन्ता रहती थी। इन और अन्य प्रेरणामूलक विचारोंका यथेष्ट प्रचार न होनेसे केवल हिन्दी समझनेवाली जनताके लिए इस कविताका रसास्वाद करना कठिन हो गया है। इसालिए अँग्रेजी साहित्यसे परिचित सहृदय जन जिन लोगोंको बहुत उच्चकोटिके कवि मानते हैं, उन्हें ही उस साहित्यसे अपरिचित लोग 'छायवादी' कहकर और अबोध-गम्य मानकर उपेक्षा करते हैं। हाल ही में 'इम्प्रेशनिष्ट' कहकर व्यंग्य करनेकी प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई है। यह प्रवृत्ति कभी कभी उच्च कोटिकी पत्रिकाओंमें भी प्रकाशित होती देखी गई है। काव्य-पुस्तकोंमें लम्बी लम्बी भूमिकाओंद्वारा कवि बेवसीके साथ अपने और अपने पाठकोंके बीचके व्यवधानको भरनेकी चेष्टा करता है। यह चेष्टा कभी कभी उपहासास्पद अवस्था तक पहुँच गई है। लेकिन असलमें इस व्यवधानको आधुनिक शास्त्रोंके प्रचारद्वारा ही भरा जा सकता है।

वैयक्तिकता और भावुकताके ह्रासके साथ ही साथ, और इन्हींके परिणामस्वरूप इधर पिछले वर्षोंकी तुलनामें सस्ते और भाव-प्रवण गीतोंकी बहुत कमी हुई है। इन रचनाओंमें मुश्किलसे दो-एक गीत मिलेंगे। परन्तु कुछ लोग इस दिशामें अग्रसर होकर अपने लिए नए क्षेत्रकी सूचना दे रहे हैं। जिन कवियोंने इस नए रास्तेपर चलना पसंद नहीं किया है, उनमें भी गीत लिखनेकी प्रवृत्ति कम ही दिखाई पड़ी है।

७

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वैयक्तिकताका ह्रास और वक्तव्य वस्तुके याथार्थ्यकी वृद्धि ही इधरकी प्रधान उल्लेखयोग्य घटना है। इस प्रवृत्तिका परिणाम ध्वनि-मूलक रचनाओंकी प्रधानता ही होनी चाहिए। पिछली व्यक्तित्व-प्रधान कविताओंमें कवि अपने अनुराग-विरागका इतना अधिक गाना गाता था, अपने भीतरके स्थायी-संचारी भावोंका इतना अधिक वर्णन करता था (अब भी यह प्रवृत्ति चली नहीं गई है) कि उसका वक्तव्य अर्थ बहुत कुछ वाच्यके रूपमें ही प्रकट होता था, उसमें व्यञ्जकत्वकी गुंजायश बहुत कम रह जाती थी।

आज जब कि कवि अपनी ओरसे यथासम्भव कम कह कर वस्तुके यथार्थ्यको समझनेकी चेष्टा कर रहा है, व्यंग्यार्थका प्रधान होना ही उचित था। युद्धोत्तरकालनि यूरोपीय काव्यमें, कहते हैं, ऐसा ही हुआ है। परन्तु हिन्दीमें ऐसा अभी नहीं हो पाया है। यहाँ काव्यका व्यंग्य गुणीभूत हो गया है। इस अत्यन्त सीमित कालकी कुछ परिमित कविताओंमें, जो अभी नितान्त भ्रूणावस्थामें ही हैं, यह बात चिन्ताजनक नहीं है। अभी कविके समस्त पाठ्य निरीक्षणोंके भीतरसे आधुनिक युगकी हड़बड़ी, उसकी दीनता और उसके दुःख प्रकाशित नहीं हो पाये हैं। अधिकांश कविताएँ चाहते हुए भी यह व्यंग्य करनेमें असमर्थ रही हैं कि आजके युगके व्यक्ति वर्ग-संघर्षसे ऐसी बुरी तरहसे पिस गया है कि उसे रोने-हँसनेकी या दुलार-प्यार जतानेकी फुरसत भी नहीं। फिर भी इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि इस प्रवृत्तिकी बढ़तीके साथ ही साथ कवितामें ध्वनि-प्राणताकी मात्रा बढ़ती ही जायगी। लेकिन ध्वनि-प्राणता बढ़े या घटे, जो बात निश्चित है वह यह है कि प्राचीनोंद्वारा निर्धारित रसोंकी ध्वनिकी संभवना क्रमशः कम होती जा रही है। ये कविताएँ किसी स्थायी भावको नहीं बल्कि नितान्त अस्थायी मनोभावोंको उत्तेजित करती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर इनमें संघर्षकी, असन्तोषकी, और असामंजस्यकी ध्वनि प्रधान होती जायगी और सहयोगकी, संतोषकी और सामंजस्यकी ध्वनि क्रमशः क्षीण होती जायगी। काल-प्रवाह हमें इसी ओर लिये जा रहा है।

ऊपर हम कविताकी चर्चा ही प्रधान रूपसे करते आये हैं किन्तु पिछले पचीस-छब्बिस वर्षोंमें केवल कविताने ही नवीन रूप ग्रहण किये हों, ऐसी बात नहीं है। यह समय हिन्दीकी चौमुखी उन्नतिका है। प्रायः प्रत्येक क्षेत्रमें प्रतिमाशाली लेखकोंका उदय हुआ है। संक्षेपमें इस विकासकी चर्चा कर लेनी चाहिए।

८

सन् १९२० ई० भारतवर्षके लिए युगान्तर ले आनेवाला वर्ष है। इस वर्ष भारतवर्षका चित्त पुराने संस्कारोंको झाड़कर नवीन मार्गके अनुसन्धानमें प्रवृत्त हुआ था। नवीन आशा और नवीन आकांक्षाके प्रति जैसा अडिग विश्वास इस समय दिखाई दिया वह शताब्दियोंसे अपरिचित-सा हो गया था। इसके

पहलेका भारतवर्ष यद्यपि आत्मचेतनासे शून्य नहीं था पर उसका चित्त पूर्ण मुक्त नहीं हुआ था। धर्म और समाजके क्षेत्रमें उन दिनों आर्यसमाजका जबर्दस्त प्रभाव था। आर्यसमाजने भारतीय चित्तको बहुत झकझोर दिया था पर प्राचीन आप्त वाक्यको प्रमाण माननेकी प्रवृत्तिको उसने और भी अधिक प्रतिष्ठित कर दिया। इसका परिणाम सभी क्षेत्रोंमें देखा गया। साहित्यके क्षेत्रमें भी इस समयतक प्रमाण-ग्रन्थोंके आधारपर विवेचना करनेकी प्रथा चल पड़ी थी। किसी कविके काव्यके उत्कर्ष या अपकर्षका निर्णय करनेके लिए अलंकार-ग्रन्थोंके प्रमाण ढूँढ़े जाते थे। पुराने कवियोंने ऐसा कहा है या नहीं, इस बातपर विचार किया जाता था; पुराने शास्त्रोंमें ऐसा कहना अच्छा समझा गया है या बुरा, इसपर शास्त्रार्थ किया जाता था और तब कहीं अच्छाई या बुराईपर फैसला दिया जाता था। नयी शिक्षाने भी हमारा आप्त-वाक्योंवाला संस्कार ज्योंका त्यों रहने दिया था। मैथ्यू आरनाल्ड और कालाईल भी हमारे लिए प्रमाणकोटिमें उसी प्रकार आ गये थे जिस प्रकार पुराने आलंकारिक आचार्य। नयी शिक्षाकी एक प्रतिक्रिया यह भी हुई थी कि हर बातमें 'हमारे यहाँ ऐसा लिखा है' कहकर अपने देशके किसी आचार्यका मत, किसी आधुनिक लेखकके मतसे उसकी तुलना करके, श्रेष्ठ बताया जाता था। आधुनिक लेखकोंको प्रमाणरूपमें उद्धृत करनेकी प्रवृत्ति तो हास्यास्पद रूप धारण कर चुकी थी। बहुतसे बंगाली और उर्दू लेखकोंके मत भी बिना समझे-बूझे उद्धृत किये जाते थे। उद्धृत करना यह उन दिनों गुण माना जाता था। किस साहबने हमारी भाषा और हमारे साहित्यके बारेमें कौन-सी स्तुति लिखी है यह बड़े आदरके साथ याद किया जाता था। अत्यन्त मनोरंजक बात यह थी कि कालिदासको 'भारतवर्षका शेक्सपियर' कहनेमें हम गर्व अनुभव करते थे, क्योंकि किसी श्वेतांग पण्डितने ऐसा लिख दिया था। तुलसीदास, सूरदास, देव और बिहारीके साथ भी शेक्सपियरकी एकाध उक्ति उद्धृत करके हिन्दी कवियोंका उत्कर्ष दिखाया जाता था।

भारतवर्ष मानों दीर्घ निद्राके बाद उठकर नवीन आलोककी ओर देख रहा था, कभी उसके मनमें सन्देहका उदय होता था, कभी आशाका संचार होता था। हर नई वस्तुको देखनेके बाद वह एक बार अपनी पुरानी याददाश्तपर

जोर डाल देता था, वह जान लेना चाहता था कि जो कुछ वह नया देख रहा है वह उसके पुराने अनुभवोंके विरुद्ध तो नहीं है। पुराना वैभव उसे अभिभूत किये हुए था और नवीन बातोंको अस्वीकार करनेका कोई उपाय न था। इन दिनों प्रायः प्रतिवर्ष भूगर्भके नीचेसे कोई न कोई खंडहर निकलकर भारतकी प्राचीन समृद्धिकी स्मृतिको ताजा कर देता था, कोई न कोई पुरानी पोथी भारतीय मनीषाकी उत्कृष्टताके प्रति दुनियाको आस्थावान् बना देती थी। आज चीनसे तो कल जावासे आकर भारतीय सन्तों और आचार्योंके अपूर्व धैर्य, उत्साह और पांडित्यकी कहानी इस देशके शिक्षितोंको अभिभूत कर जाती थी। प्राचीन गौरव रह-रहकर मानो पृथ्वीके नीचेसे धक्का मारकर धरातलपर आ जाता था और पराधीन, दुर्गत भारतके चित्तमें उदासी और गर्व दोनों एक साथ भर जाते थे। उधर विज्ञान नित्य नवीन आश्चर्य ले आकर नवीनके प्रति उसको आस्थायुक्त बना रहा था।

इस द्विमुख-प्रवृत्तिका निदर्शन उन दिनोंका साहित्य है। इस युगका भारत, महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्तका भारतवर्ष है—पुराने गौरवके प्रति अत्यधिक श्रद्धावान् और नवीन ज्ञानके प्रति भी आस्थायुक्त इस युगके साहित्यका सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अपने आपको पहचाननेमें पूर्ण प्रयत्नशील है, पर दोष यह है कि वह हरएक बातमें किसी आप्तवाक्यपर अवलम्बित है। किसी वस्तुका मूल्य उसकी अपनी योग्यताके बलपर ही आँकनेकी प्रवृत्ति उन दिनों शिशु-अवस्थामें ही थी। इस देशके साहित्यिक उन दिनों निश्चित रूपसे आप्त-वाक्योंसे चालित हो रहे थे। ये 'आप्त' देशी भी हो सकते थे और विदेशी भी, नये भी हो सकते थे और पुराने भी। इनके 'आप्तत्व' के लिए भी खोज-पूछ करना उन दिनों आवश्यक नहीं माना जाता था। हमारे शिक्षित वर्गका अधिकांश उन दिनों यूरोपीय मनीषाकी श्रेष्ठता स्वीकार कर चुका था।

अचानक यूरोपका प्रथम महायुद्ध आँधीकी तरह आया और यूरोपीय श्रेष्ठताको अपने प्रचण्ड वेगमें बहा ले गया। देखा गया कि सारी बड़ी बड़ी बातोंके बावजूद भी मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही है। यूरोपके राष्ट्रीय संघटन वस्तुतः दुनियाको लूटनेके लिए परस्पर प्रतिस्पर्धी हैं। हम यह समझे बैठे थे कि हममें

संघटनकी क्षमता ही नहीं है। यह भ्रम टूट गया। यूरोपीय राष्ट्रोंके संघटित दलोंमें जो एकता है वह उस एकतासे मिलती-जुलती है जो ठगोंमें पाई जाती है। दुनियाके शोषणके लिए ही इनके विशेषज्ञोंने नाना प्रकारकी राजनीतिक और आर्थिक नैतिकताकी 'बोलियाँ' बना रखी हैं। इतिहासको देखनेकी इनकी अपनी विशेष दृष्टि है, नृतत्त्व विद्याको समझनेके अपने तरीके हैं, और सब कुछ एक विशेष प्रकारकी स्थिति बनाये रखनेके उद्देश्यसे लिखा गया है। साहित्य भी इस दृष्टिसे एकदम अस्पृष्ट नहीं है। भारतवर्षने बहुत दिनोंके बाद पहली बार अनुभव किया कि हाथ पसारना लज्जाकी बात है। ज्ञानके क्षेत्रमें भी वही पानेका अधिकारी होता है जो देनेका सामर्थ्य रखता है। हर क्षेत्रमें दूसरोंका अनुसरण लज्जाजनक है। वही चल सकता है जो अपने पैरोंपर खड़ा हो सकता है, वह नहीं जो केवल चलनेवालोंके चलनेकी नकल करना चाहता है। हमारा अतीत जो अबतक अभिभूत करनेवाला साबित हुआ था अब प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। पुराने शास्त्रोंका महत्त्व इस बातमें नहीं है कि उनसे आधुनिक विदेशी ज्ञान-विज्ञानकी तुलना या आधुनिक व्यक्तियोंके उत्कर्ष-अपकर्षकी जाँच की जाय; उनका महत्त्व इस बातमें है कि वे हमारी मानसिक दुर्बलताको झाड़कर हममें आत्म-बलका संचार करते हैं। दुनियामें हम नौसिखुए नहीं हैं। हमने ज्ञानकी प्रत्येक शाखापर स्वतन्त्र दृष्टिसे विचार किया है। हम आलसी नहीं थे, इस समय जैसे हैं उसी प्रकार बने रहना हमारा स्वाभाविक धर्म नहीं है। संसारके अन्यान्य देशोंकी तुलनामें, समयपर विचार किया जाय तो, हम आगे ही रहते आये हैं। विपत्तियोंका सामना हमें पहली बार नहीं करना पड़ रहा है। हमारे इतिहासमें संघर्षों और संघातोंकी विशाल शृंखला है। हम बराबर उन संघर्षोंमेंसे तेजोदृप्त होकर निकले हैं।

हममें स्वतन्त्र उद्भावनाशक्तिकी कमी कभी नहीं रही। दीर्घ निद्राके बाद भारतवर्ष पूर्ण चैतन्यके साथ जाग पड़ा। उसने सोचा हमें संसारकी जातियोंको अपनेसे श्रेष्ठ समझनेकी भी आवश्यकता नहीं है, उनकी नकल करनेकी भी जरूरत नहीं है, हम अपना रास्ता आप निकाल लेंगे। १९२० ई० में भारतवर्षके मानसमें कुछ इसी तरहकी विचार-धारा बह रही थी। परन्तु यह समझना

भूल है कि अनुध्यात मार्ग सदा अनुध्यात मार्ग होता है। कार्यक्षेत्रमें उतरनेपर नाना भाँतिकी वस्तु-स्थिति अनुध्यात मार्ग बदलनेको विवश करती है। इञ्जीनियर गाड़ीके चक्कोंको देखकर गन्तव्यतक पहुचनेका जो हिसाब बताता है वह सड़ककी ऊबड़-खाबड़ विषमताओंके कारण बाधित होता है। भारतवर्ष जिस रास्ते १९२० ई० में जानेकी सोच रहा था उस रास्ते पूर्ण रूपसे नहीं जा सका। भीतरी कमजोरियाँ और बाहरी बाधाएँ कम नहीं थीं। फिर भी इस वर्षका महत्त्व है और वह यह कि इस बार भारतवर्षने अपनी आँखोंसे दुनियाको देखनेका संकल्प किया।

यह काल तीन मोटे विभागोंमें बाँट लिया जा सकता है। सन् १९२० से १९३० ई० तकका समय पुराने संस्कारोंके प्रति विद्रोह और नवीन संस्कारोंके बीजारोपणका समय है। इस कालमें बहुतसे पुराने कवि और लेखक अपनी लेखनी चला रहे थे, पर उनमेंसे बहुत थोड़ोंने नेतृत्व किया। जिन पुराने पण्डितों और कवियोंने नेतृत्व किया उनमें युगधर्मको पहचानेकी अपूर्व क्षमता थी। थोड़ेसे ही नाम ऐसे लिये जा सकते हैं जो १९२० के पहले भी ज्ञात थे और बादमें भी नेतृत्वके उपयुक्त थे। सबमें प्रमुख ये तीन हैं—रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और 'प्रसाद'। बाबू श्यामसुन्दर दासका नाम इस प्रसंगमें जान-बूझकर हम छोड़ रहे हैं। आगे उनकी चर्चा आयेगी। यहाँ उन लोगोंके नाम लिये जा रहे हैं जो उस विशेष प्रवृत्तिके प्रतिनिधि थे, जो हमारी आलोच्य है, अर्थात् ये लोक पुराने संस्कारोंके प्रति विद्रोह और नवीन संस्कारोंके बीजारोपणमें सक्रिय भाग लेनेवाले थे। इस प्रवृत्तिके और भी कई उन्नायक हुए पर सभी करीब-करीब नये थे। सन् १९२० के पूर्व उनके नाम क्वचित् कदाचित् ही सुनाई पड़े थे। काव्यके क्षेत्रमें सियाराम शरण गुप्त, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा ऐसे ही हैं। उपन्यासके क्षेत्रमें जैनेन्द्रकुमार एकमात्र उल्लेख्य जान पड़ते हैं।

ऊपर जिन तीन नामोंकी चर्चा आई है उन्हें और दर्जनों नामोंमेंसे चुन लेनेका कारण बताना आवश्यक है। (१) रामचन्द्र शुक्ल हमारे आलोच्य कालके पहलेसे लिखते आ रहे थे, पर उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ इसी कालकी रचना हैं। भारतीय काव्यालोचन शास्त्रका इतना गम्भीर और स्वतंत्र विचारक हिन्दीमें तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओंमें भी हुआ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ। अलंकारशास्त्रके प्रत्येक अंगपर उन्होंने सूक्ष्म

विचार किया था—शब्द-शक्ति, गुणदोष, अलंकार-विधान, रस आदि सभी विषयोंपर उनका अपना सुचिन्तित मत था। वे प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंको खूब समझते थे पर उनका अन्धानुकरण करनेवाले नहीं थे। रामचन्द्र शुक्लसे सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्योंकी सरसता उनकी बुद्धिकी आँचसे सूख जाती थी और उनके मतोंका लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना', बीचमें खड़े होनेका कोई उपाय नहीं। उनका 'अपना' मत सोलह आने अपना है। वे तनकर कहते हैं—“मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने-न-माननेकी मुझे परवा नहीं।” फिर भी शुक्लजी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुरानेकी गुलामी पसन्द नहीं करते और नवीनकी गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्लजी इसी बातमें बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है। यदि किसीको उन्होंने एक बार नवीनताकी गुलामी करते देख लिया तो फिर दीर्घ कालतक वह उनके अविश्वासका पात्र बना रहा।

(२) प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्यकी प्रौढ़ताके सबूत हैं। उन्होंने अतीत गौरवका पुराना राग नहीं गाया। वे ईमानदारीके साथ अपनी वर्तमान अवस्थाका विश्लेषण करते रहे। उन्होंने अपनी आँखों समाजको देखा था। वे इस नतीजेपर पहुँचे थे कि बन्धन भीतरका है, बाहरका नहीं। बाहरी बन्धन भी दो प्रकारके हैं—भूतकालकी सञ्चित स्मृतियोंका जाल और भविष्यकी चिन्तासे बचनेके लिए संगृहीत जड़-संभार। एकका नाम है संस्कृति, दूसरेका सम्पत्ति। एकका रथवाहक धर्म है, दूसरेका राजनीति है। अपने एक मौजी पात्र (प्रोफेसर मेहता) के मुँहसे 'गोदान' में उन्होंने कहलवाया है—“मैं भूतकी चिन्ता नहीं करता, भविष्यकी परवा नहीं करता। भविष्यकी चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूतका भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवनकी शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्यमें फैला देनेसे वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थका भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वास तथा इतिहासोंके मलबेके नीचे दबे पड़े हैं, उठनेका नाम नहीं लेते।” प्रेमचन्दका यह विश्वास ही उनकी विशेषता है। उन्होंने बड़ी ईमानदारी और गहराईके साथ अपना विशेष दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

(३) 'प्रसाद' ने यद्यपि प्राचीन गौरवका अध्ययन और मनन बहुत अधिक किया था परन्तु उन्होंने अपने समस्त अध्ययनको मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया। अध्ययन अध्ययनके लिए नहीं है, मनुष्यके उद्धार और उन्नयनके लिए है। शास्त्र-ज्ञान इसी महान् उद्देश्यकी सिद्धिसे सार्थक होता है। प्रसादने नाटक, काव्य और कहानी-उपन्यास लिखे हैं। विषय अधिकांश प्राचीन साहित्यसे लिये हैं पर सबको नवीन भारतके बीजारोपणमें विनियुक्त किया है। यह बात ध्यान देनेकी है कि प्रसादजीने हमारे आलोच्य कालमें अपनी भाषा और प्रकाशनभङ्गी बदल दी थी। अबतक हम भाषाके स्वरूपके विषयमें झगड़ रहे थे। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे पुरुष और ईमानदार व्यक्तिके हाथों भाषा परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी थी। हिन्दी गद्य सब कुछको आत्मसात् और अभिव्यक्त करनेकी आकांक्षा लेकर आगे बढ़ा। इस कालमें मनुष्यकी वैयक्तिकताने निश्चित रूपसे साहित्यमें स्थान पाया। वह दिन सचमुच ही हिन्दीकी कविताकी मुक्तिका दिन था जब कविने परिपाटी-विहित रसज्ञता और रूढ़ि-समर्थित काव्य कलाको साथ ही चुनौती दी। मर्यादाविषयक अज्ञान और उपेक्षा दोनोंने उसकी मुक्तिमें सहायता दी। यद्यपि वह मुक्त होकर ठीक रास्ते नहीं गया पर मुक्त वह निस्सन्देह हो गया। पुराने पण्डितोंने झुँझलाकर रोष प्रकट किया, मजाक उड़ाया, भद्दे-भद्दे नाम देकर उसे हतोत्साह करना चाहा, पुराने शास्त्रोंके जटिल तर्कोंकी अवतारणा करके उसे डराना चाहा; पर वह इनसे विचलित नहीं हुआ। प्रसाद निराला, पन्त, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा आदि कवियोंने रूढ़िमुक्त होकर अपनी बात कही। साहित्यकारका ध्यान ईश्वरकी ओरसे हटकर मानवताकी ओर गया। भजन-पूजनके स्थानपर पीड़ित मानवताके प्रति सहानुभूतिका भाव प्रतिष्ठित हुआ। प्रकृति केवल उद्दीपन-सामग्री न रहकर मनुष्य सहधर्मशीला बन गई। प्राचीन धार्मिक विश्वास—कर्मफलकी अवश्यम्भाविता, पूर्व और परजन्म, आदि—जिसने कवियोंको इस संसारको सामञ्जस्यपूर्ण विधानके अनुकूल देखनेकी दृष्टि दी थी, शिथिल हो गया और कवि प्रत्येक वस्तुको अपनी दृष्टिसे देखनेका प्रयास करने लगे। पुराने भारतीय साहित्यमें समाज-व्यवस्थाके प्रति तीव्र असन्तोषके भाव नहीं थे, इस कालमें वे जमकर प्रकट होने लगे। परन्तु प्रथम दस वर्षोंतकके

साहित्यमें यह बात अभाव रूपमें ही दिखाई दी। कविने प्रश्नभरी दृष्टिसे दुनियाको देखा सही, परन्तु उसका अपना विश्वास ऊपर नहीं आया। संभवतः वह अब भी उस बीजकी भाँति जो अंकुरका पूर्वरूप होता है फूलकर केवल फटनेकी अवस्थामें था।

समाजको सुधारनेके लिए जो प्रयत्न थे वे इस कालमें राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करनेकी ओर मुड़ गये। राजनीतिने निश्चित रूपसे हमारे समस्त प्रयत्नोंको आत्मसात् करना आरम्भ किया। इस बातने सामयिक समाचारपत्रोंमें बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया। इस कालमें हिन्दीमें कुछ इतने महत्त्वपूर्ण पत्रकार पैदा हुए जो दीर्घकालतक याद किये जायँगे। बुद्धिगत प्रौढ़ताके साथ-साथ चरित्रगत दृढ़ताने इन पत्रकारोंको बड़ी सफलता दी। गणेश शंकर विद्यार्थी, पराड़करजी, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे और बनारसीदास चतुर्वेदी ऐसे ही पत्रकार हुए।

(३) दूसरा काल सन् १९३० से वर्तमान महायुद्धके आरम्भतक माना जा सकता है। इस कालमें असन्तोषने भी निश्चित रूप ग्रहण किया और साथ ही नवीन रचनात्मक विचारधाराएँ भी उद्भूत हुईं। पुरानी सामाजिक व्यवस्था, उसका आर्थिक ढाँचा और उसका धार्मिक आधार नवीन विचारकोंको अत्यन्त असन्तोषजनक जँचे। नये सिरेसे सब कुछको सजानेकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती गई। वैयक्तिकता यद्यपि प्रतिष्ठित रही परन्तु अवैयक्तिक अनासक्त दृष्टिसे वस्तुओंको देखनेकी प्रवृत्ति भी बढ़ी। प्रसाद, निराला, पंत आदि नये कवियोंके प्रति जो विरोध-भाव था वह शिथिल होता गया और आगे चलकर उनका सम्मान किसी भी पूर्ववर्ती कविसे अधिक हुआ। यह इस बातका सबूत था कि हिन्दीभाषी जनता नवीन विचारोंको ग्रहण करनेके लिए तैयार है। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन आदि कवियोंको बहुत सम्मान मिला। इन कवियोंमें समाज-व्यवस्थाके प्रति असन्तोष स्पष्ट रूपमें प्रकट हुआ। प्रसाद, महादेवी और पन्तने इस कालमें अपने नवीन विचारोंको मूर्तरूप दिया। सभी नवीन कवियोंको एक ही नाम देकर जो गलती की गई थी वह अब प्रकट हुई। कहानी और उपन्यासके क्षेत्रमें जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त, यशपाल आदिने केवल असन्तोषकी भावनाको ही नहीं उकसाया, अपने रचनात्मक सुझाव भी उपस्थित किये।

कुछ थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर अधिकांश प्रवृत्ति समाजवादी रही। विहारमें 'दिनकर' ने बहुत ही क्रान्तिकारी गान गाये। शुरू-शुरूमें उनकी कविताओं-में युवजनोचित्त कल्पनाका प्राधान्य रहा पर बादमें उनकी प्रवृत्ति भी नवयुगके अन्यान्य कवियोंके समान ही हो गई। इस कालमें बिहारमें कई प्रतिभाशाली कवियोंका प्रदुर्भाव हुआ। 'नेपाली' और आरसीप्रसाद सिंहने अधिक कीर्ति प्राप्त की। नये नाटककारोंमें सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र और 'प्रेमी' ने नये आदर्श उपस्थित किये।

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होनेके बाद—विशेषकर रूसके युद्ध-क्षेत्रमें आ जानेके बाद—नवीन साहित्यिकोंमें मतभेद दिखाई दिया। कुछ दिनोंतक हमारे नेताओंमें भी निष्क्रियताका भाव बना रहा। युद्ध अप्रत्याशित नहीं था। परन्तु हमने—कमसे कम साहित्यिकोंने—युद्धकालीन कर्तव्यकी बात सोची ही नहीं थी और जब युद्ध शुरू हुआ तो कुछ दिनोंतक ऐसा भाव बना रहा जैसे हमें कहीं भी कुछ सूझ न रहा हो। इस युद्धमें साम्राज्यवादने समाजवादसे हाथ मिलाया। हमारे साहित्यिक अबतक साम्राज्यवादके विरोधी थे और समाजवादकी ओर झुक रहे थे। यहाँ उन्हें भारी कर्तव्य-द्वन्द्वका सामना करना पड़ा। एक दलने इस गँठबन्धनमें समाजवादको प्रबल पाया और स्पष्ट घोषणा की कि यह युद्ध जनताका युद्ध है। अन्तमें साम्राज्यवाद इसमें अवश्य पिट जायगा। दूसरेने सन्देहके साथ कहा कि साम्राज्यवाद कोई 'कुम्हड़ेकी बतिया' नहीं है जो उँगली देखते ही मर जाय। दोनों ओरसे तर्कोंकी बौछार जारी रही। जिस प्रकार हम युद्ध पूर्व-कालमें यह स्थिर नहीं कर सके थे कि युद्धके समय हमारा क्या कर्तव्य होगा उसी प्रकार इस समय भी यह तै नहीं कर सके कि शान्तिकालमें हमारा क्या कर्तव्य होगा। युद्ध-कालमें हम कोई बड़ा साहित्यक पैदा कर सके हैं या नहीं यह भविष्य ही बतायेगा, मेरा विश्वास है, नहीं कर सके हैं। मेरा यह भी विश्वास है कि इस युद्धमें साम्राज्यवादकी कमर टूट गई है। वह अपना पुराना बल दीर्घ कालतक संचय नहीं कर सकेगा, और इस बीच नयी व्यवस्था काफी शक्तिशाली हो जायगी। हमारे साहित्यिकोंको अब उस नयी व्यवस्थाकी ही फिक्र करनी चाहिए। राजनीतिक नेता जब अपना कर्तव्य स्थिर कर लेंगे तो हम भी उनका अनुसरण करने लगेंगे, यह कुछ ठीक बात नहीं है। साहित्यस्रष्टाकी आँखें दूरतक जानी चाहिए।

हम अबतक काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि रसात्मक साहित्यकी ही चर्चा करते आ रहे हैं। पर हमारी भाषामें केवल ये ही चीजें नहीं लिखी गई हैं। जिस दिन हिन्दीके लेखकका चित्त मुक्त हुआ उस दिन उसने प्रायः सभी क्षेत्रोंमें प्रयत्न शुरू किया। साहित्यके अध्ययनके साधन जुटानेमें कुछ पुराने लेखक इस कालमें बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहे। श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, रामनेश त्रिपाठी आदिके नाम बहुत दिनोंतक याद किये जायँगे। ग्रन्थसम्पादन इसके पहले कम ही हुआ था। इस कालमें श्यामसुन्दरदासके अतिरिक्त कई अन्य विद्वानोंने बड़े महत्त्वके ग्रन्थ सम्पादित किये। ग्रन्थसम्पादन, शोधकर्म और ग्रन्थसंचय जैसे महत्त्वके काम हिन्दी भाषाके माध्यमसे पहले हुए भी नहीं थे और लोगोंने इनका महत्त्व भी नहीं समझा था। इस कालमें मुनि जिनविजय, रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन, धीरेन्द्रवर्मा, रामकुमार वर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे विद्वानोंने इन क्षेत्रोंमें महत्त्वपूर्ण कार्य किये। भाषाविज्ञानके अध्ययनमें विशेष रस लिया जाने लगा। श्यामसुन्दरदास, धीरेन्द्रवर्मा, मङ्गलदेव शास्त्री आदि पण्डितोंने इस विषयके उत्तम ग्रन्थ लिखे।

भारतीय इतिहासके क्षेत्रमें ओझाजी पहलेसे ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। हमारे आलोच्य कालमें जयचन्द्र विद्यालंकारने मौलिक अनुसन्धान किये। राहुल संस्कृत्यायन और सम्पूर्णानन्दजी जैसे मनीषियोंने तत्त्वविचारके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और भारतीय दर्शनके क्षेत्रमें बलदेव उपाध्याय, देवराज, आदिके ग्रन्थ बहुत उपादेय हुए। कन्हैयालाल पोद्दारने संस्कृत साहित्यका इतिहास भी लिखा। यद्यपि विज्ञानमें हमारी भाषाने कुछ नया नहीं दिया तथापि इस क्षेत्रमें भी अनेक कृती वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखते रहे। रामदास गौड़, फूलदेव सहाय वर्मा, गोरखप्रसाद, त्रिलोकीनाथ वर्मा, सत्यप्रकाश, महावीरप्रसाद आदि वैज्ञानिकोंने भिन्न भिन्न विषयोंकी बहुत उपयोगी पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार आजसे पचीस वर्ष पहले हिन्दीने जो सब कुछको अपनी आँखों देखनेकी दृष्टि पानेका यत्न आरम्भ किया था उसमें बहुत कुछ सफलकाम रही। परंतु यह सत्य है कि अभीतक इन अध्ययनोंमें उतनी मौलिकता नहीं आ पाई है जितनीकी आशा की जानी चाहिए। हिंदी संसारकी सर्वाधिक बोली जानेवाली ६–७ भाषाओंमेंसे है। उसका विस्तार जितना अधिक है, उसकी

आवश्यकताएँ भी उतनी ही अधिक हैं। जितना कार्य हुआ है वह सन्तोषजनक बिलकुल नहीं है, पर आशाजनक अवश्य है। हमने मुक्त दृष्टि पाई है, हम संसारकी प्रत्येक वस्तुको अपनी आँखों देखना चाहते हैं, यह कम नहीं है। यदि हममें सुबुद्धि उत्पन्न हो गई है तो चिन्ताकी कोई बात नहीं, क्योंकि कुलीन जनकी निर्धनता खलनेवाली बात नहीं होती, उसकी बुद्धिहीनता या कुबुद्धि ही चिन्ताका कारण होती है। हम कुलीन हैं, हमारे पूर्वजोंने ज्ञान विज्ञानके प्रत्येक क्षेत्रमें गम्भीर चिन्ता की थी, हमारा पुराना साहित्य यद्यपि अधिकांश खो गया है, तो भी जितना है उतना ही अत्यन्त विशाल और गहन है। हममें अगर आत्मचेतना आ गई है तो निराश होनेका कोई कारण नहीं।

ज्यों ज्यों भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें आलोचनाका प्रधान विषय होता है त्यों-त्यों उसे उसके यथार्थ रूपमें जाननेकी प्रवृत्ति सारी दुनियामें—विशेषकर एशियामें—बढ़ती गई है। इसीलिए हिन्दी अब भारतवर्षकी सीमाके बाहर भी पढ़ी-पढ़ाई जाने लगी है। उनके विचारकोंके विचारोंके आधारपर भारतवर्षकी आशा-आकांक्षाको समझनेका प्रयत्न होने लगा है।

परिशिष्ट

१

संस्कृत-साहित्यका संक्षिप्त परिचय

संस्कृतमें लिखे हुए ग्रंथ

सन् १८४० ई० में एलफिन्स्टन नामक यूरोपियन पण्डितने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्यमें जितने ग्रन्थ विद्यमान् हैं, उनकी संख्या ग्रीक लैटिनमें लिखे हुए ग्रन्थोंकी मिली हुई संख्यासे कहीं अधिक है। मगर उस समय तक संस्कृतके बहुत कम ग्रन्थ पाये गये थे। इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि सन् १८३० में फ्रेडरिख जैसे साहित्यान्वेषीको केवल साढ़े तीन सौ संस्कृत ग्रन्थोंका पता था और सन् १८५२ में वेबरने अपने संस्कृत-साहित्यके इतिहासमें जिन ग्रन्थोंकी चर्चा की थी उन सबकी संख्या ५०० के ही आसपास थी। बादमें वेबरकी संगृहीत पुस्तकोंकी संख्या १३०० हो गई थी। यदि १८४० में ही एलफिन्स्टनकी बात ठीक थी तो आज तो कहना ही क्या है। सन् १८९१ ई० में थियोडोर आफ्रेख्टने 'कैटलॉगस कैटलागोरम' नामकी सूची तैयार की। इसमें उस समय तकके पाये गये समस्त संस्कृत ग्रन्थोंके नाम थे। इसमें वर्णित ग्रन्थोंकी संख्या ३२ हजारके आसपास थी। और सन् १९१६ में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीने, जिन्हें नेपालसे बहुत-सी अज्ञात पुस्तकोंको प्रकाशमें ले आनेका श्रेय प्राप्त है, ४० हजारसे ऊपर संस्कृत ग्रन्थोंकी चर्चा की थी। आज संख्या इससे भी कहीं ज्यादा है। तबसे अब तक सुदूर मध्य एशिया, तिब्बत और नेपालसे बहुतसे खोये हुए

समझे जानेवाले तथा अल्पज्ञात ग्रन्थोंका पता लगा है और लगता जा रहा है। हालमें ही महापण्डित राहुल सांकृत्यायनकी तिब्बत-यात्राने इस संख्याको और भी अधिक बढ़ा दिया है। निःसन्देह इस समय तक संस्कृतमें लिखे गये ग्रन्थोंकी संख्या आधे लाखके पार हो गई है। फिर भी संस्कृत ग्रन्थोंकी खोजका काम अभी बाल्यावस्थामें ही है। सन् १८१९ में, जब यह खोजका काम शुरू किया गया था, जर्मन विद्वान् श्लेगलको एक दर्जनसे अधिक ग्रन्थोंका भी पता न था!

इन ग्रन्थोंका वर्गीकरण

विण्टरनित्जने लिखा है कि 'लिटरेचर' (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थमें जो कुछ भी सूचित कर सकता है, वह सब संस्कृतमें वर्तमान है। धार्मिक और ऐहिकता-परक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटकीय और नीतिसम्बन्धी कविता; वर्णनात्मक, अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य;— सब कुछ इसमें भरा पड़ा है। साधारणतः निम्नलिखित कई अंशोंमें विभक्त कर लेनेपर इस साहित्यकी चर्चा सुगम होगी।

(१) वैदिक साहित्य

(२) वेदाङ्ग-साहित्य जिसमें शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्दःशास्त्र और ज्योतिष सम्मिलित हैं।

(३) पुराण और इतिहास

(४) धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र

(५) दर्शन

(६) संस्कृतका बौद्ध और जैन साहित्य

(७) आयुर्वेद और अन्य उपवेद

(८) अलंकृत काव्य, गद्य, नाटक, चम्पू और कहानियाँ

(९) नाटक और काव्यके विवेचनात्मक ग्रंथ

(१०) संकीर्ण काव्य, धर्म और दर्शनपर टीकाएँ

(११) निबंध

(१२) तंत्र-ग्रंथ और भक्ति-साहित्य

(१३) पत्थरों और ताम्रपत्रोंका साहित्य

ये काहेपर लिखे गये हैं?

संस्कृतमें ये ग्रंथ नाना पदार्थोंपर लिखे गये हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ताड़के पत्ते हैं। पंजाब और काश्मीरको छोड़कर बाकी सारे भारतमें इन पत्तोंका उपयोग होता था। उत्तर भारतमें इनपर स्याहीसे लिखा करते थे और दक्षिण भारतमें लोहेकी कलमसे अक्षर कुरेद दिया करते थे, बादको उसपर स्याही फेर देते थे। सबसे प्राचीन ताड़पत्रकी पुस्तक सन् ई० की दूसरी शताब्दीकी है। मॅकार्टनेने काशगरसे जो प्राचीन हस्तलेख संग्रह किये थे, उनमेंका एक ताड़पत्रका ग्रंथ सन् ईसवीकी चौथी शताब्दीका है। जापानमें इस देशकी सन् ईसवीकी छठी शताब्दीकी लिखी हुई दो पुस्तकें 'प्रज्ञापारमिता-हृदय' और 'उष्णीषविजयधारिणी' सुरक्षित हैं।

ताड़पत्रोंके बाद भूर्ज-त्वक् या भोजपत्रोंका स्थान है। मध्ययुगकी भूर्जपत्रवाली पुस्तकोंकी जिल्द भी बँधने लग गई थी। हिमालयके पाद-देशमें इन पत्रोंका अधिक उपयोग होता था। भूर्ज-पत्रका सबसे प्राचीन ग्रंथ जो अब तक मिला है 'धम्मपद' (पाली) की एक प्रति है जो सन् ईसवीकी तीसरी शताब्दीकी है। संस्कृतकी सबसे पुरानी पुस्तक जो भोजपत्रपर लिखी पाई गई है 'संयुक्तयागम सूत्र' (बौद्ध) है जो संभवतः चौथी शताब्दीकी है।

कागजपर लिखी गई सबसे पुरानी पुस्तक ईसाकी तेरहवीं शताब्दीकी बताई जाती है; पर पंडितोंका खयाल है कि मध्य एशियामें गड़ी हुई संस्कृतकी लिखी जो पुस्तकें कागजकी प्राप्त हुई हैं, उनका काल सन् ईसवीकी चौथी शताब्दी होना चाहिए। इन चीजोंके सिवा रूईके कपड़े, लकड़ीके पट्टे, रेशमी कपड़े और चमड़ेपर भी संस्कृत पुस्तकें लिखीं जाती थीं। इन चीजोंपर लिखी पुस्तकें विभिन्न पुस्तकालयोंमें सुरक्षित हैं। छोटे छोटे दान-पत्र, प्रशस्तियाँ आदि तो पत्थर, ईंट, सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल, काँसे तथा लोहेके पत्तरोंपर लिखी जाती थीं।

ऊपरका दिया हुआ वर्गीकरण कालक्रमान्वयी भी कहा जा सकता है, हालाँकि वह संपूर्णतः कालक्रमान्वयी नहीं है। लेकिन लक्ष्य करनेकी बात यह है कि अज्ञात कालसे आज तक संस्कृत-साहित्य धारावाहिक रूपसे बनता आ रहा है, कहीं भी इसमें छेद नहीं हुआ। रिकेटको गर्व है कि अँग्रेजी साहित्यकी वह

विशेषता है कि उसकी धारावाहिकता (कण्टिन्युइटी) कहीं भी क्षुण्ण नहीं हुई, लेकिन संस्कृत-साहित्यकी हजारों वर्षोंकी धारावाही रचनाके सामने अँग्रेजीके साहित्यकी धारावाहिकता कितनी अल्प है !

वैदिक साहित्य

(१००० ई० पू० तक)

चारों वेदोंके नाम सर्व-विदित हैं। इनमें सामवेद और यजुर्वेदका ज्यादा सम्बन्ध तो यज्ञोंसे ही है, लेकिन ऋग्वेद और अथर्ववेद नाना दृष्टियोंसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ऋग्वेदकी ऋचाएँ कब बनी थीं, इस विषयमें नाना विज्ञजनोंके नाना मत हैं; पर इतना निर्विवाद है कि सन् ई० से डेढ़ हजार वर्ष पहले ये ऋचाएँ बन चुकी थीं। इनकी भाषा एक-सी नहीं है, कहीं कहीं उसमें अत्यन्त प्राचीनताके चिह्न हैं और कहीं कहीं अपेक्षाकृत कम प्राचीनताके। कुछ पंडितोंकी रायमें सामवेद और अथर्ववेदके अनेक मंत्र ऋग्वेदसे भी बहुतपुराने हैं। अथर्ववेदमें ऐसे बहुत तरहके लोक-प्रचलित टोटकोंका संग्रह है जो आश्चर्यजनक रूपमें जर्मनी और पोलेण्डमें प्रचलित प्राचीन युगके टोटकोंसे मिल जाते हैं। वेदोंके जो भाष्य इस समय मिलते हैं, वे अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। सायण और मध्वके प्रसिद्ध भाष्य चौदहवीं सदीमें लिखे गये थे। बंगालमें प्राप्त नगुदभाष्य दसवीं सदीकी रचना है। आलोचनात्मक दृष्टिसे देखनेवाले पण्डितोंने बताया है कि ये भाष्य अपेक्षाकृत आधुनिक परंपराओंपर आश्रित हैं; इसीलिए कभी मन्त्रोंके यथार्थ भावको नहीं बताते। फिर भी, जैसा कि मैक्समूलरने कहा है, यह तो मानना ही पड़ेगा कि सायणका भाष्य अन्धेकी लकड़ी है। युरोपियन पण्डितोंके सत्प्रयत्नसे इन प्राचीन मन्त्रोंके समझनेके अनेक द्वार उद्घाटित हुए हैं। जेन्दावस्ताके पाये जानेके बादसे इस अध्ययनको और भी बल मिला है। इसके अतिरिक्त असीरिया, मिस्र और बैबिलोनियामें आविष्कृत प्राचीन भग्नावेशषों, पौराणिक कथाओं तथा अन्यान्य बातोंने इस दिशामें बड़ी सहायता पहुँचाई है।

वैदिक साहित्यको पण्डितोंने तीन भागोंमें विभक्त किया है; संहिता-जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, ब्राह्मण और उपनिषद्। ब्राह्मण गद्यमें लिखे गये है

और इनमें कर्मकाण्डकी ही प्रधानता है; कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करना चाहिए, कुश किधर और क्यों रखना चाहिए आदि यज्ञसम्बन्धी अनेक छोटी मोटी बातोंका विवेचन किया गया है; तथा जगह जगह ऐतिहासिक और परम्परा-प्राप्त कहानियाँ भी हैं जो बादमें चलकर पुराण और इतिहासका रूप धारण करती हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि ब्राह्मणोंमें सम्पूर्ण संहिताको प्रामाण्य रूपमें स्वीकार कर लिया गया है, अर्थात् संहिता और ब्राह्मण-कालके भीतर काफी अन्तर वर्तमान था। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संहिता और ब्राह्मणोंके बीचमें कुछ और साहित्य बना ही नहीं। असलमें ब्राह्मणोंमेंसे ही अनेक लुप्त हो गये हैं और यह जाननेका कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणोंने जिस दृष्टिसे संहिताको देखा है वह यद्यपि कर्मकाण्ड-प्रधान है, फिर भी उसमें व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदिका अस्पष्ट रूप विद्यमान है। ब्राह्मणोंके अन्तमें दार्शनिक अध्यायोंके रूपमें आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातोंका बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। (भारतवर्षके सभी दार्शनिक सम्प्रदाय (बौद्धों और जैनोंको छोड़कर) इन उपनिषदोंमें ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं।)

प्रधान प्रधान ब्राह्मण ये हैं : ऐतरेय और शाङ्खायन (ऋग्वेदके); तैत्तिरीय (कृष्ण यजुर्वेदका); शतपथ (शुक्ल यजुर्वेदका); ताण्ड्य या पञ्चविंश; तवल्कार या जैमिनीय (सामवेदका); और गोपथ (अथर्ववेदका)। जैसा कि पहले ही बताया गया है ब्राह्मणोंके अन्तमें आरण्यक हैं और आरण्यकोंके अन्तमें उपनिषद्। उपनिषदोंकी संख्या वैसे तो बहुत है पर ग्यारह प्राचीन हैं : ऐतरेय और कौशीतकी (ऋग्वेदके); छान्दोग्य और केन (सामवेदके); तैत्तिरीय, कठ और श्वेताश्वतर (कृष्ण यजुर्वेदके); बृहदारण्यक, ईश (शुक्ल यजुर्वेदके) और प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य (अथर्ववेदके)। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीका विचार है कि सन् ईसवीसे एक हजार वर्ष पहले तक यहाँ तकका साहित्य निश्चित रूपसे रचित हो चुका था।

वेदाङ्ग-साहित्य

(ई० पू० १०००–४०० ई० तक)

वैदिक साहित्य काफी बड़ा हो चुका था। उसकी वैज्ञानिक छान-बीन भी आरम्भ हो गई थी। वेदाङ्ग युगमें इन्हीं प्रयत्नोंका संग्रह हुआ। उन दिनों

विशेषता है कि उसकी धारावाहिकता (कण्टिन्युइटी) कहीं भी क्षुण्ण नहीं हुई, लेकिन संस्कृत-साहित्यकी हजारों वर्षोंकी धारावाही रचनाके सामने अँग्रेजीके साहित्यकी धारावाहिकता कितनी अल्प है !

वैदिक साहित्य

(१००० ई० पू० तक)

चारों वेदोंके नाम सर्व-विदित हैं। इनमें सामवेद और यजुर्वेदका ज्यादा सम्बन्ध तो यज्ञोंसे ही है, लेकिन ऋग्वेद और अथर्ववेद नाना दृष्टियोंसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। ऋग्वेदकी ऋचाएँ कब बनी थीं, इस विषयमें नाना विज्ञजनोंके नाना मत हैं; पर इतना निर्विवाद है कि सन् ई० से डेढ़ हजार वर्ष पहले ये ऋचाएँ बन चुकी थीं। इनकी भाषा एक-सी नहीं है, कहीं कहीं उसमें अत्यन्त प्राचीनताके चिह्न हैं और कहीं कहीं अपेक्षाकृत कम प्राचीनताके। कुछ पंडितोंकी रायमें सामवेद और अथर्ववेदके अनेक मंत्र ऋग्वेदसे भी बहुत पुराने हैं। अथर्ववेदमें ऐसे बहुत तरहके लोक-प्रचलित टोटकोंका संग्रह है जो आश्चर्यजनक रूपमें जर्मनी और पोलेण्डमें प्रचलित प्राचीन युगके टोटकोंसे मिल जाते हैं। वेदोंके जो भाष्य इस समय मिलते हैं, वे अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। सायण और मध्वके प्रसिद्ध भाष्य चौदहवीं सदीमें लिखे गये थे : बंगालमें प्राप्त नगुद-भाष्य दसवीं सदीकी रचना है। आलोचनात्मक दृष्टिसे देखनेवाले पण्डितोंने बताया है कि ये भाष्य अपेक्षाकृत आधुनिक परंपराओंपर आश्रित हैं; इसीलिए कभी मन्त्रोंके यथार्थ भावको नहीं बताते। फिर भी, जैसा कि मैक्समूलरने कहा है, यह तो मानना ही पड़ेगा कि सायणका भाष्य अन्धेकी लकड़ी है। युरोपियन पण्डितोंके सत्प्रयत्नसे इन प्राचीन मन्त्रोंके समझनेके अनेक द्वार उद्घाटित हुए हैं। जेन्दावस्ताके पाये जानेके बादसे इस अध्ययनको और भी बल मिला है। इसके अतिरिक्त असीरिया, मिस्र और बैबिलोनियामें आविष्कृत प्राचीन भग्नावशेषों, पौराणिक कथाओं तथा अन्यान्य बातोंने इस दिशामें बड़ी सहायता पहुँचाई है।

वैदिक साहित्यको पण्डितोंने तीन भागोंमें विभक्त किया है; संहिता-जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, ब्राह्मण और उपनिषद्। ब्राह्मण गद्यमें लिखे गये हैं

और इनमें कर्मकाण्डकी ही प्रधानता है; कब और कैसे अग्नि प्रज्वलित करना चाहिए, कुश किधर और क्यों रखना चाहिए आदि यज्ञसम्बन्धी अनेक छोटी मोटी बातोंका विवेचन किया गया है; तथा जगह जगह ऐतिहासिक और परम्परा-प्राप्त कहानियाँ भी हैं जो बादमें चलकर पुराण और इतिहासका रूप धारण करती हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि ब्राह्मणोंमें सम्पूर्ण संहिताको प्रामाण्य रूपमें स्वीकार कर लिया गया है, अर्थात् संहिता और ब्राह्मण-कालके भीतर काफी अन्तर वर्तमान था। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संहिता और ब्राह्मणोंके बीचमें कुछ और साहित्य बना ही नहीं। असलमें ब्राह्मणोंमेंसे ही अनेक लुप्त हो गये हैं और यह जाननेका कोई उपाय नहीं रह गया है कि उनमें क्या था। ब्राह्मणोंने जिस दृष्टिसे संहिताको देखा है वह यद्यपि कर्मकाण्ड-प्रधान है, फिर भी उसमें व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन आदिका अस्पष्ट रूप विद्यमान है। ब्राह्मणोंके अन्तमें दार्शनिक अध्यायोंके रूपमें आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातोंका बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। (भारतवर्षके सभी दार्शनिक सम्प्रदाय (बौद्धों और जैनोंको छोड़कर) इन उपनिषदोंमें ही अपना आदि अस्तित्व स्वीकार करते हैं।)

प्रधान प्रधान ब्राह्मण ये हैं: ऐतरेय और शाङ्खायन (ऋग्वेदके); तैत्तिरीय (कृष्ण यजुर्वेदका); शतपथ (शुक्ल यजुर्वेदका); ताण्ड्य या पञ्चविंश; तवल्कार या जैमिनीय (सामवेदका); और गोपथ (अथर्ववेदका)। जैसा कि पहले ही बताया गया है ब्राह्मणोंके अन्तमें आरण्यक हैं और आरण्यकोंके अन्तमें उपनिषद्। उपनिषदोंकी संख्या वैसे तो बहुत है पर ग्यारह प्राचीन हैं: ऐतरेय और कौशीतकी (ऋग्वेदके); छान्दोग्य और केन (सामवेदके); तैत्तिरीय, कठ और श्वेताश्वतर (कृष्ण यजुर्वेदके); बृहदारण्यक, ईश (शुक्ल यजुर्वेदके) और प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य (अथर्ववेदके)। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीका विचार है कि सन् ईसवीसे एक हजार वर्ष पहले तक यहाँ तकका साहित्य निश्चित रूपसे रचित हो चुका था।

वेदाङ्ग-साहित्य

(ई० पू० १०००–४०० ई० तक)

वैदिक साहित्य काफी बड़ा हो चुका था। उसकी वैज्ञानिक छान-बीन भी आरम्भ हो गई थी। वेदाङ्ग युगमें इन्हीं प्रयत्नोंका संग्रह हुआ। उन दिनों

पढ़ने-पढ़ानेके लिए कण्ठस्थ करना निहायत जरूरी था, इसी लिए इस युगमें सूत्ररूपसे बातें लिखी गई। उद्देश्य यह था कि थोड़ेमें बहुत याद कर लिया जाय। वेदाङ्ग-साहित्य सूत्रोंमें लिखा गया है। कहीं कहीं ये सूत्र पद्यमें भी हैं पर अधिकतर गद्यमें हैं। वैदिक साहित्य स्वतःप्रमाण माना जाता था पर इस (वेदाङ्ग) श्रेणीके ग्रन्थोंके लेखकोंका नाम प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। अर्थात् यह साहित्य मनुष्यकृत माना जाता था। (१) शिक्षामें उच्चारणकी विधियोंका निर्देश होता है। इस अङ्गपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे जो दुर्भाग्यवश अधिकतर लुप्त हो गये हैं। जो बचे हैं उनमेंसे कई यूरोपियन, अमेरिकन और भारतीय पण्डितोंद्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुए हैं। (२) कल्प-सूत्र तीन तरहके हैं : श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र। श्रौतसूत्रोंमें वैदिक यज्ञोंका विधान किया है। इन सूत्रोंको आश्रय करके रचित बहुत थोड़ा साहित्य प्राप्त हुआ है। इस समय इनके आधारपर लिखित साहित्यमेंका अधिकांश सन् ईसवीकी छठीसे लेकर बारहवीं शताब्दी तक ही लिखा गया था। धर्मसूत्रोंमें ब्राह्मणके नित्य और नैमित्तिक कर्मका विधान है। छठीं शताब्दीसे लेकर आज तक इन सूत्रोंको आश्रय करके एक विशाल साहित्यका निर्माण हुआ है। बादकी बनी स्मृतियों, टीकाओं, भाष्यों और निबन्धोंमें इस साहित्यका प्रचुर प्रसार हुआ है। स्मृतियाँ धर्मसूत्र तथा श्रौत और गृह्यसूत्रोंमें द्विजके संस्कारों और अन्यान्य कर्मोंका विधान है। उस युगके सामाजिक आदर्श और परिस्थितिका अध्ययन करनेकी दृष्टिसे इन सूत्रोंका बड़ा महत्त्व है। विण्टरनित्ज़का कहना है कि 'गृह्यसूत्र' नृतत्त्व-विशारदोंके बड़े कामकी चीज़ है। यह याद रखना चाहिए कि ग्रीक और रोमन सामाजिक विधानको जाननेके लिए पण्डितोंको कितना परिश्रम करना पड़ा है, कितने प्रकारकी बहुधा-विलुप्त सामग्रीकी छान-बीन करनी पड़ी है पर यहाँ भारतवर्षमें अत्यन्त प्रामाणिक विवरण प्राप्त हैं और इन विवरणोंको हम आँखों देखा विवरण कह सकते हैं। ये सूत्र मानो प्राचीन 'फोकलोर जर्नल' हैं। इन तीन प्रकारके सूत्रोंके बाद एक चौथे प्रकारका सूत्र है जो सीधे श्रौतसूत्रोंसे सम्बद्ध है। इसे शुल्वसूत्र कहते हैं। इसमें यज्ञवेदियोंके माप करनेकी विधि है। भारतीय पण्डितोंका दावा है कि शुल्वसूत्रोंमें रेखागणित-सम्बन्धी नियमोंका वैज्ञानिक व्यवहार संसारमें सबसे पहले हुआ था।

व्याकरणके सबसे प्रसिद्ध आचार्य पाणिनिका समय निश्चित रूपसे ईसवी

सन्से चार शताब्दी पहले है। इनकी लिखी अष्टाध्यायीकी महिमा इस देशमें अब भी प्रतिष्ठित है। कहते हैं कि संसारमें इतना परिपूर्ण व्याकरण अब तक नहीं लिखा गया। अष्टाध्यायीमें ३८६३ सूत्र हैं, इनपर कात्यायनके शोधन और परिवर्तनसम्बन्धी वार्तिक हैं। सूत्र और वार्तिकोंकी मिली हुई संख्या ५१०० से भी ऊपर है। इन दोनोंपर पतञ्जलिने लगभग १५० ई० पू० में अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। पाणिनिके पूर्व और भी अनेक व्याकरण-सम्प्रदाय थे। पाणिनिको आधार करके बहुतसे व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गये हैं। अकेली अष्टाध्यायीपर ५० से अधिक व्याख्याएँ थीं जिनमेंकी अधिकांश लुप्त हो गई हैं। पाणिनिके बाद, उन्हींकी शैली और प्रतिपादित अर्थोंके अनुकरणमें कई अन्य व्याकरण लिखे गये थे। इनमें प्रसिद्ध ये हैं (१) कलाप (द्वितीय शताब्दी), (२) चान्द्र (षष्ठ शताब्दी), (३) जैनेन्द्र (८ वीं शताब्दी), (४) शाकटायन (नवम शताब्दी), (५) संक्षिप्त सार (नवम शताब्दी), (६) सारस्वत (एकादश शताब्दी), (७) हेमचन्द्र (१२ वीं शताब्दी), (८) मुग्धबोध (१३ वीं शताब्दी), (९) सुपद्म (१४ वीं शताब्दी), आजकल पाणिनिके सम्बन्धमें सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ भट्टोजी दीक्षितकी सिद्धान्तकौमुदी है।

निरुक्त वैदिक निघण्टुके भाष्यके रूपमें सम्भवतः ईसासे छः सौ वर्ष पहले लिखा गया था। इसमें वैदिक शब्दोंकी निरुक्ति बताई गई है। कौन-सा शब्द क्यों किसी विशेष अर्थमें व्यवहृत हुआ है, यह बात समझाई गई है। आधुनिक भाषाशास्त्री इन सभी निरुक्तियोंसे सहमत नहीं होते पर वे यह स्वीकार करते हैं कि वेदोंको समझनेके लिए निरुक्त नितान्त आवश्यक है। निरुक्तकी एक टीका पाई गई है जो १२ वीं शताब्दीके आसपासकी लिखी हुई है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान देनेकी बात है कि हिन्दुओंने सन् ईसवीके बहुत पूर्व कोष-ग्रन्थ लिखे थे। इन कोषोंमें विषयानुसार एकार्थके शब्दोंका संग्रह रहता था। संसारकी किसी जातिने इतने पुराने जमानेमें कोष नहीं लिखे। सन् ई०के आस-पासका लिखा हुआ अमरकोष एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इस तरहके बीसियों कोष संस्कृतमें बने थे। आयुर्वेदिक वनस्पतियोंके अर्थ और गुणके निदर्शक निघण्टुओंका वर्गीकरण आज भी विज्ञान-सम्मत समझा जाता है।

छन्दःशास्त्रका सबसे प्राचीन ग्रंथ पिंगल छन्दःसूत्र है। पिंगल कौन थे और कब पैदा हुए थे, यह अब भी निश्चित नहीं हुआ है। कुछ पंडितोंके मतसे वे

सम्राट् अशोकके गुरु थे। पिंगलका एक अन्य संस्करण प्राकृत पिंगल है जिसमें प्राकृत छन्दोंके नियम बताये गये हैं, पर यह चौदहवीं शताब्दीसे अधिक प्राचीन नहीं है। इस विषयपर बहुतसे ग्रंथ लिखे गये हैं पर सभी अपेक्षाकृत नवीन हैं।

वेदांगोंमें ज्योतिष एक महत्त्वपूर्ण विषय है। वेदांग-ज्योतिष नामक लगध मुनि प्रणीत ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। इसके दो रूप हैं, ऋग्वेदका वेदांग और यजुर्वेदका वेदांग। दोनोंमें बहुत थोड़ा अन्तर है। इनमें सब मिलाकर ४५ श्लोक हैं। इनमेंकी ज्योतिषिक गणना बहुत पुरानी है; केवल सूर्य और चन्द्रमा इन दो ही ग्रहोंकी मध्यम गति बताई गई है। दिन और रातकी वृद्धि तथा क्षयको एक नियमित वेगसे चालू मान लिया गया है। बादके हिन्दू ज्योतिषको तीन स्कंधोंमें विभाजित कर सकते हैं: संहिता, गणित और जातक। प्राच्य-विद्या-विशारदोंमेंसे अधिकांशका मत है कि संहिता-स्कंध मगोंसे[1] और जातक ग्रीकोंसे ग्रहण किया गया था। इन तीनों स्कन्धोंपर संस्कृतमें विशाल साहित्यका निर्माण हुआ है। विशेष कर गणितमें हिन्दुओंने संसारको बहुत बड़ा ज्ञान दिया है, हालाँ कि उन्होंने थोड़ा बहुत ग्रीकोंसे भी ग्रहण किया है। आर्यभट, लल्ल, वराह, ब्रह्मगुप्त, मुञ्जाल और भास्कराचार्यने गणित-ज्योतिषको अभिनव समृद्धिसे समृद्ध किया था। अत्यन्त आधुनिक कालमें भी संस्कृतमें ज्योतिषके ग्रन्थ बराबर लिखे जाते रहे हैं। म० म० चन्द्रशेखर सामन्त और म० म० पं० सुधाकर द्विवेदीके ग्रन्थ इस विषयमें विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

पुराण इतिहास

(ई० पू० ६००—४०० ई० तक)

सूत्रकालके अन्तमें संस्कृतमें एक विशेष जातिका छन्द बहुत लोकप्रिय होने लगा था। इसका शास्त्रीय नाम 'अनुष्टुभ्' है पर साधारणतः यह 'श्लोक' नामसे मशहूर है। पुराण और इतिहासका अधिकांश इसी श्लोकमें लिखा गया है। कहते हैं कि महाभारत और रामायण सन् ईसवीसे लगभग चार सौ वर्ष पहले लिखे गये थे। महाभारत परम्परा-समागत इतिहासोंका संग्रह था और रामायण परम्परासे प्राप्त काव्य या एपिक था। लेकिन इन दोनों ग्रन्थोंको हम जिस रूपमें आज पाते

१ Mag ii

हैं वह उतना पुराना नहीं है। समय समयपर इनमें परिवर्तन होता रहा है। महाभारत साधारणतः कई रूपोंमें उपलब्ध होता है। उत्तर भारतमें उसका एक रूप है, दक्षिण भारतमें दूसरा और मलबारमें तीसरा। तीसरा महाभारत, विद्वानोंकी रायमें, ई० पूर्वकी दूसरी शताब्दीमें पूर्ण हो गया था। उत्तर और दक्षिणके महाभारतोंमें बहुत-सा प्रक्षेप है। रामायण भी पूर्वी भारतमें एक तरहकी है, मध्यभारतमें दूसरी तरहकी और पश्चिमी भारतमें तीसरी तरहकी। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीका कहना है कि रामायणके प्रथम और सप्तम काण्ड बादके प्रक्षिप्त हैं।

पुराणोंकी संख्या इस देशमें कितनी है, यह बताना कठिन है। साधारणतः अठारह महापुराण और इतने ही उपपुराणोंकी प्रधानता है, फिर भी पुराण नामसे प्रचलित ग्रन्थोंकी संख्या सौसे भी ऊपर है। पुराण कब बने थे, यह कहना बड़ा मश्किल है। सभी पुराण एक ही समयमें नहीं बने। पर्जिटर, जो इस विषयके वैज्ञानिक विवेचक माने जाते हैं, कुछ पुराणोंको सन् ईसवीके पूर्ववर्ती माननेमें नहीं झिचकते। एक अत्यन्त विवादास्पद सिद्धान्त जैकसनने स्थिर किया था जिसके अनुसार सन् ई० के छः सौ वर्ष पूर्व पुराण नामक कोई ग्रन्थ था जिसने नाना सम्प्रदायोंके हाथमें पड़कर नाना भाँतिका रूप धारण किया है। आजकल यह विश्वास किया जाने लगा है कि पुराणोंमें ऐसी बहुत-सी कहानियाँ और ऐतिहासिक घटनाएँ विवृत हैं जो आर्य-पूर्व जातियोंकी चीज़ हैं। स्व० विद्वद्वर काशीप्रसाद जायसवालने पुराणोंके आधारपर इतिहासकी प्रामाणिक सामग्रियाँ संग्रह की हैं। सो कुछ भी क्यों न हो, म० म० हरप्रसाद शास्त्रीका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि सन् ई० की पाँचवीं शताब्दीमें पुराण तैयार हो चुके थे, यद्यपि बादमें भी उनमें प्रक्षेप होता रहा है। इन पुराणोंमें भारतीय धर्ममत, इतिहास और साधनाके अध्ययनकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। पौराणिक साहित्य बहुत बड़ा और मूल्यवान् साहित्य है। जैनोंके भी बहुतसे पुराण लिखे गये जो अधिकांशमें ब्राह्मणोंकी पुराणोंकी प्रतिद्वंद्वितामें लिखे गये होंगे।

धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र

कल्पसूत्रोंकी चर्चा करते समय बताया गया है कि इन सूत्रोंको आश्रय करके एक विशाल साहित्यका निर्माण हुआ। स्मृतियाँ, जो इस विशाल साहित्यकी अङ्ग हैं, ऊपर बताये हुए पुराण-कालमें ही अधिकतर लिपिबद्ध हुईं। सन्

ईसवीके पहले इस प्रकारकी अनेक स्मृतियाँ तैयार हो गई थीं। मानव-धर्मशास्त्र या मनुस्मृति इन्हीं स्मृतियोंके निचोड़का संग्रह है। अर्थशास्त्रकी भी अनेक पुस्तकें उस युगमें लिखी गई थीं। अर्थशास्त्रसम्बन्धी बहुतसे सिद्धान्त विभिन्न आचार्योंके नामपर चल पड़े थे। कौटिल्यका अर्थशास्त्र इन्हीं सिद्धान्तोंका संग्रह है। बादमें भी इस विषयपर ग्रन्थ लिखे गये जिनमेंसे अधिकांश इस समय लुप्त हो गये हैं।

कामशास्त्रकी भी उन दिनों काफी चर्चा थी। अनेक आचार्योंने ऐहिक सुख-भोगके नाना अङ्गोंपर ग्रन्थ लिखे थे। इन सबका सार संग्रह करके सन् ई० की पहली या दूसरी शताब्दीमें वात्स्यायनने अपना प्रसिद्ध काम-सूत्र लिखा। बादमें कामशास्त्र अत्यन्त सीमित अर्थमें बर्ता जाने लगा और इस सीमित अर्थके विधायक बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये।

दर्शन

(सन् ई० २०० से ८०० ई० तक)

भारतीय दर्शनोंके मूलमें वेद और उपनिषद् हैं। जैन और बौद्ध दर्शन भी जो अपनेको वैदिक सम्प्रदायका प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, इनसे प्रभावित हुए थे। हालहीमें विश्वास किया जाने लगा है कि अध्यात्मवादका मूल उत्स भारतवर्षकी आर्येतर जातियाँ थीं। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि जिस रूपमें आज हम भारतीय दर्शनको पाते हैं उसकी प्रेरणा वेदोंसे प्राप्त हुई थी। दर्शन छः माने जाते हैं, यद्यपि चौदहवीं शताब्दीमें मध्वाचार्यने सोलह दर्शनोंका उल्लेख किया था। छः मुख्य दर्शनोंके नाम इस प्रकार हैं: सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। ये दर्शन सूत्र रूपमें लिखे गये थे और इनको समझनेके लिए भाष्योंकी बड़ी जरूरत थी। सबसे पुराना भाष्य मीमांसा (पूर्व) पर शबर-भाष्य है। शबरके ही सम्प्रदायमें सुप्रसिद्ध कुमारिल भट्ट हुए जिन्हें बौद्धोंको भारतवर्षसे निर्मूल करनेका नाम प्राप्त है। इसके बाद न्यायका वात्स्यायन-भाष्य है। फिर वैशेषिक दर्शनपरका प्रशस्तपाद-भाष्य है आगे चलकर न्याय और वैशेषिक एकमें मिल गये और 'नव्य न्याय नामसे उत्तरकालमें एक प्रबल साहित्य सृष्ट हुआ। योगदर्शनके भाष्यका व्यासका समय, म० म० हरप्रसाद शास्त्रीके मतसे, पाँचवीं सदी होना चाहिए सांख्यके मूल सूत्र और भाष्य शायद खो गये हैं। सांख्य-सूत्र नामसे

प्रचलित ग्रन्थ बादका है। इस दर्शनपर सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वरकृष्णाचार्यकी सांख्यकारिका है जो शायद सन् ईसवीकी पाँचवीं शताब्दी (४७९ ई०) की लिखी है। कुछ यूरोपियन पण्डितोंका विश्वास है कि जैन और बौद्ध दर्शनके मूलमें सांख्य दर्शन है जो भारतवर्षका अत्यन्त प्राचीन मत है। सांख्यकारिकापर गौड़पाद और वाचस्पति मिश्रकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

वेदान्तसूत्रके सबसे बड़े और पुराने भाष्यकार अद्वैतवादके गुरु शङ्कराचार्य हैं। वेदान्तसूत्रके सर्वाधिक प्रामाणिक यूरोपियन पण्डित डायसनकी रायमें शंकर संसारके तीन महाबुद्धिशालियोंमेंसे[1] थे। ये तीन हैं—प्लेटो, शङ्कर और काण्ट। शङ्कराचार्यके मतपर बहुत बड़ा साहित्य रचित हुआ है। शङ्करके सिवा वेदान्त सूत्रोंके और भी अनेक भाष्यकार हुए हैं जिनमें रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी, वल्लभ आदि प्रधान हैं। इनमेंसे प्रत्येक आचार्यके मतकी पुस्तकोंका अपना अपना विशाल संग्रह है। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीका अनुमान है कि प्रत्येक सम्प्रदायकी पुस्तकोंकी अलग अलग संख्या ५०० से कम न होगी।

इन आस्तिक दर्शनोंके सिवा ऐसे दर्शन भी हैं जिन्हें नास्तिक कहते थे। ये दर्शन न तो वेदोंमें ही विश्वास करते थे और न आत्मामें ही। चार्वाक इनमें बहुत प्रसिद्ध हैं, पर इनके ग्रन्थ सम्पूर्ण रूपसे लुप्त हो गये हैं। इसके सिवा जैन दर्शनका विशाल साहित्य है। जैन न्याय भारतीय दर्शनोंमें अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस दर्शनकी उत्तम पुस्तकें दूसरीसे छठी शताब्दी तक लिखी गई थीं, हालाँ कि जिन सिद्धान्तोंसे इन ग्रन्थोंको प्रेरणा मिली थी वे बहुत पुराने थे। बारहवीं सदीमें हेमचन्द्र जैन दर्शनके प्रख्यात आचार्य हुए। अपने समयमें शायद भारतवर्षमें वे अद्वितीय प्रतिभाशाली दार्शनिक थे।

संस्कृतका बौद्ध साहित्य

(सन् २०० ई०—८०० ई०)

सन् ईसवीकी दूसरी शताब्दीके आसपास बौद्धोंके महायान मतका प्रादुर्भाव हुआ। इस मतके अनुयायियोंको शक और सीथियन राजाओंका आश्रय प्राप्त हुआ और देखते देखते यह मत भारतवर्षकी सीमा लाँघकर अन्य देशोंमें चला

1 Gigantic intellects.

गया। इस मतके आचार्योंने पालीमें न लिखकर संस्कृतमें ग्रंथ लिखे जो बहुत कुछ पाली ग्रन्थोंके अनुवादमात्र थे पर एक अंश तक मौलिक भी थे। अश्वघोषने बुद्धचरित नामक एक काव्य लिखा जिसे यूरोपियन पण्डित बहुत पसन्द करते हैं। इन्होंने कुछ नाटक और अन्य काव्य भी लिखे जो बड़े ही उत्तम उतरे। इन बौद्ध आचार्योंने संस्कृतमें और भी बहुत-से ग्रन्थ लिखे। खासकर इनके दर्शन और तर्कशास्त्रके ग्रन्थ बहुत उच्च कोटिके थे। दुर्भाग्यवश बौद्ध धर्मके इस देशसे लोप होनेके साथ ही साथ इन ग्रन्थोंका भी लोप हो गया। अब तक इस मतके जो कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं वे मध्य एशिया, तिब्बत और नेपालमें पाये गये हैं। तिब्बती, चीनी आदि भाषाओंमें इन ग्रन्थोंके अनुवाद विद्यमान् हैं। म० म० पंडित विधुशेखर शास्त्रीने इन अनुवादोंके आधारपर कई मूल ग्रन्थोंका उद्धार किया है। इधर हालमें ही सुना है कि महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तिब्बतमें पाये हैं।

आयुर्वेद और अन्य उपवेद

चारों वेदोंके चार उपवेद हैं। इनका नाम है: आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और शिल्पवेद या विश्वकर्म-शास्त्र। चौथा उपवेद किसी किसीके मतसे तंत्र है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखयोग्य आयुर्वेद है। अथर्ववेदमें आयुर्वेदिक ओषधियोंका प्रचुर वर्णन है। आयुर्वेदके आठ अङ्ग हैं—शल्य,[१] शालाक्य,[२] काय-चिकित्सा, भूतविद्या[३], कौमारभृत्य, अगदतन्त्र,[४] रसायनतन्त्र[५] और बाजीकरण[६]। सन् ईसवीके बहुत पहले इन अङ्गोंपर अनेकों बड़ी बड़ी पोथियाँ लिखी गई थीं। पर दुर्भाग्यवश उनका अब नाम-भर शेष रह गया है। ग्रन्थोंका सार सङ्कलन करके चरक और सुश्रुतने अपनी अपनी प्रख्यात संहिताएँ लिखीं जो बादमें चलकर सारे संसारके चिकित्सा-शास्त्रको प्रभावित करनेमें समर्थ हुइ। बौद्ध त्रिपिटकोंके सारे चीनी संस्करणोंसे जाना जाता है कि चरक महाराज कनिष्क (सन् ई० की प्रथम शताब्दी) के राजवैद्य थे। सुश्रुतका भी लगभग यही काल होना चाहिए क्योंकि काशगरमें मिले हुए बोअर मैनस्क्रिप्ट्ससे (जो निश्चय ही चौथी शताब्दीके होने चाहिएं) चरक और सुश्रुतके उद्धरण पाये जाते हैं। पुरानी

---

१. Major Surgery. २. Minor Surgery. ३. Demonology. ४. Toxicology. ५. Elixirs. ६. Aphrosidiacs.

संहिताओंमें भेड संहिताकी एक प्रति पाई गई है, पर मालूम नहीं कि यह कहींसे सम्पादित होकर प्रकाशित हुई या नहीं। चरक और सुश्रुतकी संहिताओंके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वाग्भटका अष्टाङ्गहृदय है। इन तीनोंको आयुर्वेदकी बृहत्त्रयी कहते हैं। बादमें इस शास्त्रपर असंख्य ग्रन्थ लिखे गये और अबतक लिखे जा रहे हैं। इन ग्रन्थोंमेंसे कईके तिब्बती अनुवाद सुरक्षित हैं जो मूल संस्कृतमें खो गये माने जाते हैं। आधुनिक कालमें म० म० गणनाथसेनका 'प्रत्यक्षशारीरम्' आयुर्वेदिक साहित्यका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अन्य उपवेदोंमें गान्धर्व वेदकी पुस्तकें पाई जाती हैं, पर अधिकतर बादकी लिखी हैं। शिल्प-शास्त्रकी पुस्तकोंका बहुत कम पता लग पाया है। इस विषयके अधिकांश ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं। कोई ग्रन्थ मेरे देखनेमें नहीं आया। केवल अग्निपुराणमें जिसे उस युगका विश्वकोष कह सकते हैं, इसकी चर्चा है। तंत्र-शास्त्रकी चर्चा अन्यत्र की गई है।

अलंकृत काव्य, गद्य, नाटक, चम्पू और कहानियाँ

सन् ईसवीके आरम्भ तक संस्कृतमें कविता या तो धार्मिक उद्देश्यसे लिखी जाती थी या आध्यात्मिक उद्देश्यसे। (विण्टरनित्सका खयाल है कि बहुत प्राचीन युगमें ऐसी कविता भी जरूर लिखी जाती थी जिसका उद्देश्य केवल रस-सृष्टि था। नल-दमयन्तीका उपाख्यान एक ऐसा ही काव्य है जो बादमें महाभारतमें अन्तर्भुक्त हो गया।) पर बादमें बात ऐसी नहीं रही। सन् ईसवीके आसपास कविता केवल रस-सृष्टिके उद्देश्यसे लिखी जाने लगी और इस क्षेत्रमें संस्कृतके कवियोंने कमाल किया। कालिदासके अमर काव्य रस-जगत्की अनमोल सम्पत्ति हैं। बादमें माघ, भारवि और श्रीहर्षकी मनोहरिणी रचनाओंने संस्कृत साहित्यको अधिक समृद्ध किया। सैकड़ों कवियोंके प्रबन्ध-काव्यों और उद्भट रचनाओंसे संस्कृतका साहित्य बेजोड़ हो गया है।

पद्यमय काव्यके साथ ही गद्यमय काव्यका भी संस्कृतमें विकास होने लगा था। इतना कलामय और 'रिद्मिक' गद्य संसारकी और किसी भाषाने नहीं पैदा किया। वसुबन्धुकी वासवदत्ता और बाणभट्की कादम्बरी अपनी ढङ्गकी अनोखी रचनाएँ हैं। गद्य और पद्यके मिलाये हुए रूपमें एक और तरहकी रचना

भी संस्कृत साहित्यकी एक विशेषता है। इसे चम्पू कहते हैं। गद्यका एक दूसरा रूप पञ्चतंत्र आदि कहानियोंके रूपमें पाया जाता है। वेनिफीने पहले पञ्चतंत्रकी कहानियोंका अनुवाद करके यूरोपियन कहानियोंसे तुलना की। उन्हें इस निष्कर्षपर पहुँचना पड़ा कि संसारकी कहानियोंका मूल भारतवर्ष ही है। पञ्चतन्त्रकी कहानियोंने संसारकी सारी भाषाओंके साहित्यको आश्चर्यजनक रूपमें प्रभावित किया है। पञ्चतन्त्रका माहात्म्य सारे संसारमें प्रतिष्ठित हो गया है। वेनिफीके प्रयत्नसे एक नये शास्त्रका ही जन्म हुआ जिसे कहानियोंकी अलोचनाका तुलनात्मक साहित्य कहा जाता है। गुणाढ्यने लगभग दो हजार वर्ष पहले पैशाची प्राकृतमें बृहत्कथा नामक कथाका ग्रन्थ लिखा था। यह मूल ग्रन्थ खो गया है पर उसके संस्कृत रूपांतर जिनमें कथा-सरित्सागर, बृहत्कथा-मञ्जरी, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह आदि मुख्य हैं, पाये जाते हैं। इन कहानियोंका आश्रय करके संस्कृतमें अनेक कथा-ग्रंथ लिखे गये हैं।

नाटक भी संस्कृतके कवियोंकी अपनी विशेषता है। ये ग्रीक नाटकोंके समान नहीं हैं। प्रो० सिलवाँ लेवीने कहा है कि भारतीय प्रतिभाने एक नई चीज़को पैदा किया है जिसे सूत्र रूपमें 'रस' कहा जा सकता है। अर्थात् भारतीय नाटककार अभिहित[1] नहीं करता, व्यंग्य[2] करता है। शूद्रकका मृच्छकटिक यूरोपियन दृष्टिसे भी एक सफल नाटक है। इसकी रचना सन् ईसवीकी तीसरी शताब्दीमें हुई थी। बहुत दिनों तक विश्वास किया जाता था कि यह संस्कृतका आदि नाटक है। पर अब यह विश्वास निराधार साबित हुआ है। श्री गणपति शास्त्रीने भासके नाटकोंका उद्धार किया है। ये नाटक सन् ईसवीके पहलेके हैं। मध्य एशियासे कुछ बौद्ध नाटकोंका भी उद्धार हुआ है। फिर कालिदासके नाटक हैं जिनमेंसे एक अभिज्ञान शाकुन्तल सम्पूर्ण जगत्का हृदय-हार बन चुका है। भवभूतिका उत्तर-चरित भी समान रूपसे समादृत हुआ है। श्रीहर्षकी रत्नावली भारतीय आलोचकोंकी टेकनिककी दृष्टिसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मुद्राराक्षस और वेणी-संहार अपने अपने ढङ्गकी अनोखी रचनाएँ हैं। नाटक बहुत-से बने और अब भी बनते जा रहे हैं। स्वर्गीय म० म० देवीप्रसादजीने इस दिशामें अच्छा कार्य किया था।

---

१ Express. २ Suggest.

नाटक और काव्यके विवेचनात्मक ग्रन्थ

नाटक और नाट्यकलासम्बन्धी आलोचना इस देशमें बहुत पुरानी है। कुछ पण्डितोंकी रायमें यह वेदोंसे भी बहुत पुरानी है। सन् ईसवीके बहुत पूर्व अनेक नाट्य-सूत्र रचे जा चुके थे। इसमें नाटकोंका ही विवेचन नहीं था, रस, अलङ्कार, सङ्गीत, अभिनय आदि काव्यसम्बन्धी सभी विषयोंका समावेश था। सन् ईसवीके आरम्भके समय इन सभी ग्रन्थोंका सार सङ्कलन करके भारतीय नाट्यशास्त्र संगृहीत हुआ। इसके बाद भामह और दंडीके अलंकार-विवेचनके ग्रन्थ पाये जाते हैं जो शायद पाँचवीं और छटी शताब्दियोंमें लिखे गये थे। वामन, रुय्यक, राजशेखर आदि अनेक आचार्योंने अपने अपने विशेष काव्य-सिद्धान्तके प्रतिपादनात्मक अलंकार-ग्रन्थ लिखे। आनन्दवर्धनने ध्वन्यालोकमें अत्यन्त विद्वत्ताके साथ इस बातका प्रतिपादन किया कि ध्वनि ही काव्यकी आत्मा है; रस सर्वोत्तम ध्वनि है। आनन्दवर्धनके मतको सर्वाधिक बल अभिनव गुप्त जैसे प्रतिभाशाली टीकाकारसे मिला। फिर नाना सिद्धान्तोंपर गम्भीर विवेचना करके मम्मटने ईसाकी दसवीं शताब्दीमें काव्य-प्रकाश लिखा जो इस विषयका सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। मम्मटके बाद उल्लेखयोग्य आचार्य साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ और रसगङ्गाधरकार जगन्नाथ हुए। पण्डितराज जगन्नाथ स्वयं अच्छे कवि थे। उनके विषयमें कहा सकता है कि वे आलोचकोंमें सबसे बड़े कवि और कवियोंमें सबसे बड़े आलोचक थे। इन आचार्योंके बाद और भी अनेक पण्डितोंने ग्रन्थ और टीकाएँ लिखीं। पर अलंकारशास्त्रके इस अभ्युदयसे वास्तविक काव्यको लाभ नहीं पहुँचा। इन अलङ्कारोंने फुटकर श्लोकोंकी प्रथाको उत्तेजित किया और उक्ति-चमत्कारपर ज़ोर दिया। यह एक आश्चर्यकी बात है कि काव्य-विवेचना जिस समय अपने चरम उत्कर्षपर थी, कविता उसी समय गिरती जा रही थी।

सङ्कीर्ण काव्य, धर्म और दर्शनपर टीकाएँ

(८००—१४०० ई०)

काव्यके अपकर्ष-कालमें भी संस्कृत साहित्यमें अच्छी कविताओंकी कमी न थी, पर इन कविताओंमें ज्यादातर कृत्रिम वाक्य-विन्यास और दरबारीपन आ गया था। इस कालमें कुछ जीवन-चरित, ऐतिहासिक प्रबन्ध लिखे गये। जैन आचार्योंने कई उल्लेख योग्य ऐतिहासिक प्रबन्ध लिखे। पर इस

युगकी सबसे बड़ी विशेषता है धर्मशास्त्रोंकी टीकाएँ। ये टीकाएँ कभी कभी विराट् मौलिक ग्रन्थ हुआ करती थीं। टीकापन इनमें नाममात्रको ही रहता था। मनुके टीकाकार कुल्लूक भट्ट, मेधातिथि और गोविन्दराज टीकाकारके रूपमें ही विख्यात हैं। अपरार्क, कर्क, नारायण, वरदराज, असहाय, रङ्गनाथ, सायण आदि आचार्य अपनी टीकाओंसे अमर हो गये हैं। इन टीकाओंमें टीकाकारोंके अद्भुत पाण्डित्य और बहुश्रुतताको देखकर दङ्ग रह जाना पड़ता है।

पर इससे भी अधिक आकर्षक हैं इस युगकी दार्शनिक भा[illegible] टीकाएँ। न तो दर्शनोंपरके भाष्य ही महज टीका हैं और न भाष्योंकी टीकाए ही। मूलको अपने विशेष सिद्धान्तका समर्थक सिद्ध करनेके लिए ही ये भाष्य लिखे गये थे और इन भाष्योंकी टीकाओंमें विषयको और भी सावधानीसे और भी सूक्ष्मताके साथ विवृत किया गया है। भाष्यकारोंकी भाँति ये टीकाकार भी असाधारण-प्रतिभाशाली पण्डित थे। संस्कृत साहित्यका अधिकांश पाण्डित्य इन टीकाकारोंके ही हाथ रक्षित हुआ है। वाचस्पति मिश्रने छहों दर्शनोंपर टीकायें लिखी थीं। नव्य न्यायके ग्रन्थोंमें टीकाएँ मूलग्रन्थसे कहीं अधिक जटिल समझी जाती हैं। एकाधिक बार टीकाकी टीका तथा उसकी भी टीका होती है और फिर भी टीका करनेका अवसर रहा ही करता है। आये दिन पण्डितगण टीका-की चौथी, पाँचवीं और छठीं पुश्त तक तैयार करते रहते हैं। यह क्रम आज भी चल रहा है।

निबन्ध

राजा भोज एक तरहसे अन्तिम हिन्दू संरक्षक थे जिन्होंने केवल विद्वानोंका आश्रय ही नहीं दिया, नये सिरेसे ग्रन्थ लिखे। इन्होंने ज्योतिष, तन्त्र और स्मृतिपर ग्रन्थ लिखे। बादमें मुसलमानी शासनके प्रभावसे मौलिक ग्रन्थोंकी वृद्धि रुक गई। इसी समय बड़े निबन्ध लिखे गये जिनमें शत शत प्रामाणिक ग्रन्थोंके मतोंकी आलोचना करके शास्त्रीय व्यवस्थाओंका निर्देश होता था। कन्नौजके लक्ष्मीधर, कर्नाटकके मध्वाचार्य, बंगालके शूलपाणि और जीमूतवाहन, मिथिलाके चण्डेश्वर और वाचस्पति मिश्र, उड़ीसाके विद्याधर और नरसिंह, बुन्देलखण्डके मित्र मिश्र, कुमायूँके अनन्तभट्ट और तिलंगानेके देवान्नभट्ट, काशीके कमलाकरभट्ट और नवद्वीपके रघुनन्दन आदि पण्डितोंके निबन्ध-ग्रन्थोंमें अद्भुत पाण्डित्यका परिचय मिलता है।

तन्त्र-ग्रन्थ और भक्ति-साहित्य

म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीका विश्वास है कि तन्त्र सातवीं शताब्दीमें भारतमें आये। उसी समय नाथ-सम्प्रदायका प्रादुर्भाव हुआ था और इनके प्रधान आचार्य, मीननाथ और गोरक्षनाथने इसके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थ लिखे थे। किन्तु ऐसे अनेक पण्डित हैं जो इस मतमें सन्देह करते हैं और विश्वास करते हैं कि अज्ञात कालसे यह मत इस देशमें वर्तमान है। हालहीमें स्वर्गीय श्री वुडरफके तत्त्वावधानमें इंग्लैण्डमें तंत्र सोसायटी स्थापित हुई है जिसने तंत्रके अनेक प्राचीन ग्रन्थोंको प्रकाशित किया है। तंत्रोंके सम्बन्धमें अभी विशेष कार्य नहीं हुआ है। लेकिन तंत्रकी सैकड़ों पुस्तकें विभिन्न पुस्तकालयोंमें सुरक्षित हैं। तंत्रोंका बनना उन्नीसवीं सदी तक जारी रहा है।

इस युगमें एक बहुत बड़ा भक्ति-साहित्य रचित हुआ जिसका अधिक सम्बन्ध वैष्णव भक्तोंसे है। भक्ति-साहित्यके अधिकांश ग्रन्थ दक्षिण और बङ्गालमें रचित हुए। बङ्गालके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमें भक्तिमूलक नाटक, चम्पू, निबन्ध,—सब कुछ लिखे गये हैं, यहाँ तक कि व्याकरण भी हरिनामसे विभूषित करके लिखे गये हैं। इन आचार्योंमें चैतन्य महाप्रभुके शिष्य रूप सनातन और जीव गोस्वामीका नाम विशेष रूपसे उल्लेख्य है। भक्ति-साहित्यके साथ ही एक अनोखा साहित्य इस युगमें रचित हुआ जो संसारके साहित्यमें विरल है। यह है स्तोत्र-साहित्य। जैनों, वैष्णवों, शैवों और शाक्तोंके इस विशाल साहित्यकी तुलना नहीं की जा सकती।

पत्थरों और ताम्रपत्रोंका साहित्य

संस्कृत-साहित्यका एक बहुत बड़ा हिस्सा पुस्तकोंके बाहर शिलाओं, पर्वत-पृष्ठों, मन्दिरों और ताम्रपत्रोंपर बिखरा हुआ है। सबसे पुरानी लिपियाँ ईसवी सन्से भी पुरानी हैं। इन्हें महाराज अशोकने लिखवाया था। परन्तु ये पालीमें हैं। संस्कृतकी लिपियाँ इसके बाद मिलती हैं। इन लेखोंसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अनुसन्धान हुए हैं। महाक्षत्रप रुद्रदामनका खुदवाया हुआ गिरनारका शिलालेख (१५० ई०) गद्यकाव्यका उत्तम नमूना है। इसमें अलङ्कारोंका उपयोग ही नहीं है; अलङ्कार शास्त्रका भी उल्लेख है। जब तक यूरोपियन पण्डितोंने इधर ध्यान नहीं दिया था, साहित्यका यह अङ्ग उपेक्षित और अज्ञात पड़ा हुआ था।

पर आज, यद्यपि ये अब भी सम्पूर्णतः उद्धृत नहीं हुए हैं, कोई भी संस्कृतका पण्डित इनको जाने बिना अपनेको पूर्ण नहीं समझ सकता। इन विशाल लेखोंका संग्रह बीसियों जिल्दोंमें हुआ है और होता जा रहा है।

फुटकर विषय

संस्कृत-साहित्यके अनेक अङ्गोंपर यहाँ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसमें शिल्प-शास्त्र है, वास्तु विज्ञान है, क्रीड़ापरक ग्रंथ हैं, नाचने और गानेकी विद्या है, पशुओं और पक्षियोंके स्वभाव और पालन-पोषणकी विद्या है, सामुद्रिक शास्त्र है, अरबी और फारसी विद्याओंका अनुवाद है, व्यवहार-शास्त्र हैं, नीति-ग्रंथ हैं और सबके ऊपर सुभाषितोंका अतुलनीय भाण्डार है। अनेक विषयोंके ग्रंथ लुप्त हो गये हैं, क्वचित् कदाचित् ये मिलते रहते हैं और प्रकाशित किये जाते हैं। पर अधिकांश विषयोंके ग्रन्थ नाम-शेष रह गये हैं और उनका परिचय अन्यान्य ग्रन्थोंके उद्धरणोंसे मिला करता है। इसके अतिरिक्त पाली, प्राकृत और अपभ्रंशका समूचा साहित्य किसी न किसी रूपमें संस्कृतको आश्रय करके गठित हुआ था। आगेके पृष्ठोंमें कुछ विस्तृत रूपसे इनकी चर्चा की जा रही है।

अन्तिम बात

जिस भाषाके ग्रन्थोंकी संख्या अधिकांश नष्ट हो जानेपर भी आधे लाखसे ऊपर चली गई है,—और इन ग्रन्थोंमेंसे सैकड़ों ऐसे हैं जो दस हजार या उससे भी अधिक कभी लाख लाख श्लोकोंसे बने हैं, जिस भाषाके साहित्यकी रचना कमसे कम पाँच हजार वर्षोंसे अविच्छिन्न भावसे हो रही है, जिस भाषाके ग्रन्थों-की रचना, पठन-पाठन और चिन्तनमें भारतवर्षके हजारों सर्वोत्तम मस्तिष्क सैकड़ों पुश्त तक लगे रहे हैं और आज भी बीसियों देशोंके सैकड़ों मनीषी जिस भाषाकी ओरसे नवीन प्रकाश पानेके लिए आँखें बिछाये हुए हैं, उस भाषाके साहित्यका परिचय इन कई पृष्ठोंमें देना असम्भव है। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि हजारों वर्ग-मीलमें विस्तृत करोड़ोंकी वासभूमि इस महादेशकी हजारों वर्षकी चिरन्तन साधनाका सर्वोत्कृष्ट सार इस भाषामें सञ्चित है। संस्कृत भाषा संसारकी अद्वितीय-महिमा-शालिनी भाषा है।

२

महाभारत क्या है ?

महाभारतको केवल एक ग्रन्थ या एक महाकाव्य कहने-भरसे इसके बारेमें कुछ भी नहीं समझा जा सकता। असलमें, जैसा कि सुप्रसिद्ध जर्मन पंडित विण्टरनित्जने कहा है, महाभारत अपने आपमें सम्पूर्ण एक समग्र साहित्य (Whole Literature) है। महाभारत शब्दका अर्थ महायुद्ध है, क्योंकि पाणिनि (४-२-५६) के मतसे ' भारत ' का अर्थ संग्राम ही होता है। पर जान पड़ता है. ' भारत ' शब्दका सम्बन्ध भरत-वंशसे है, क्योंकि स्वयं महाभारतमें ही इस कथाको ' महाभारत-युद्ध ' (१४-८१-८) और ' महाभारताख्यान ' (१-६२-३९) कहा गया है। सम्भवतः ' महाभारत ' शब्द इन्हीं शब्दोंका संक्षित रूप हो, इसीलिए पंडितोंने महाभारतका अर्थ किया है, ' भरत-वंशवालोंके युद्धकी कथा '। स्वयं महाभारतमें इस नामकरणका एक मजेदार कारण दिया हुआ है। एक बार देवताओंने स-रहस्य चारों वेदोंको तराजूके एक पलड़ेपर और महाभारतको दूसरे पलड़ेपर रखकर तोला। महाभारत भारी निकला। इसीलिए 'महान्' और 'भारवान्' (भारी) होनेके कारण यह ' महाभारत ' कहा जाने लगा (१-१-२६९-७१)।

ऋग्वेदमें इन भरत-वंशवालोंका उल्लेख है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भरतको दुःष्यन्त और शकुन्तलाका पुत्र बताया गया था। इन्हीं भरतके वंशमें कुरु हुए जिनकी सन्तानोंमें आपसी झगड़ेके कारण कभी घोर युद्ध हुआ था। भारतवर्षके पुराने और नये साहित्यमें इस युद्धका इतना अधिक उल्लेख है कि उसकी चर्चा करना भी अनावश्यक जान पड़ता है। प्रधानतः महाभारत इन्हीं कुरुवंशियोंके युद्धकी कहानी है।

किन्तु महाभारत केवल इस युद्धकी ही कहानी नहीं है। इस महाग्रन्थका

बहुत-सा अंश इस युद्धकी कहानीसे किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है। शत शत वर्षों तक मूल कहानीके इर्द-गिर्द अनेक प्राचीनतर आख्यान और तत्त्ववाद जोड़े जाते रहे हैं। ये आख्यान मूल कहानीमें इतने प्रकारसे और इतने रूपमें आ मिले हैं कि शायद यह निर्णय कभी नहीं हो सकेगा कि मूल कहानी क्या थी और उसमें कौन-सी कहानी कब जोड़ी गई। असलमें महाभारत उस युगकी ऐतिहासिक, नैतिक, पौराणिक, उपदेशमूलक और तत्त्ववाद-सम्बन्धी कथाओंका विशाल विश्व-कोश है। भारतीय दृष्टिसे महाभारत पाँचवाँ वेद है, इतिहास है, स्मृति है (शङ्कराचार्य), शास्त्र है और साथ ही काव्य है। आज तक किसी भारतीय पंडित या आचार्यने इसकी प्रामाणिकतापर सन्देह नहीं किया। कमसे कम दो हजार वर्षसे यह भारतीय जनताके मनोविनोद, ज्ञानार्जन, चरित्र-निर्माण और प्रेरणा-प्राप्तिका साधन रहा है।

स्वयं महाभारत अपने विषयमें कहता है—" जैसे दहीमें मक्खन, मनुष्योंमें ब्राह्मण, वेदोंमें आरण्यक, औषधोंमें अमृत, जलाशयोंमें समुद्र और चतुष्पादोंमें गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासमें यह 'भारत' श्रेष्ठ है (१-१-२६१-३)। इस आख्यानको सुननेके बाद अन्य कथाएँ उसी तरह फीकी मालूम होंगी जिस प्रकार कोकिलकी वाणी सुनकर काककी वाणीका सुनना। जैसे पंचभूतसे लोककी तीन संविधियाँ उद्भूत होती हैं, उसी प्रकार इस इतिहासको सुनकर कविबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं (१-२-३८२-३)।"

व्यास देवने महाभारतकी कथा वैशम्पायन नामक अपने शिष्यको सुनाई। इन्हीं वैशम्पायनने नागयज्ञके अवसरपर यह कथा दूसरी बार सुनाई। तीसरी बार सूत-पुत्र शौनकने ऋषियोंको सुनाई। सारा महाभारत वैशम्पायन और जनमेजयके संवादके रूपमें कहा गया है। इन्हीं संवादोंके भीतर अन्यान्य चरित्रोंके संवाद होते रहते हैं। इस अन्तःसंवादोंमें जो बात विशेष रूपसे याद रखनेकी है वह यह है कि युद्धकी सारी कथा, जिसे महाभारतका केन्द्र कहा जा सकता है, संजयने धृतराष्ट्रको सुनाई है। पंडितोंका विश्वास है कि इस प्रकार संवादके रूपमें लिखा जाना ही महाभारतकी प्राचीनताके प्रमाणोंमेंसे एक है। बादमें महाभारतका यह ढंग पुराणोंने ग्रहण किया। पर यह ध्यान देनेकी बात है कि वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रकारके संवादसूचक पृथक् वाक्यांश (जैसे जनमेजय उवाच) नहीं हैं।

उपर्युक्त कथासे इतना स्पष्ट है कि महाभारतको तीन बार तीन वक्ताओंने तीन प्रकारके श्रोताओंको सुनाया था। आदिपर्वमें बताया है कि उपाख्यानोंको छोड़कर २४००० श्लोकोंकी संहिता उन्होंने लिखी है। फिर उसी अध्यायमें यह भी कहा गया है कि व्यासदेवने ६० लाख श्लोकका काव्य लिखा था जिसमें ३० लाख देवोंके लिए, १५ लाख पितरोंके लिए, १४ लाख गन्धर्वोंके लिए और बाकी १ लाख मनुष्योंके लिए लिखे गये थे (१-१-१०१)। इन्हीं एक लाख श्लोकोंका यह विशाल काव्य आजका महाभारत है, इसीलिए इसे 'शतसाहस्त्री संहिता' या 'सौ हजार श्लोकोंका संग्रह-ग्रन्थ' कहा जाता है। आगे चलकर पाठकोंको मालूम होगा कि इस बातका पक्का सबूत पाया गया है कि कमसे कम दो हज़ार वर्ष पहले महाभारतमें एक लाख श्लोक मोजूद थे।

कलकत्तेसे छपे हुए महाभारतके १८ पर्वोंमें ९००९२ श्लोक हैं। इसमें हरिवंश भी, जो महाभारतका खिल या परिशिष्ट है, जोड़ दिया जाय तो श्लोक-संख्या १०६४६६ हो जाती है। हरिवंशमें एक भविष्यपर्व नामक पर्व है; पंडितोंकी रायमें यह पर्व बहुत बादका प्रक्षिप्त होना चाहिए। अगर इस पर्वके श्लोकोंको छोड़ दिया जाय, तो सम्पूर्ण महाभारत और हरिवंशमें कुल मिलाकर १००१५४ श्लोक होते हैं। यह संख्या एक लाखके बहुत निकट है। बम्बईसे छपे हुए महाभारतमें इससे २०० के करीब श्लोकोंका अन्तर है।

महाभारतकी मूल कहानीमें परिवर्तन

जब कहा जाता है महाभारतकी मूलकथामें परिवर्तन हुआ है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि सचमुच किसीने बैठकर एक खास उद्देश्यको लेकर कहानीको बदला था। शताब्दियों तक महाभारतकी कहानी सूतों (वंदियों) के मुखमें फलती-फूलती रही। संजय भी सूत और लोमहर्षण भी सूत-पुत्र थे। अन्तिम बार वैशम्पायनने जनमेजयको जो कहानी सुनाई, उसमें निश्चयपूर्वक पाण्डवोंकी और श्रीकृष्णकी प्रशंसा थी। वर्तमान महाभारतके श्रीकृष्ण एक अद्भुत व्यक्तित्व रखते हैं। पाण्डवोंकी ओरसे जहाँ कहीं अन्यायाचरण हुआ है, उसके सूत्रधार विचित्र रूपसे वे ही रहे हैं; फिर भी महाभारतमें वे भगवान्‌के अवतार हैं, और उनके द्वारा अनुप्रेरित अन्यायाचरणको भी महाभारतमें उनका अलौकिक चरित्र बताया गया है। जान पड़ता है कि महाभारतने जिन दिनों वर्तमान रूप

धारण किया था, उन दिनों भागवत मतका प्राबल्य था। इस भागवत मतमें श्रीकृष्ण परम दैवतके रूपमें स्वीकार किये गये थे। यह दूसरी बात है कि द्वारकाके राजा श्रीकृष्ण (जो महाभारतमें अपनी कूटनीतिके लिए प्रसिद्ध हैं) और भागवतोंके परम दैवत श्रीकृष्ण मूलतः एक ही व्यक्ति न हों और बादमें चलकर एकमें मिल गये हों; पर इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान महाभारतमें सबसे अद्भुत और सबसे विशिष्ट चरित्र श्रीकृष्णका है। भगवद्गीता जैसी महिमाशालिनी पुस्तकके वे गायक हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें और वेदोंमें भी यत्र तत्र दो झगड़नेवाली क्षत्रिय जातियोंका उल्लेख है: ये हैं कुरु और पांचाल जातियाँ। इससे कुछ पंडितोंने अनुमान किया है कि असली महाभारतकी लड़ाई कुरुओं और पांचालोंकी थी, पाण्डवोंका स्थान उसमें गौण था। यह ध्यान देनेकी बात है कि पाण्डवोंमेंसे कोई भी पाण्डुके अपने पुत्र नहीं थे, सभी कुन्ती या माद्रीके पुत्र थे। हिन्दुओंमें उन दिनों एक स्त्रीके बहुविवाहका एकमात्र उदाहरण इन पाण्डवोंहीके घर पाया जाता है, इसीलिए कुछ वायुविकारग्रस्त आलोचक यहाँ तक कह गये हैं कि पाण्डव वास्तवमें उत्तर-पार्वत्य प्रदेशके अधिवासी थे (जिनमें स्त्रीका बहुविवाह अब भी प्रचलित है) और कुन्तीने वहींसे इनकी आमदनी की थी और अपने पुत्र बताकर दुर्योधनके राज्यका हकदार बनाना चाहा था!

जो कुछ हो, इस बारेमें प्रायः सभी पंडित एकमत हैं कि महाभारतीय कहानीका स्वर बादमें बदल गया है। यही कारण है कि दुर्योधन, कर्ण आदि पुरुषोंके दो दो प्रकारके चरित्र महाभारतमें ही, पास ही पास, लिखे पाये जाते हैं। अभी अभी लिखा मिलता है कि कर्णके समान उदार, बहुश्रुत, वाग्मी और सत्पुरुष दूसरा नहीं था (और समग्र महाभारतके चरित्रोंपर विचार करनेसे सचमुच कर्ण एक अद्वितीय मनुष्य जान पड़ते हैं) और थोड़ी देर बाद ही बताया जाता है कि उसके जैसा दम्भी और अन्यायकारी भी दूसरा नहीं था!

संसारमें महाभारतकी कथाओंकी लोकप्रियता

महाभारतकी मूल कहानीके इर्द-गिर्द बहुत-सी प्राचीन वीर-गाथाएँ, नीति और उपदेशकी कथाएँ, वैराग्य और मोक्षको समझानेवाली कहानियाँ आ जमी हैं। इनमेंसे बहुतेरी बहुत प्राचीन हैं। इन कहानियोंके सभ्य भाषाओंमें अनुवाद

हो चुके हैं। कई कथाएँ एक ही भाषामें तीन तीन चार चार बार अनूदित हुई हैं। शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल, रामचन्द्र, विदुला, सावित्री आदिकी कहानियाँ (उपाख्यान) बहुत लोकप्रिय हुए हैं। इन उपाख्यानोंको पश्चिमी पंडितोंने Epic within Epic या 'महाकाव्यके भीतर महाकाव्य' नाम दिया है। असलमें ये उपाख्यान अपने आपमें पूर्ण हैं और मानवीय मनोविकारोंके बड़े सजीव और सरस चित्र हैं।

ऊपर जिन कहानियोंकी चर्चा की गई है उनके अनुवाद अँगरेजी, जर्मन फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाओंमें बहुत समादृत हुए हैं। सन् १८१६ में एफ० बप्पने नलकी कहानी लैटिन अनुवादके साथ प्रकाशित कराई। श्लिगल जैसे मनीषीने इस कहानीको पढ़कर लिखा था—

'मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि मेरी समझमें करुणा तथा भावनाकी दृष्टिसे और भावोंकी कोमलता तथा विमोहक शक्तिके खयालसे नल-दमयन्तीका उपाख्यान अद्वितीय है। इसकी रचना इस ढंगसे की गई है कि वह सबको आकर्षित करती है : चाहे वह बूढ़ा हो या जवान, उच्च जातीय हो या नीच जातीय, रसज्ञ आलोचक हो अथवा सहज-बुद्धिसे चीज़ोंकी पसन्द करनेवाला हो।'

इसी तरह सावित्री और सत्यवानकी कहानी बाहरकी दुनियामें बहुत लोकप्रिय हो गई है। विण्टरनित्ज़ने इस कथाके बारेमें लिखा है—

'चाहे जिस किसीने सावित्रीके काव्यकी रचना की हो, चाहे वह कोई सूत रहा हो या ब्राह्मण, वह अवश्यमेव सब कालोंका एक सर्वोच्च कवि था। कोई महान् कवि ही इस उत्कृष्ट महिला-चरित्रको इतने मनोमोहक और आकर्षक ढंगसे चित्रित कर सकता था, और शुष्क उपदेशककी मनोवृत्तिमें पड़े बिना भाग्य और मृत्युपर प्रेम तथा पातिव्रत्यकी विजय दिखला सकता था; और प्रतिभाशाली कलाकार ही जादूकी तरह ऐसे आश्चर्यजनक चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित कर सकता था।'

उज्ज्वल चरित्रोंका वन

महाभारतको उज्ज्वल चरित्रोंका वन कहा जा सकता है। यह कवि-रूपी मालीका यत्नपूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नहीं है जिसके प्रत्येक लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्यके लिए बाहरी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह अपने-

आपकी जीवनी शक्तिसे परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओंका अयत्नपरिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है। मूल कथानकमें जितने भी चरित्र हैं वे अपने आपमें ही पूर्ण हैं। भीष्म जैसा तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण जैसा गम्भीर और वदान्य, द्रोण जैसा योद्धा, बलराम जैसा फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोद्दप्त नारियाँ, गान्धारी जैसी पतिपरायणा, श्रीकृष्ण जैसा उपस्थित-बुद्धि और गम्भीर तत्त्वदर्शी, युधिष्ठिर जैसा सत्यपरायण, भीम जैसा मस्तमौला, अर्जुन जैसा वीर, विदुर जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है। मूल कथानकको छोड़ दिया जाय, तो भी महाभारतके वर्णित नल और दमयन्ती, सावित्री और सत्यवान्, कच और देवयानी, ययाति और चित्रांगद आदि चरित्र संसारके साहित्यमें बेजोड़ हैं।

महाभारतका शायद ही कोई उत्तम चरित्र महलोंके भीतर पलकर चमका हो। सबके सब एक तूफानके भीतरसे गुजरे हैं। अपना रास्ता उन्होंने स्वयं बनाया है और अपनी रची हुई विपत्तिकी चिन्तामें वे हँसते हँसते कूद गये हैं। महाभारतका अदनासे अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। किसीके चेहरेपर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती। पाठक महाभारत पढ़ते समय एक जादू-भरे वीरत्वके अरण्यमें प्रवेश करता है जहाँ पद-पदपर विपत्ति है, पर भय नहीं है; जहाँ जीवनकी चेष्टाएँ बार बार असफलताकी चट्टानपर टकराकर चूर चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करनेवाला हतोत्साह नहीं होता; जहाँ ग़लती करनेवाला अपनी ग़लतीपर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेमपर अभिमान करता है और घृणा करनेवाला अपनी घृणाका खुलकर प्रदर्शन करता है। वहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है। महाभारतकी नारी अपने नारीत्वपर अभिमान करती है, पुरुष इस अभिमानकी रक्षाके लिए अपनेको मृत्युके हाथ सौंप देता है। प्राचीन भारतका, उसके समस्त दोष-गुणोंके साथ, ऐसा सुन्दर और सच्चा निदर्शन दूसरा नहीं।

महाभारतका वर्तमान रूप

इस बातका निश्चित प्रमाण पाया गया है कि सन् ईसवीकी ५ वीं शताब्दीमें महाभारत अपने वर्तमान रूपको धारण कर चुका था। सन् ४६३ ई० (या अधिकसे अधिक ५३२ ई०) का एक दान-पत्र पाया गया है जिसमें स्पष्ट लिखा है कि वेदव्यासने महाभारतमें एक लाख श्लोक लिखे थे। महाभारतके सबसे लम्बे शान्ति और अनुशासन पर्व और हरिवंश भी निश्चय ही उस समय

लगभग अपने इसी रूपमें वर्तमान होंगे, क्योंकि विना इन सबको मिलाये महाभारतके श्लोकोंकी संख्या एक लाख नहीं हो सकती। ४५०-५०० ई० के आस पासके ऐसे अनेक दान-पत्र पाये गये हैं जिनमें महाभारतके श्लोक धर्मशास्त्रके विधान मानकर उद्धृत किये गये हैं। उत्तरी बौद्ध-धर्मकी अनेक पुस्तकें, जो मूल संस्कृतमें लुप्त हो गई हैं पर चीनी अनुवादके रूपमें सुरक्षित हैं, इस बातकी प्रमाण हैं कि ३३० ई० के लगभग भारतीय समाजमें महाभारतपर बड़ी श्रद्धा थी। जो ग्रन्थ ई० सन्‌की पाँचवी शताब्दीमें आजका वर्तमान रूप धारण कर गया था और इस प्रकार श्रद्धा और आदरका ग्रन्थ हो चुका था, उसने निश्चय ही कई सौ वर्ष पहले रूप-परिवर्तन करना बन्द कर दिया होगा। इसीलिए पंडितोंका अनुमान है कि कमसे कम आजसे दो हजार वर्ष पहले महाभारतको यह विशाल रूप प्राप्त हो गया होगा।

महाभारतके जितने रूप हैं, उनमें दो मुख्य हैं : उत्तरी रूप और दक्षिणी रूप। इतना निश्चित है कि किसी एक ही मूल रूपके ये दो रूपान्तर अति-प्राचीन कालमें पृथक् हो गये थे। उत्तरी रूपान्तरके कई उपभेद हैं जो मूलतः एक होकर भी कई बातोंमें अपना विशेष रूप रखते हैं। काश्मीरमें उत्तरी रूपान्तर दो उपभेदोंमें बँट गया है : शारदामें लिखा हुआ और देवनागरी लिपिमें लिखा हुआ। पूर्वी प्रान्तोंमें आकर उत्तरी महाभारतने तीन भिन्न भिन्न रूप ग्रहण किये हैं : नेपाली, मैथिली और बंगाली। ये तीनों रूप अपनी अपनी विशेष लिपियोंमें लिखे पाये जाते हैं। युक्तप्रान्त और मध्य-प्रदेशमें उत्तरी महाभारतका एक सामान्य रूप पाया जाता है जिसे पंडितोंने देवनागरी रूपान्तर नाम दिया है। इस प्रकार उत्तरमें आकर महाभारतने छः भिन्न भिन्न रूप धारण किये हैं।

दक्षिणी महाभारतके तीन मुख्य रूप हैं—मलयालम, तेलुगु और ग्रन्थ-लिपिमें लिखा हुआ। तेलुगु और ग्रन्थ लिपियोंके पाठ प्रायः मिलते हैं; पर मलयालमका महाभारत इन दोनोंसे अलग है। किसी किसी पंडितके मतसे यह अन्तिम महाभारत अपने मूल रूपके बहुत निकट है।

महाभारतका काल

स्वभावतः ही यह प्रश्न हो सकता है कि महाभारतका काल क्या है? जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि

आजसे लगभग दो हजार वर्ष पहले महाभारतको वर्तमान रूप प्राप्त हो चला था; परन्तु महाभारतकी अनेक कहानियाँ उतनी ही पुरानी हैं जितने कि स्वयं वेद। महाभारतके कालके सम्बन्धमें नाना विचारोंकी अवतारणाके बाद प्रो० विण्टरनित्ज़ निम्न-लिखित नौ सिद्धान्तोंपर पहुँचे हैं:—

(१) महाभारतकी कितनी ही पौराणिक कहानियाँ, काव्य और वर्णनात्मक कथाएँ वैदिक काल तक पहुँचती हैं। (२) लेकिन वैदिक कालमें 'भारत' या 'महाभारत' नामक किसी काव्यका अस्तित्व नहीं था। (३) नीति-सम्बन्धी कितनी ही सूक्तियाँ और कथाएँ, जो वर्तमान महाभारतके अन्तर्गत संगृहीत हैं, वैराग्य-प्रवण सम्प्रदायों (जैन, बौद्ध आदि) से ग्रहण की गई हैं। इनमेंसे कितनी ही ईसवी सन्‌से पूर्वकी छठी शताब्दी तककी हो सकती हैं। (४) यदि ई० पूर्वकी छठीसे लेकर चौथी शताब्दी तक कोई महाभारत नामक काव्य-ग्रन्थ रहा भी हो, तो यह बौद्धधर्मकी आवास-भूमिमें अपरिचित ही था, क्योंकि बौद्ध-ग्रन्थोंमें इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। (५) ई० पूर्वकी चौथी शताब्दीके पहले महाभारत-काव्यके अस्तित्वका कोई निश्चित प्रमाण नहीं पाया जाता। (६) सन् ई०के पूर्वकी चौथी शताब्दीसे लेकर ई० सन्‌के बादकी चौथी शताब्दी तक महाभारत बनता और संगृहीत होता रहा। सम्भवतः क्रमशः ही इसने वर्तमान रूप धारण किया था। (७) ई० सन्‌की चौथी शताब्दीमें महाभारतने सब मिलाकर यह वर्तमान रूप धारण कर लिया था। (८) बादकी शताब्दियोंमें भी छोटे-मोटे आख्यान और फुटकर श्लोक, कुछ न कुछ, मिलते ही रहे। (९) सारे महाभारतका एक काल नहीं है। काल-निर्णय करते समय इसके प्रत्येक भागका काल-विचार अलग अलगसे होना चाहिए।

३

रामायण और पुराण

महाभारतकी भाँति ही रामायणने भी भारतीय जीवनको बहुत अधिक प्रभावित किया है। परन्तु महाभारत जिस प्रकार अनेक कवियोंकी लेखनीसे लिखे हुए अनेक काव्योंका विराट् विश्वकोष है, उस प्रकार रामायण नहीं है। साराका सारा काव्य प्रायः एक ही हाथका लिखा हुआ है। प्रक्षिप्त अंश इसमें भी है, पर वह महाभारतसे भिन्न जातिका है। विश्वास किया जाता है कि यह वैदिक साहित्यके बाद मानव-कविका लिखा हुआ पहला काव्य है। इसीलिए इसके रचयिता वाल्मीकिको आदि कवि और इसे आदि-काव्य कहते हैं। विद्वानोंकी परीक्षासे भी यह सिद्ध हुआ है कि रामायण सचमुच काव्य (अलंकृत काव्य या ornate poetry) जातिके ग्रंथोंमें सबसे पहला है। वाल्मीकि सचमुच ही एक कवि रहे होंगे, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद नहीं है। यह भी संभव है कि मूलमें इस काव्यका जो रूप रहा हो वह महाभारतसे पूर्ववर्ती हो, परन्तु उसका वर्तमान रूप महाभारतके बादका है। कहते हैं कि संसारके समूचे साहित्यमें इस प्रकार लोकप्रिय काव्यजातीय ग्रंथ नहीं है। समूचा भारतवर्ष एक स्वरसे इसे पवित्र और आदर्श काव्य ग्रंथ मानता है और सम्पूर्ण भारतीय साहित्यका आधा इस महाकाव्यके द्वारा अनुप्राणित है। काव्यके आरम्भमें ही ऐसी भविष्यद्वाणी की गई है जो अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है।

प्रत्येक युगके आचार्य, कवि और नाटककार इस महाग्रन्थसे चालित हुए हैं; कालिदास और भवभूतिकी रचनाओंमें इसका प्रभाव है और चौदहवीं शताब्दीके बादके लोक-साहित्यमें इसका बहुत अधिक प्रभाव विद्यमान है। लोक-जीवनपर भी इसका जबर्दस्त प्रभाव है। लोकप्रिय होनेके कारण इसमें निरन्तर कुछ न कुछ प्रक्षेप होते रहे हैं और इस प्रकार इसका वर्तमान आकार २४०००

श्लोकोंका हुआ है। विद्वानोंका अनुमान है कि मूल काव्यमें राम विष्णुके अवतार नहीं कहे गये होंगे, बादमें चलकर मूल ग्रंथमें इस प्रकारकी बातें प्रक्षेप की गई होंगी। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड निश्चित रूपसे परवर्ती रचनायें हैं। इन्हीं दोनोंमें रामको विष्णुका अवतार बताया गया है। और दूसरेसे छठे काण्ड तक रामचंद्र लौकिक नायककी भाँति अंकित किये गये हैं। ऐसे स्थल बहुत कम हैं (और ये निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं) जहाँ उन्हें विष्णुका अवतार बताया गया हो। कभी कभी बालकाण्डकी घटनाओंके विरुद्ध कही हुई बातें भी अन्य काण्डोंमें मिल जाती हैं। उदाहरणार्थ, बालकाण्डमें रामके साथ ही अन्यान्य भाइयोंकी भी शादी हो गई है, पर आगे चलकर शूर्पणखाके प्रसंगमें रामने बताया है कि लक्ष्मणकी शादी नहीं हुई है। दूसरेसे छठे काण्ड तकमें जो पौराणिक कहानियाँ आती हैं, वे काफी पुरानी हैं।

सारे भारतवर्षमें रामायणके कई रूप मिलते हैं जिनमें परस्पर बड़ा भेद है। कभी कभी कई सर्गके सर्ग एक प्रतिमें अधिक होते हैं और दूसरीमें कम। साधारणतः तीन संस्करण अब तक मुद्रित होकर प्रचारित हुए हैं। अधिक प्रचलित बंबईवाला संस्करण है जो कई बार छप चुका है। बंगाली संस्करण भी कलकत्तेसे कई बार छप चुका है। उत्तरी या काश्मीरी संस्करण हालहीमें लाहौरमें छपने लगा है। लाहौरसे रामायणका विवेचनात्मक संस्करण प्रकाशित करनेका भी प्रयत्न हो रहा है। जैकोबीका कहना है कि सम्पूर्ण भारतवर्षके प्रचलित पाठ-भेदोंको छोड़ देनेसे रामायणका मूल रूप आसानीसे पाया जा सकता है,—अन्ततः उसका खोज निकालना उतना कठिन नहीं है जितना महाभारतका। संभवतः सब छोड़-छाड़कर २४००० श्लोकोंमेंसे केवल एक चौथाई बच रहें।

महाभारतकी ही भाँति रामायणके कालके संबंधमें कुछ भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि महाभारतके वर्तमान रूप प्राप्त होनेके पहले ही रामायणको वर्तमान रूप प्राप्त हो गया था। महाभारतके वन पर्वमें केवल रामायणकी कथा ही नहीं आती, वाल्मीकि कविकी चर्चा, रामका विष्णु अवतार होना आदि बातें भी पाई जाती हैं। कुछ कहानियाँ जिन्हें पंडितमंडली बादकी प्रक्षिप्त माननेमें नहीं हिचकती (जैसे हनुमानका लंकादाह) महाभारतमें पाई जाती हैं। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि रामायणके वर्तमान रूपका ही संक्षिप्त रूप महाभारतमें जोड़ा गया है। जिस प्रसंगमें वह कहानी महाभारतमें कही

गई है, वह भी मूल कथाके साथ कुछ विशेष योग नहीं रखती। द्रौपदीको कोई राक्षस चुरा ले जाता है और युधिष्ठिर दुःखित होते हैं। उन्हींको उत्साहित करनेके लिए रामोपाख्यान सुनाया जाता है। अनुमान किया गया है कि द्रौपदी-हरणकी यह कहानी सीता-हरणके आदर्शपर ही रची गई होगी। महाभारतको वर्तमान रूप चौथी शताब्दीमें प्राप्त हो गया था, रामायण उससे दो-एक शताब्दी पहले ही यह रूप पा गया होगा। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि समूचा रामायण समूचे महाभारतसे पुराना है। असलमें, जैसा कि एक यूरोपियन पंडितने कहा है, भारतीय साहित्यके इतिहासमें यह अद्भुत विरोधाभास है कि रामायण महाभारतसे प्राचीन है और महाभारत रामायणसे प्राचीन। असलमें महाभारतके अनेक उपाख्यान निश्चय ही रामायणसे भी पूर्ववर्ती हैं। इनमेंसे कईकी चर्चा रामायणमें भी आती है, जैसे नल, सावित्री आदिके उपाख्यान। परन्तु संपूर्ण रामायणमें पाण्डवोंकी कहीं चर्चा नहीं मिलती। यह अनुमान किया गया है कि रामका विष्णुरूपमें अवतार माना जाना कृष्णके अवतार माने जानेके बादकी कल्पना है, यद्यपि राम कृष्णके पूर्ववर्ती अवतार हैं। इसके सिवा रामायणमें वर्णित सभ्यता उतनी लड़ाकू नहीं है जितनी महाभारतमें वर्णित सभ्यता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रामायण उत्तरकालीन समाजके कविकी रचना है और महाभारत पूर्वकालीन समाजके।

जिन दिनों त्रिपिटककी रचना (संकलन) हुई थी, उन दिनों रामकी कथा ज़रूर प्रचलित रही होगी। जातक कथाओंमें इसके प्रमाण हैं। पर रामायण काव्य शायद ही रहा हो। सारे बौद्ध साहित्यमें रामायणके दो प्रसिद्ध चरित्र रावण और हनूमानका नाम भी नहीं पाया जाता। इसपरसे किसी किसीने अनुमान किया है कि रामायण काव्य बौद्ध-युगमें नहीं बना होगा। बना भी हो तो बौद्ध प्रदेशोंमें अज्ञात रहा होगा। लेकिन सम्पूर्ण रामायणमें बौद्ध प्रवाह खोजनेपर भी नहीं मिलेगा। केवल एक जगह रामके मुखसे बुद्धको नास्तिक कहलवाया गया है पर वह सभी प्रतियोंमें नहीं पाया जाता और प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुका है। साथ ही इस प्रकार यह भी प्रमाणित होता है कि रामायण बौद्ध-कालके पहले ही रचित हो गया था। अवश्य ही प्रक्षेप बादमें भी होता रहा होगा। पर प्रक्षेप सन् ईसवीकी पहली शताब्दीके बाद रुक गया होगा। खोज करनेपर रामायणकी कथाका बौद्धों और जैनोंमें समादृत होना पाया जा सकता है। वसुबंधुके ग्रन्थोंके जो

चीनी अनुवाद सुरक्षित हैं, उनसे स्पष्ट है कि रामायण (लगभग इसी रूपमें) बौद्धोंमें भी समादृत थी। सन् ईसवीकी पहली शताब्दीमें विमलसूरिने रामायणकी कथाको आश्रय करके 'पउमचरिय' नामक प्राकृत काव्य लिखा था जो जैनधर्म और तत्त्ववादके अनूकुल रचा गया था। ६०० ई० के आसपास कंबोडियामें रामायणका धार्मिक ग्रन्थके रूपमें प्रचार पाया जाता है। कनिष्क-युगीय बौद्ध कवि अश्वघोषके बुद्ध-चरितमें ऐसे अंश हैं जो रामायणसे मिलते जुलते हैं। इन सब बातोंपरसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मूल रामायण बौद्ध-युगके पहलेकी है।

पुराण और उपपुराण

पुराण शब्दका अर्थ है 'पुराना,' इसलिए पुराण ग्रंथोंसे मतलब उन ग्रंथोंसे है जिनमें प्राचीन आख्यायिकायें संगृहीत हों। ब्राह्मणों, उपनिषदों और बौद्ध ग्रंथोंमें यह शब्द कभी कभी इतिहास शब्दके साथ आया है और कभी कभी 'इतिहास' के अर्थमें। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१-५) के अनुसार इतिहासमें पुराण और इतिवृत्त दोनों ही शामिल हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराण इतिवृत्तसे भिन्न वस्तु है। जो हो, पुराणोंने उत्तरकालीन हिन्दूधर्मको एकदम नया रूप दे दिया है और सच पूछा जाय तो सन् ईसवीके बादका हिन्दूधर्म धीरे धीरे पौराणिक होते होते अन्तमें संपूर्ण रूपसे पौराणिक हो गया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय साहित्यमें पुराण-साहित्य कोई नई चीज़ है। गौतम धर्म-सूत्रमें (११-१९) पुराण-साहित्यकी स्पष्ट ही चर्चा है, और आपस्तंबीय धर्मसूत्रमें तो पुराणोंसे कई श्लोक उद्धृत किये गये हैं। एक ऐसा ही श्लोक 'भविष्यत्-पुराण'से उद्धृत किया गया है। इसलिए 'भविष्य-पुराण' जैसे सर्वजन-स्वीकृत आधुनिक पुराण भी कितने प्राचीन हैं, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वर्तमान भविष्य-पुराणमें यह श्लोक नहीं मिलता, पर उससे मिलता जुलता श्लोक खोज निकालना मुश्किल नहीं है। यह तो निर्विवाद है कि कमसे कम पाँचवीं शताब्दी ईस्वीपूर्वके पहले ये धर्मसूत्र बन गये थे, इसलिए इस कालके पहले भी पुराण-जातीय ग्रन्थ रहे होंगे, यद्यपि उनका आकार-प्रकार हू-बहू वही नहीं होगा जो आजके पुराणोंका है। पुराण-ग्रन्थ काफी लोक-प्रचलित रहे हैं, इसलिए उनमें परिवर्तन परिवर्धन भी यथेष्ट हुआ है। परन्तु इसीलिए पुराण-साहित्यकी प्राचीनतापर सन्देह नहीं किया जा सकता। विद्वानोंका अनुमान

है कि इन पुराणोंमें वैदिक कालके पूर्ववर्ती कालका इतिहास भी कहीं कहीं पाया जाता है। महाभारत बननेके पहले पुराण-जातीय ग्रन्थ वर्तमान थे, इस विषयमें अब कोई सन्देह नहीं करता। एक समय ऐसा गया है जब ग्रन्थोंको अप्रामाणिक कहकर उड़ानेकी चेष्टा की गई थी; परन्तु अब इतिहास-अनुरागी उन्हें बहुत अमूल्य निधि मानने लगे हैं। उनमेंकी बेहूदी बातें उत्तरकालीन पण्डितोंकी कृति समझी जाती हैं। असलमें लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहलेसे लेकर आजतक पुराण बहुत अविकसित बुद्धिके लोगोंके हाथमें रहे हैं और फलतः उनमें बेहूदी बातें इतनी अधिक आ चुकी हैं कि पुराणोंका मूल रूप खोज निकालना बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है। पुराणोंके लक्षणमें बताया गया है कि उनमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच बातोंका वर्णन होना चाहिए। पुराणोंकी वंशावलियाँ और उनकी कथायें निश्चय ही बहुत पुरानी हैं। पुराणके कर्ता व्यासजी ही माने जाते हैं।

पुराण नामके ग्रन्थ बहुत हैं। पुराणों और उपपुराणोंकी संख्या सौसे ऊपर होगी। परन्तु सभी बड़े बड़े पुराण अट्ठारह पुराणोंकी चर्चा करते हैं। इनका क्रम यद्यपि सर्वत्र एक-सा नहीं है और कभी कभी यह भी देखा जाता है कि एक सूचीमें एक पुराणका नाम है और दूसरीमें दूसरेका, पर साधारणतः निम्नलिखित अट्ठारह पुराणोंको प्रामाणिक माना जाता है—

१ ब्राह्म, २ पाद्म, ३ वैष्णव, ४ शैव या वायवीय, ५ भागवत, ६ नारदीय, ७ मार्कण्डेय, ८ आग्नेय, ९ भविष्य, १० ब्रह्मवैवर्त, ११ लैंग, १२ वाराह, १३ स्कान्द, १४ वामन, १५ कौर्म, १६ मात्स्य, १७ गारुड, १८ ब्रह्माण्ड।

यह एक मज़ेदार बात है कि यह सूची प्रायः सब पुराणोंमें दी हुई है (देखिए विष्णु ३६, भागवत १२-१३; पद्म० १-६२, वराह० ११२, मत्स्य०, ५३, अग्नि० २७२ इत्यादि)। अर्थात् यह प्रत्येक पुराण स्वीकार करता है कि उसकी रचनाके पहले अन्यान्य पुराण बन चुके थे। इन पुराणोंके सिवा १८ उपपुराण बताये गये हैं, पर असलमें उपपुराणोंकी संख्या और भी अधिक है। पौराणिक कथाओंके अनुसार ब्रह्माने सब पुराणोंको कल्पादिमें पहले ही रचा था, उनसे मुनियोंने सुना और सुनकर भिन्न भिन्न कल्पमें अलग अलग संहितायें लिखीं। इस कल्पके द्वापर युगके अन्तमें कलिकालके अल्पज्ञ मनुष्योंके उपकारार्थ व्यासजीने फिरसे उन वचनोंका संक्षेप करके पुराण-संहितायें लिखीं। विष्णुपुराणके

अनुसार वेदव्यासने आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्प-शुद्धिसहित पुराण-संहिताकी रचना करके उसे सूत लोमहर्षणको समर्पित किया। लोमहर्षणके छः शिष्य थे: सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, अकृतव्रण, शांखायन और सावर्णि। अन्तिम तीन शिष्योंमेंसे प्रत्येकने मूलसंहिताको अवलंबन करके अपनी एक एक संहिता बनाई। इन्हीं चार संहिताओंपरसे सभी पुराण बने हैं। इनमें सबसे आदि पुराण ब्राह्म-पुराण ही है। इस कथासे मालूम होता है कि व्यासजीने सब संहितायें नहीं लिखी थीं। उन्होंने किसी एक मूल संहिताकी कथा अपने शिष्यको सुनाई थी। वहीसे शिष्य-प्रशिष्योंने इन संहिताओंकी अलग अलग रचना की। वस्तुतः पुराणोंकी परीक्षासे इतना तो स्पष्ट ही है कि मूल रूपमें ये काफी पुराने हैं, पर इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता कि अपने वर्तमान रूपमें ये अनेक लोगोंकी नाना उद्देश्योंसे लिखी हुई कथाओंके संग्रह हैं।

पुराणोंके अध्ययनसे कुछ बातें तो स्पष्ट ही आधुनिक जान पड़ती हैं। ब्राह्म पुराणको यद्यपि आदि पुराण कहा जाता है पर उसमें उड़ीसाके तीर्थोंके माहात्म्यका विशेष विवरण है जो निश्चय ही बादका होना चाहिए। साधारणतः सन् ईसवीकी बारहवीं शताब्दी तक इसने वर्तमान रूप धारण कर लिया होगा। पद्मपुराणमें बौद्धों और जैनोंकी बातें हैं और उसके पिछले खंड और भी नये जान पड़ते हैं। विष्णुपुराणमें प्राचीनताके सभी लक्षण विद्यमान हैं। विष्णुके किसी बड़े मंदिर या मठ आदिकी चर्चा इनमें नहीं आती। रामानुजाचार्यने इस पुराणके वचन उद्धृत किये हैं। किसी किसीने अनुमान किया है कि विष्णुपुराणमें उल्लिखित कैलकिल या कैङ्किल यवनोंने आन्ध्रदेशमें ५०० से ९०० ई० तक राज्य किया था, अतः इस पुराणका काल नवीं शताब्दीसे अधिक पुराना नहीं होना चाहिए। पर यह केवल कल्पना ही कल्पना है, किसी ऐतिहासिक प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। वायुपुराण संभवतः पुराने पुराणोंका एक नमूना है। उसमें प्राचीनताके सभी लक्षण विद्यमान हैं। श्रीमद्भागवत समस्त पुराणोंमें अधिक प्रसिद्ध और सारे भारतमें समादृत है। इसमें जो कवित्व है, वह बहुत ही ऊँचे दर्जेका है। रामायण और महाभारतकी भाँति इसने भी भारतीय साहित्यको बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अकेले बंगलामें ही इसके चालीससे अधिक अनुवाद हैं। हिन्दीमें भी इसके दशम-स्कन्धके अनुवादोंकी संख्या इससे कम न होगी। हिन्दीका गौरवभूत काव्य सूरसागर भागवतद्वारा ही प्रभावित है। किसी किसीने यह अफवाह उड़ा रखी है

कि भागवतके कर्त्ता बोपदेव हैं, पर असलमें बोपदेवने भागवतके अनेक वचन संग्रह करके एक निबन्ध ग्रन्थ लिखा था। भागवतपुराण काफी पुराना है। सबसे बड़ी बात यह है कि अन्यान्य पुराणोंकी अपेक्षा यह एक हाथकी रचना अधिक है। इसमें विष्णुके सभी अवतारोंका वर्णन है। विशेष रूपसे श्रीकृष्णावतारकी कथा है। नारदीय और बृहन्नारदीय पुराण बहुत कुछ माहात्म्य ग्रन्थ-से हैं और उत्तर-कालीन रचना जान पड़ते हैं। मार्कण्डेय पुराण भी काफी पुराना है यद्यपि किसी किसीने इसे नवीं दसवीं शताब्दीकी रचना सिद्ध किया है। अग्निपुराण नाना विषयोंका एक विशाल विश्वकोष है। नाना भारतीय विद्यायें, जिनपर लिखे गये स्वतंत्र ग्रन्थ अधिकांश लोप हो गये हैं, इसमें सुरक्षित हैं। भारतीय साहित्यके विद्यार्थियोंके लिए इसका मूल्य बहुत अधिक है। भविष्य और ब्रह्मवैवर्तमें पुराणोंके लक्षण नहीं मिलते। इसी प्रकार लिंग पुराण भी एक कर्म-ग्रन्थ है। वाराहपुराणमें रामानुजाचार्यका उल्लेख है। ये सभी पुराण बहुत पुराने नहीं हैं। सबको अन्तिम रूप तेरहवीं-चौदहवी शताब्दीमें प्राप्त हुआ जान पड़ता है। स्कंदपुराण बहुत बड़ा और नाना दृष्टियोंसे काफी महत्त्वपूर्ण है। वामन, कूर्म, गरुड़ आदिमें पुराणोंके सब लक्षण नहीं मिलते। इस प्रकार सभी पुराण बहुत प्राचीन नहीं हैं।

इन पुराणोंसे संबद्ध बहुतसे माहात्म्य और स्तोत्रोंके ग्रन्थ है। समूचा पुराण-साहित्य बहुत विशाल है। यह वर्तमान हिन्दूधर्मके समझनेका सबसे बड़ा साधन हैं। यद्यपि इनमें परस्परविरोधी और अतिरंजित घटनायें बहुत हैं परन्तु बीच-बीचमें ऐसी अमूल्य साहित्यिक रचनायें हैं, और ऐतिहासिक उपादान हैं कि भारतीय साहित्यका विद्यार्थी कभी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

४

बौद्ध-साहित्य

वैदिक साहित्यकी भाँति बौद्ध साहित्य भारतवर्षके प्रागैतिहासिक युगसे सम्बद्ध नहीं है। इस साहित्यका निर्माण जिन दिनों हुआ था, उस कालको निस्संदिग्ध रूपसे पंडितोंने ऐतिहासिक युग माना है। बुद्धदेवकी मृत्यु ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें हुई थी। लगभग पचास वर्षों तक वे धर्म-प्रचार करते रहे। इस प्रकार उनके धर्म-प्रचारका समय निश्चित रूपसे ईसवी पूर्वकी पाँचवीं शताब्दीका मध्य भाग है। एक श्रेणीके बौद्ध लोगोंका विश्वास है कि लंका, स्याम, ब्रह्मा आदि देशोंमें प्रचलित और पाली भाषामें लिखित जो बौद्ध-ग्रन्थ मिले हैं, उनमेंके प्रधान प्रधान बुद्धदेवके श्रीमुखसे उच्चरित हुए थे। यदि यह विश्वसनीय हो, तो पाली-साहित्यके मुख्य भागका काल आसानीसे ई० पू० पाँचवीं शताब्दीमें मान ले सकते हैं; लेकिन स्वयं बौद्ध-ग्रन्थोंमें ऐसी बातें हैं जो ऐसा विश्वास होने देनेमें बाधक हैं। इतना तो ग्रन्थोंसे स्पष्ट ही है कि बुद्धदेवने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। पाली-साहित्य (वस्तुतः 'पालि-साहित्य') में जो कुछ है वह बुद्धदेवके वचनोंका संग्रह या उसकी व्याख्या है। ग्रन्थोंसे पता चलता है कि ये संग्रह समय-समयपर आहूत बौद्ध संगीतियों या सम्मेलनोंमें बड़े-बड़े आचार्योंके निर्णयानुसार संगृहीत हुए थे। पाली-ग्रन्थोंमें कुल मिलाकर ऐसी नौ संगीतियोंका उल्लेख है। इनमेंसे जिन कई मुख्य संगीतियोंका आलोच्य विषयके साथ बहुत अधिक सम्बन्ध है, उन्हींकी चर्चा यहाँ की जायगी।

प्रथम संगीति बुद्धदेवके महानिर्वाणके कुछ ही दिनों बाद राजगह (राजगृह) में स्थविर महाकाश्यपके उद्योगसे हुई थी। उसका उद्देश्य धर्म और विनयका संस्थापन था। इस संगीतिका सबसे प्राचीन विवरण चुल्लवग्ग (जिसकी चर्चा

आगे की जायगी) में पाया जाता है। चुल्लवग्ग स्वयं ही विनय-पिटकका एक अङ्ग है, इसलिए इतना तो निर्विवाद है ही कि समूचा विनय-पिटक सम्पूर्णतः इस संगीतिकी पूर्ववर्ती बातोंका ही संग्रह नहीं है। जिस बातमें सबसे कम आपत्तिकी गुञ्जाइश है, वह यह है कि धम्म और विनय-पिटकके प्राचीनतम भाग इसी संगीतिमें निर्धारित हुए होंगे, और यदि बुद्धदेवने सचमुच पाली-भाषामें ही उपदेश दिया था (जिसमें बहुतसे पंडित अब संदेह करने लगे हैं) तो मानना पड़ेगा कि हमारे पास बहुत कुछ बुद्धदेवके ज्योंके त्यों कहे हुए वचन भी प्राप्त हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण संगीति बुद्ध-निर्वाणके सौ वर्ष बाद वेसाली (वैशाली) में हुई थी। इसका भी सबसे प्राचीन विवरण चुल्लवग्गमें ही मिलता है; पर इसमें यह नहीं लिखा है कि यह संगीति बुद्ध-निर्वाणके सौ वर्ष बाद हुई थी। बादके ग्रन्थों (दीपवंश और महावंश) के अनुसार इस संगीतिका उक्त समय बताया गया है। प्रथम संगीतिमें धम्म और विनयका संकलन हुआ था पर इसमें छोटे छोटे नियमोंका [illegible] कि वैशालीके भिक्षुओंने दस प्राचीन नियमोंका अपव्यवहार किया जिसे 'पाली' [illegible] संशोधनमें इस संगीतिको अधिक समय लगा। दीपवंश और महावंशके अनुसार यह संगीति आठ महीने तक चलती रही। ऊपर उल्लिखित दस नियमोंके अतिरिक्त धर्म और विनयकी आवृत्ति भी इस संगीतिमें हुई थी। पंडितोंका अनुमान है कि इस समय तक निश्चित रूपसे विनय और धम्म-पिटकका कोई न कोई आकार रहा होगा, क्योंकि दस नियमोंके विचारार्थ विनय और धम्मके पूर्व-निर्णीत नियमोंकी ज़रूरत रही होगी और यह ज़रूरत किसी नियम-संग्रहसे ही पूरी की गई होगी। उदाहरणार्थ वैशालीके भिक्षुओंने नियम किया था कि जहाँ नमकका अभाव होनेकी सम्भावना हो, वहाँ उसे भी भिक्षु लोग सींगोंमें भरकर ले जा सकते हैं। अब इस बातके औचित्यके निर्णयके लिए किसी पूर्व-निर्णीत विधि-निषेधकी आवश्यकता होनी चाहिए। (श्रावस्तीमें कथित सुत्तविभंगके अनुसार यह बात नियम-विरुद्ध है।) बुद्धदेवने सारिपुत्रको ऐसा करनेसे मना किया था। इस प्रकार उस समय तक कुछ ग्रन्थ (भले ही वे मौखिक हों) जरूर बन चुके थे। तीसरी संगीति, जो वृजिपुत्र भिक्षुओंके उद्योगसे आहूत हुई थी, हमारे विषयसे उतनी सम्बद्ध नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण संगीति चौथी है जिसे अशोक-संगीति भी कहते हैं। लंकामें प्राप्त परम्पराके अनुसार यही तीसरी संगीति है। [illegible] गया है कि जब अशोकने बौद्ध-धर्मपर अपनी आस्था प्रकट की तो

बहुत-से अन्य सम्प्रदायके लोग भी बौद्ध-संघमें आ घुसे और अपना अपना राग अलापने लगे। तंग आकर सम्राट्ने तिस्स मोग्गलिपुत्तको बुलवाया जिन्होंने सम्राट्को वास्तविक रहस्य समझाया। तब राजाने एक एक बौद्ध-भिक्षुको बुलाकर उसके मतके विषयमें पूछा। कहा गया है कि जो लोग विभाज्यवादी (विभज्जवादी) थे उन्हींको तिस्सने असली बौद्ध माना और बाकीको श्वेत वस्त्र पहनवाकर निकाल बाहर किया। इन्हीं तिस्स (तिष्य) ने चुने हुए एक हजार भिक्षुओंकी सभा बुलाई जो नौ महीनेकी निरंतर आलोचनाके बाद तीन पिटकों या पिटारोंका संग्रह करनेमें समर्थ हुई। ये तीन पिटक ये हैं; विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक। संक्षेपमें इन्हें त्रिपिटक कहते हैं। अन्तिम पिटकका एक एक अंग कथावत्थु तिष्यका रचित बताया जाता है। लक्ष्य करनेकी बात यह है कि स्थविरवादियोंके सम्प्रदायको छोड़कर और किसी सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें इस संगीतिका उल्लेख नहीं मिलता। अशोककी प्रशस्तियोंमें भी इसकी चर्चा नहीं है यद्यपि सारनाथ, साँची और कौशाम्बीकी स्तम्भ-लिपियोंमें अशोकने अनाचारपरायण भिक्षुओंको श्वेत वस्[illegible] [illegible]वाकर [illegible]ाल देनेका जो आदेश दिया है, उसके साथ इसका सामंजस्य स्था[illegible] [illegible] सकता है। इस प्रकार ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दीमें इन ग्रन्थोंका संगृहीत होना सिद्ध होता है। पंडितोंने तीन पिटकोंमेंसे ही यह बात सिद्ध करनेकी कोशिश की है कि अशोकके बहुत बाद तक भी इनमें बहुत-सी बातें जोड़ी, बदली और सुधारी जाती रहीं। फिर भी इतना मान लेनेमें किसीको भी कोई आपत्ति नहीं कि ईसा मसीहके जन्मके दो सौ वर्ष पहले इन पिटकोंके मुख्य भाग निश्चय ही संगृहीत हो गये थे, यद्यपि इनके वर्तमान रूपोंमें जो भाषा पाई जाती है, व[illegible] या अशोकके युगकी भाषा नहीं हो सकती। पिटकोंसे ही पता चल[illegible] [illegible] कि अशोकके पहले ही बुद्ध-वचनोंका भाषान्तर करना शुरू कर दिया [illegible]तयों। किसी किसीने तो संस्कृतमें भी अनुवाद किया था जिसका स्वयं बुद्धदे[illegible] [illegible] किया था। इस प्रकार पिटकोंमें जो भाषा सुरक्षित है, उसकी विशुद्धता सन्देहसे परे नहीं है।

ऊपर जो विवरण दिया गया है वह पाली-साहित्यका है। इसीको एकम[illegible] बौद्ध-साहित्य मान लेना ठीक नहीं। जैसा कि ऊपर बताये हुए अशोक-संगी[illegible] विवरणसे स्पष्ट है, यह केवल एक सम्प्रदायका संग्रह है। यह भी नहीं क[illegible]

सकता कि यही बौद्धोंका प्राचीनतम साहित्य है। चीनी तुर्किस्तानमें पाये गये कुछ संस्कृत ग्रन्थोंने पंडितोंको यह सोचनेको बाध्य किया है कि पाली और संस्कृत दोनों ही किसी एक ही सामान्य भाषासे संगृहीत ग्रन्थोंके रूपान्तर हो सकते हैं। जो बात निस्संकोच कही जा सकती है वह यह है कि अन्यान्य सम्प्रदायके प्रामाणिक प्राचीन संग्रहोंके अभावमें यही संग्रह (पालीवाला) हमारे लिए बुद्ध-धर्मके मूल रूपको समझनेमें सर्वाधिक सहायक है। इनके अतिरिक्त संस्कृत और अर्द्ध-संस्कृतमें लिखे हुए अनेकानेक बौद्ध-ग्रन्थ पाये गये हैं और अब भी खोजकर निकाले जा रहे हैं। इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थोंके अनुवाद चीनी, तिब्बती और मंगोलियन भाषाओंमें सुरक्षित हैं। सच पूछा जाय तो ये अनुवाद ही बौद्धसंस्कृत-ग्रन्थोंकी जानकारीके प्रधान सहायक हैं। इनकी चर्चा हम इसी प्रबन्धमें यथास्थान करेंगे।

पाली-साहित्य

हिन्दीमें हम जिसे 'पाली' लिखा करते हैं वह मूल शब्द 'पालि' है जो पंक्तिका वाचक है। बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार समग्र बौद्ध-साहित्य दो भागोंमें विभक्त है—(१) पालि या पिटक; (२) अनुपालि या अनुपिटक। इसके अनुसार पालि बुद्ध-वचनयुक्त त्रिपिटकको कहते हैं, और अनुपालिमें वह समग्र साहित्य है जो है तो पिटकके बाहर, पर जिसका आधार या उपजीव्य त्रिपिटक ही हैं। इसमें अर्थकथा, आचार्यवाद, कोष, संग्रह, वंश, टीका-अनुटीका, व्याकरण, दीपिका, ग्रंथि इत्यादि सम्मिलित हैं। इनमें त्रिपिटक ही प्रधान हैं। इनमें बुद्धदेवके मूल वचन संगृहीत माने जाते हैं। बुद्ध-वचनोंके छः प्रकारके विभाग किये गये हैं। श्री बेनीमाधव बाडुया महाशयने ये विभाग इस प्रकार गिनाये हैं:—

(१) उपदेश और आदेशके अनुसार बुद्ध-वचन दो प्रकारके हैं: धर्म और विनय। (२) काल पर्याय-क्रमसे तीन प्रकारके हैं: प्रथम (बुद्धत्व प्राप्तिके पश्चात् पहले पहल निकले हुए वाक्य), अन्तिम (मृत्यु-समयके उपदेश) और मध्यम (अर्थात् इन दोनोंके बीच समस्त जीवनके दिये हुए उपदेश)। (३) पिटकके अनुसार तीन प्रकार: सुत्त (सूत्र), विनय और अभिधम्म (अभिधर्म्म) है। (४) निकाय या आगमके अनुसार पाँच प्रकार: दीघनिकाय

या दीघागम (दीर्घागम), मज्झिम-निकाय (मध्यमागम), संयुत्तनिकाय (संयुक्तागम), अंगुत्तरनिकाय (एकोत्तरागम), खुद्दकनिकाय (क्षुद्रकागम) । (५) अङ्ग या श्रेणीके अनुसार नौ प्रकार—सुत्त (सूत्र), गेय्य (गेय), वय्याकरण (व्याकरण), गाथा, उदान, इतिवुत्तक (इत्युक्तक), अब्भुतधम्म (अद्भुतधर्म), वेदल्ल (वेदल्य) । (६) पाठ या परिच्छेद-गणनाके अनुसार ८४,००० धम्मखन्ध या धर्मस्कन्ध ।

त्रिपिटक

पंडितोंने विचार करके देखा है कि जब तक बुद्धदेवका धर्म लोकव्यापी नहीं हुआ था, तब तक वे धर्मके विषयमें ही चिन्ता करते रहे । धीरे धीरे उनका धर्म जब फैल गया और बहुतसे शिष्य उनके निकट एकत्र हो गये, तो उन्होंने उनमें नियमके प्रति एक अनास्थाका भाव लक्ष्य किया, और वे धर्म और विनय (discipline) दोनोंपर ज़ोर देने लगे । इसके बाद उन्होंने अकेले धर्म शब्दका व्यवहार कभी नहीं किया । भिक्षुओंको भी धर्म और विनय दोनोंका प्रचार करनेको कहते रहे । प्रथम संगीतिके विवरणमें कहा गया है कि महा-काश्यपने भिक्षुसंघसे पूछा कि धर्म और विनयमेंसे पहले किसका पाठ होगा, तो भिक्षुओंने कहा था कि विनय ही बुद्धशासनकी आयु है, विनयके अभावमें बुद्ध शासन टिकेगा नहीं । इस प्रकार बुद्धके निर्वाणके बाद ही भिक्षुसंघमें विनयकी जबरदस्त प्रतिष्ठा हो गई थी । प्रथम संगीतिमें धर्म और विनयकी ही चर्चा हुई थी; किन्तु बुद्धकी मृत्युके बहुत बाद उनके अनुभवी शिष्योंने धर्मके अंश-विशेष (अर्थात् दार्शनिक चिन्ताके अनुकूल विषयों) का अवलम्बन करके एक नये साहित्यका उद्भावन किया । इसका नाम रखा गया अभिधम्म (अभिधर्म) । बुद्ध-वचनोंके जो अंश 'धर्म' नामसे प्रचलित थे, उन्हींको सूत्र या सूत्रान्त नाम दिया गया । जिसे बुद्धदेवने विनय नाम दिया था, वह उसी नामसे प्रचलित हुआ । अशोक संगीतिके अवसरपर ये तीनों भाग तीन पृथक् पृथक् नामोंसे संकलित हुए । प्रत्येकको एक-एक पिटक या पिटारा कहा गया । इन्हीं तीनोंको त्रिपिटक कहते हैं । इन्हीं तीन पिटारोंमें बुद्धदेवके अमूल्य विचार सुरक्षित हैं । शीलसम्बन्धी शिक्षा विनयमें, चित्तविषयक उपदेश सूत्रमें और प्रज्ञा-सम्बन्धी शिक्षाएँ अभिधर्ममें सुरक्षित हैं ।

विनय-पिटक

विनय-पिटकमें ये ग्रन्थ सम्मिलित हैं:—

१ पाराजिक कण्ड } विभंग
२ पाचित्तिय कण्ड }
३ महावग्ग } खन्धक
४ चुल्लवग्ग }
५ परिवार

किसी किसी पंडितने इसीमें भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुनी पातिमोक्ख (या एक शब्दमें उभयानि पातिमोक्खानि) को इस पिटकके अन्तर्गत माना है; पर ऐसा माननेका कोई कारण नहीं, क्योंकि ये दोनों पातिमोक्ख या प्रतिमोक्ष असलमें दोनों विभागोंहीके अन्तर्गत हैं। प्रतिमोक्षोंमें जो नियम दिये गये हैं, विभंगोंमें हू-बहू वही दिये गये हैं। विशेषता यह है कि इन घटनाओंका विवरण भी विभगोंमें दिया गया है जिनके कारण वे नियम बनाये गये थे। इस प्रकार या तो प्रतिमोक्षहीका घटना-विवरण बढ़ाकर विभंग बनाया गया है, या विभंगका ही संक्षिप्त रूप प्रतिमोक्ष है। दूसरा पक्ष ही विद्वानोंको अधिक मान्य है। विभंग शब्दका अर्थ ही है चूर्ण करके बनाये हुए नियम, अर्थात् जो नियम पातिमोक्षोंमें ठोस भावसे गुँथे हुए थे, उन्हें तोड़-तोड़कर घटनापुरस्सर सम्पादित करके विभंगोंमें सरल और बोधगम्य बनाया गया है। फिर भी पण्डितोंने जो इन पातिमोक्खोंको अलग ग्रन्थ माना है वह नितान्त उपेक्षणीय भी नहीं है, क्योंकि स्थान-स्थानपर प्रतिमोक्षोंके साथ विभंगोंका थोड़ा-बहुत अन्तर भी मिल जाया करता है। जो बात निस्संकोच मानी जा सकती है, वह यह है कि दोनों विभंग असलमें पातिमोक्खोंके एक प्रकारके सटीक संस्करण ही हैं। हर अमावस्या और पूर्णिमाको भिक्षु लोग एकत्र होकर पातिमोक्खोंका पाठ किया करते थे। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें प्रधान पूछा करते थे कि भिक्षुओंमेंसे किसीने उक्त अध्यायमें वर्णित कोई अपराध किया है या नहीं, और भिक्षुगण ईमानदारीके साथ अपने अपने पाप स्वीकार किया करते थे। इसीको उपोसथ कहा करते थे। पण्डितोंका अनुमान है कि मूल बौद्धधर्मके आदि-ग्रन्थोंमें पातिमोक्ख जरूर रहा होगा क्योंकि सौभाग्यवश प्रतिमोक्षका एक संस्कृत, एक तिब्बती और कमसे कम चार चीनी अनुवाद अब तक पाये जा चुके हैं जो

पाली-भाषावाले पातिमोक्खसे बहुत कुछ मिलते हैं। वर्तमान पातिमोक्खमें २२७ नियम हैं, जिनमें १५२ निश्चय ही प्राचीन होंगे।

महावग्ग और चुल्लवग्गको खन्धक (स्कन्धक) कहते हैं। असलमें ये भी सुत्त-विभंगकी भाँति मर्यादा पालनेके लिए ही लिखित हुए थे। इनमें संघकी व्यवस्थाके नियम हैं। विभंगोंमें बताया गया है कि भिक्खु कैसे रहेगा, कैसे खायेगा, कैसे हँसेगा, कैसे चीवर धारण करेगा, क्या सोचेगा और क्या नहीं सोचेगा इत्यादि। खन्धकोंमें संघके नियम, उपोसथोंमें भाग लेनेके नियम, वर्षावासके नियम, पादुकाधारण, रथारोहण, और वस्त्रोंके व्यवहारके विधि-निषेधोंका विवरण है। चुल्लवग्गके प्रथम नौ वर्गोंमें संघके भीतर छोटे-मोटे मर्यादाभंगजन्य अपराधोंका प्रतिविधान है। इनमें भिक्षुओंके आपसी झगड़े, उनके एक दूसरेके प्रति कैसे व्यवहार होने चाहिए आदि बातें बताई गई हैं। दसवें वर्गमें भिक्षुणियोंके नियम बताये गये हैं।

पातिमोक्खोंमें एक काफी जटिल भिक्षु-समाजका परिचय मिलता है, और खन्धकोंमें आकर वह समाज और भी जटिलतर हो गया है। छोटीसे छोटी बातका भी विचार किया गया है। भिक्षुको नियमानुसार भिक्षापर ही निर्भर रहना चाहिए; पर साथ ही वह बड़े बड़े रईसोंका निमन्त्रण भी स्वीकार कर सकता है।[1]

---

१ मेरा यह वक्तव्य अगस्त १९३९ के विशालभारतमें प्रकाशित हुआ था। उसपर आलोचना करते हुए बौद्धशास्त्रोंके विशेषज्ञ श्री भदन्त आनंद कौसल्यायनने नवंबर १९३९ के विशाल भारतमें एक नोट लिखा था। उक्त विद्वान्‌का कहना है कि "इस अंशमें (पातिमोक्खों और खंधकोंमें वर्णित जटिल भिक्षुसमाजके उपपादक वाक्योंमें) द्विवेदीजीकी लेखनी उतनी जिम्मेदार नहीं रही। क्या हम जान सकते हैं कि पातिमोक्खका कौन-सा नियम है जिसका अर्थ पंडितजीने 'भिक्षापर ही निर्भर रहना चाहिए' किया है; और वह कौन-सा दूसरा नियम है जिसका अर्थ पंडितजीने 'बड़े बड़े रईसोंके निमंत्रण भी स्वीकार कर सकता है' किया है?" भदन्त आनंद जैसे पंडितने इसकी सफाई माँगी है, इस लिए अपनी बात समझा देना मेरा कर्तव्य हो जाता है। वस्तुतः भदन्तजीने जल्दीमें इस अंशको पढ़ा है। ऊपरके पैराग्राफसे स्पष्ट है कि मैंने जो यह लिखा था कि "भिक्षुको भिक्षापर ही निर्भर करना चाहिए" इत्यादि, उसका संबंध प्रतिमोक्षोंसे नहीं बल्कि खन्धकों (महावग्ग और चुल्लवग्ग) से है। महावग्गमें (१।३०।४) स्पष्ट ही लिखा है कि बुद्धदेवने चार निश्रयोंकी

उसे इधर उधरसे बटोरकर सी हुई कन्था धारण करनी चाहिए; पर यह कन्था रेशमी या ऊनी वस्त्रोंकी भी हो सकती है। उसे मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसक होना चाहिए; पर वह मछली भी खा सकता है, बशर्ते कि उसके लिए न मारी गई हो। इसी लिए विंटरनित्ज़का विचार है कि इस प्रकार दो कोटियों-पर गये हुए नियमोंके बननेमें निश्चय ही सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। और इसी लिए एक प्रकारके पंडित हैं जो इन पुस्तकोंमें आये हुए बुद्धदेवके संवादोंको बहुत महत्त्व नहीं देते; पर दूसरे ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि ये नियम बहुत कुछ बुद्ध-पूर्व सन्यासी-सम्प्रदायोंसे लिए गये होंगे, और इस तरह काफी प्राचीन हो सकते है। इसमें सन्देह नहीं कि महावग्गकी नई कहानियाँ (विशेषकर जो शुरूमें आई हैं) काफ़ी प्राचीन हैं; पर इन खन्धकोंके भीतर ऐसी बातें हैं जिनसे सिद्ध होता हैं कि इनका संकलन प्रतिमोक्षोंके बहुत बाद हुआ है। विनय-पिटकके इन ग्रन्थोंका ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे बहुत मेल है, और पण्डितोंने वैदिक सूत्रग्रन्थोंके नियमोंके साथ इन नियमोंका मनोरंजक साम्य दिखाया है।

परिवारका अर्थ है परिशिष्ट। असलमें यह बहुत बादका बना हुआ ग्रन्थ है। सम्भवतः किसी सिंहली भिक्षुने इसे लिखकर विनय-पिटकमें जोड़ दिया है। इसमें अनुक्रमणिका परिशिष्ट आदि हैं; यह बहुत कुछ वेद और वेदांग ग्रन्थोंके

व्यवस्था की थी जिनमें पहला यह है—'यह प्रव्रज्या भिक्षा माँगे भोजनके निश्रयसे है, इसके (पालनमें) जिंदगीभर तुझे उद्योग करना चाहिए। हाँ (यह) अधिक लाभ भी (तेरे लिए विहित है)—संघ भोज, (तेरे) उद्देश्यसे बना भोजन, निमंत्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक (भोज), उपोसथके दिनका (भोज), प्रतिपद्का भोज।" (—राहुलसांकृत्यायनका अनुवाद)। जब बुद्धदेवको यह नियम करते हुए बताया गया है, उस समयका प्रसंग यह है कि "उस समय राजगृहमें उत्तम भोजोंका सिलसिला चल रहा था। तब एक ब्राह्मणके मनमें ऐसा हुआ—यह शाक्यपुत्रीय (=बौद्ध) श्रमण (=साधु), शील और आचारमें आरामसे रहनेवाले हैं, सुंदर भोजन करके शान्त शय्याओंमें सोते हैं; क्यों न मैं भी शाक्यपुत्रीय साधुओंमें साधु बनूँ!" इत्यादि (अनुवाद, राहुलसांकृत्यायन)। प्रसंगसे स्पष्ट है कि ये उत्तम भोज रईसोंके ही निमंत्रणमें होते होंगे। इसलिए मेरा यह कहना कि "भिक्षुको नियमानुसार भिक्षापर ही निर्भर रहना चहिए, साथ ही वह बड़े बड़े रईसोंका निमंत्रण भी स्वीकार कर सकता है" भित्तहीन नहीं है। मैं समझता हूँ, आदरणीय भदन्त आनंद इस सफाईसे सन्तुष्ट हो जायँगे।

अनुक्रमणी और परिशिष्ट आदिकी जातिका है, और प्रश्न तथा उत्तरके रूपमें लिखित है।

सुत्त-पिटक

जिस प्रकार विनय-पिटकसे हम बौद्ध संघ और भिक्षुओंके दैनंदिन आचार-व्यवहारोंको समझ सकते हैं, उसी प्रकार सुत्त-पिटकसे हम बौद्ध धर्मको समझते हैं। इस पिटकमें पञ्च निकाय (समूह) या आगम हैं—दीघनिकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। प्रथम चार निकाय सूत्रोंके संग्रह हैं। दीघनिकायमें बड़े बड़े सूत्र, मज्झिममें मध्यम मानके सूत्र, संयुत्तनिकायमें संयुक्त विषयोंके सूत्र और अंगुत्तरनिकायमें एक दो आदि संख्याओंके सूत्र हैं।

सूत्र किसे कहते हैं, इस विषयमें अर्थकथाओंने अनेक अर्थ दिये हैं; सुत्त उसे कहते हैं जो सूचना दे, जो सुष्ठु भावसे कहा गया हो, जो सवन-(या फलप्रसव-) कारी हो, सूदन यानी गायके थनसे दूधकी तरह अर्थ जिससे निःसृत हो रहा हो, जो सुत्राण करे, बढ़ईके सूत्रोंकी तरह विज्ञोंका माप करे इत्यादि। निकायोंमें या तो बुद्धदेवके (कभी कभी उनके किसी प्रधान शिष्यके) उपदेशोंकी बात है, या फिर इतिहास-संवादके रूपमें बातचीत। इस प्रकार बड़ी सरलताके साथ प्रश्नोत्तर-छलसे भगवान् बुद्ध गूढ़से गूढ़ विषयोंको समझा देते हैं। निकाय शब्दके लिए पालीमें आगम शब्द भी प्रचलित है; पर संस्कृतमें जो निकाय थे, उन्हें आगम ही कहा जाता है। संभवतः निकाय स्थविरवादियोंका शब्द है। दिव्यावदानमें चार आगमोंका स्पष्ट उल्लेख है: दीर्घ, मध्यम, संयुक्त और एकोत्तर। पाँचवें क्षुद्रकका कोई उल्लेख न देखकर किसी किसी पण्डितने सन्देह किया था कि यह निकाय बादका है। दिव्यावदान सर्वास्तिवादका ग्रन्थ है, और लेवी साहबने सिद्ध किया है कि इस सम्प्रदायके पास भी क्षुद्रकनिकाय नामक आगम वर्तमान था। बुद्धघोष नामक प्रसिद्ध भाष्यकारने सुदिन्न नामक एक भिक्षुका मत उद्धृत किया है जिससे जान पड़ता है कि प्राचीन कालमें कोई कोई ऐसे भिक्षु थे जो क्षुद्रकनिकायको सूत्रपिटकके अंतर्गत नहीं मानना चाहते थे। दो बौद्ध सम्प्रदायोंमें क्षुद्रक निकायके ग्रन्थोंकी दो प्रकारकी सूची दी हुई है, दीघमाणकोंके मतसे १२ और मज्झिममाणकोंके मतसे १५। अन्तिम मतको ही प्रमाण समझकर बुद्धघोषने निम्न-लिखित पंद्रह ग्रन्थोंकी सूची दी है—(१)

खुद्दकपाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इत्तिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) निद्देश, (१२) पटिसंभिदा, (१३) अभिधान, (१४) बुद्ध-वंस, (१५) चरियापिटक । अन्तिम तीन ग्रन्थ मज्झिममाणकोंने दीघमाणकोंसे अधिक स्वीकार किये हैं । यह एक विशाल साहित्य है, और इसकी रचना सैकड़ों वर्षों तक होती रही है । हम स्थानाभावके कारण उसका विशेष वर्णन देनेमें असमर्थ हैं ।

अभिधम्म-पिटक

जैसा कि पहले ही बताया गया है, अभिधम्म-पिटक बुद्धदेवके बहुत बाद संग्रह किये गये थे । सुत्त-पिटककी प्रतिपाद्य वस्तुसे कोई नवीनता इसमें नहीं है । दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि सुत्त-पिटक सरल, सरस और सहज बौद्ध सिद्धान्तोंका संग्रह है और अभिधम्ममें पण्डिताऊपन, रूक्षता और वर्गीकरणकी अधिकता है । फिर भी बौद्ध दर्शन, बौद्ध परिभाषा आदिके समझनेमें यह पिटक बहुत ही उपयोगी है । महाबोधिवंशकी तालिकाके अनुसार निम्न-लिखित ग्रन्थ अभि-धम्म-पिटकके अन्तर्गत हैं—धम्मसंगणि, विभंग, कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातु-कथा, यमक, पट्ठान या महापट्ठान ।

अनुपालि या अनुपिटक ग्रन्थ

अनुपालि या अनुपिटक ग्रन्थ त्रिपिटकके आधारपर ही रचित हैं । इनमें अधि-कांश लंकाके भिक्षुओंके लिखे हैं । कुछ अपवाद भी हैं । जो अनुपालि ग्रन्थ लंकामें नहीं लिखे गये, उनमें सबसे प्रसिद्ध है मिलिन्दपण्हो या मिलिन्द प्रश्न । ग्रीक राजा मीनाण्डर और बौद्ध सन्यासी नागसेनके बीच जो तत्त्वचर्चा हुई थी, उसीका यह लिपिबद्ध रूप है । यह ग्रन्थ मीनाण्डरके राज्यकालके ही आसपास रचित हुआ होगा । इसकी प्रतिष्ठा हीन-यान और महा-यान दोनों सम्प्रदायोंमें है, और बौद्ध लोगोंमें यह त्रिपिटकके समान ही समादृत होता है । विद्वानोंने इसके वार्तालापको दीघनिकाय आदि ग्रन्थोंसे अधिक परिमार्जित बताया है । संसारके वार्तालाप-साहित्यमें इस ग्रन्थका बहुत ही श्रेष्ठ स्थान है । दूसरा ग्रन्थ जो भारत-वर्षमें लिखा गया था वह है नेत्तिप्रकरण जिसे नेत्तिगंध या नेत्ति भी कहते हैं । इसमें बुद्धदेवकी शिक्षाओंका क्रमबद्ध विवरण दिया हुआ है । कहते हैं कि अभिधम्म

पिटकके अन्तिम दो ग्रन्थोंसे भी यह अधिक प्राचीन है, और इसके कर्त्ता बुद्ध-देवके शिष्य महाकच्चायन हैं जो पेटकोपदेसके भी रचयिता माने जाते हैं।

लेकिन ऐसा विश्वास किया जाता है कि अनुपिटक ग्रन्थोंमेंका आधिकांश लंकामें ही रचित हुआ था। लंकाके भिक्षुओंके निकट हम बुद्ध-वचनोंके अपेक्षा-कृत विश्वसनीय संकलनोंको सुरक्षित रखनेके लिए ही ऋणी नहीं हैं, बल्कि इन भिक्षुओंके उन समस्त प्रयत्नोंके लिए भी, जो उन्होंने उक्त साहित्यको बोधगम्य और समृद्ध बनानेके लिए किया है, हम सदा ऋणी रहेंगे। इन प्रयत्नोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है बुद्धघोषकी अट्ठकथाएँ (या भाष्य)। सिंहली परम्पराके अनुसार अर्थकथाएँ (पा०-अट्ठकथा=भाष्य) भी प्रथम संगीति-कालसे ही चली आ रही हैं, जिन्हें महिन्दने वट्टगामणीके तत्त्वावधानमें सिंहली भाषामें अनूदित किया था। इसी अनुवादको बुद्धघोषने पाँचवीं शताब्दीमें पालीमें भाषान्तरित किया। पंडितोंका विचार है कि असलमें यह परम्परा भारतीय प्रकृतिकी देन है, जो किसी वस्तुको तब तक प्रामाण्य नहीं मानती, जब तक कि प्राचीन परम्पराके साथ उसका योग न साबित हो जाय, और बुद्धघोष वास्तवमें इन अर्थकथाओंके कर्त्ता हैं। पर इस विषयमें कोई सन्देह नहीं करता कि बुद्धघोषको निश्चय ही सिंहली रूपमें कुछ भारतीय भिक्षुओंकी व्याख्याएँ मिली थीं जो उनके भाष्यका मेरुदण्ड हैं। इन्हीं प्राचीनोंको बुद्धघोषने 'पौराणाः' (प्राचीन लोग) कहकर उद्धृत किया है। सिंहली अनुवादमें मूल पाली पद्य ज्योंके त्यों रखे गये थे। भारतवर्षमें ज्यों ज्यों स्थविरवाद अन्यान्य सम्प्रदायों द्वारा अभिभूत होता गया, त्यों त्यों लंकामें उसका केन्द्र दृढ़ होता गया। *

लंकामें जो नई चीज़ें लिखी गईं, उनमें सबसे पहले निदान-कथाका नाम लिया जाना चाहिए। यह बुद्धदेवका जीवन-चरित है और जातककी टीका 'जातक-त्थवण्णना' के आरम्भमें है। इसमें बुद्धदेवका जो जीवनवृत्त दिया हुआ है वह महायान सम्प्रदायके संस्कृत-ग्रन्थोंसे मिलता है, अतः यह माना जाता है कि इसका भी आधार निश्चय ही कोई भारतीय कहानी रही होगी, जो उस समय लंकामें पहुँची होगी, जब महायान सम्प्रदाय संगठित हो रहा होगा, या फिर दोनों जीवनवृत्तोंका कोई एक ही सामान्य आधार होगा। इसीलिए यह पुस्तक बहुत

* अनिरुद्धाचार्यका अभिधम्मत्थसंग्रह नामक ग्रन्थ भी (विभावनी-टीकासमेत) सिंहली परम्पराकी बहुमूल्य देन है।

महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जातकत्थवण्णना (सं० जातकार्थवर्णना) के लेखक भी बुद्धघोष ही माने जाते हैं, अतः इसके कर्ता भी वही समझे जाते हैं। कहते हैं कि बुद्धघोष बौद्ध गयाके पासके रहनेवाले ब्राह्मण थे, जो बादमें बौद्ध होकर सिंहल चले गये थे। इन्होंने प्रायः सभी मुख्य त्रिपिटक ग्रन्थोंकी टीका लिखी है। विसुद्धिमग्गो (विशुद्धि-मार्ग) के लेखक भी यही माने जाते हैं। असलमें यह भी एक श्लोकको आश्रय करके लिखी हुई टीका ही है। ये बहुत श्रेष्ठ कोटिके भाष्यकार माने जाते हैं। इनके लिखे हुए ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—विसुद्धिमग्गो, समन्तपासादिका (विनय-पिटक), सुमंगलविलासिनी (दीघ०), पपञ्चसूदनी (मज्झिम०), सारत्थपकासिनी (संयुत्त०), मनोरथ-पूरनी (अंगु०), कंखावितरणी (पाति०) इत्यादि। इनके अनतिपश्चात् धम्मपाल नामक टीकाकार हुए जिन्होंने त्रिपिटकके उन सभी ग्रन्थोंपर, जिन्हें बुद्धघोष छोड़ गये थे, परमत्थदीपिनी नामकी टीका लिखी। ये ग्रन्थ हैं—इति-वुत्तक, उदान, चरिया-पिटक, थेरगाथा, विमानवत्थु और पेतवत्थु। कहते हैं कि ये दक्षिण भारतके रहनेवाले ब्राह्मण थे और अनुमानतः सिंहलके अनुराधपुरमें पढ़े थे। इन अर्थकथाओंके आधारपर दो ऐतिहासिक काव्य दीपवंश और महा-वंश भी लिखे गये। दोनों ही काव्य पाँचवीं शताब्दीकी कृति माने जाते हैं। दीपवंशकी अपेक्षा महावंशका काव्यत्व अधिक प्रशंसित हुआ है। अर्थकथाएँ और ये दोनों काव्य बादमें एक बहुत बड़ी काव्य-परम्पराको उत्तेजित कर सके। इस परम्पराके मुख्य ग्रन्थ बोधिवंश दाठावंश और थूपवंश हैं। ये भी पहले सिंहली भाषामें लिखे गये थे और बादमें पालीमें भाषान्तरित हुए। इस तरह बुद्धघोषके बादसे ई० सन्की बारहवीं शताब्दी तक लंकामें बहुतसे पाली-ग्रन्थ लिखित हुए। बुद्धदत्त नामक एक भिक्षुने जो बुद्धघोषके समसामयिक माने जाते हैं (पर इसमें पण्डितोंने सन्देह किया है), अभिधम्मावतार, रूपारूप-विभाग और विनय-विनिश्चय नामक ग्रन्थ लिखे थे। इसके बाद भी पालीमें ग्रन्थ लिखे जाते रहे और आज भी लिखे जाते हैं, जिनमें कितने ही काफी महत्त्वपूर्ण हैं। ब्रह्मदेशमें तो ग्यारहवीं शताब्दीके पहले पाली भाषा पहुँची ही नहीं थी। बादकी शताब्दियोंमें वहाँ भी कई अच्छी पुस्तकें लिखी गईं; पर प्रायः सबके आधार जातक ग्रन्थ ही थे। पालीमें ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयोंपर भी लिखनेका प्रयत्न किया गया; पर बहुत कम।

५

बौद्ध-संस्कृत-साहित्य

अब तक जिस बौद्ध-साहित्यका परिचय दिया गया है, वह पालीमें लिखा हुआ है। यह समूचा साहित्य हीनयानके स्थविरवादियोंका है। बौद्धधर्मके अन्यान्य सम्प्रदाय, भारतवर्षसे उठ गये हैं। अशोक-संगीतिके अवसरपर १८ बौद्ध-सम्प्रदायोंकी चर्चा मिलती है। इन सबके अपने अपने पिटक थे, जो सम्भवतः ब्राह्मणोंकी वैदिक शाखाओंकी भाँति-कुछ न्यूनाधिक पाठ-भेद रखते थे। परन्तु वैदिक शाखाओंसे इनकी एक विशेषता थी। इनमें केवल पाठका ही नहीं, भाषाका भी भेद था। स्थविरवादियोंका साहित्य पाली-भाषामें है; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यही भाषा बुद्धकी उच्चरित भाषा हो। ऐसे कुछ संस्कृत और मिश्रसंस्कृतके ग्रन्थ पाये गये हैं जो या तो बौद्ध-सम्प्रदायोंके हैं या उनके द्वारा प्रभावित हैं। हीनयान और महायान ग्रन्थोंका मोटे तौरपर भेद समझना हो, तो हिन्दुओंके ज्ञानपंथ और भक्तिपंथके उदाहरणसे समझा जा सकता है। हीनयानके साधक अनेक यत्नके बाद निर्वाण-प्राप्तिको सम्भव बताते हैं, जो निश्चय ही बहुत कम लोगोंको सुलभ है; पर महायानवाले साधक जप, मंत्र, पूजा-पाठ आदिके द्वारा निर्वाणको बहुत सहजसाध्य और सर्वलोकसुलभ बताते हैं। यद्यपि संस्कृत या अर्ध-संस्कृतका साहित्य महायान-सम्प्रदायका ही अधिक है; पर ऐसा नहीं कह सकते कि इस भाषामें हीनयानका सम्प्रदाय एकदम है ही नहीं। लोकोत्तरवादी बौद्ध, जो अधिकांश महायानसे प्रभावित थे, वस्तुतः हीनयानी ही थे। फिर सर्वास्तिवादी भी जो काश्मीर, गांधार आदि सरहदी सूबोंमें फैले हुए थे हीनयानी ही थे। यही लोग तिब्बत, चीन और मध्य एशियामें भी अपना प्रभाव-विस्तार कर सके थे। इनका अपना संस्कृत-

साहित्य था। आज तक इनके मतके सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं, फिर भी कुछ यूरोपियन पंडितोंने पूर्वी तुर्किस्तानसे इनके ग्रन्थोंके छोटे-बड़े बहुत-से छिन्न अंशोंका उद्धार किया है। फिर महावस्तु, दिव्यावदान और ललितविस्तर (परिचय आगे देखिए) में भी इनका उल्लेख पाया जाता है। मूल सर्वास्तिवादियोंके प्रसिद्ध ग्रन्थोंका चीनी यात्री इत्सिगने चीनी भाषामें अनुवाद किया था। संस्कृत और पाली ग्रन्थोंमें समानता बहुत है; पर अन्तर भी कम नहीं है। इसका कारण यह अनुमान किया गया है कि शायद दोनों ही उस मूल मागधी-रूपसे लिये गये हों, जो अब खो गये हैं और बादमें उनमें स्वतन्त्र भावसे प्रक्षिप्त अंश जोड़े जाते रहे हों।

भारतवर्षमें बौद्धधर्म केवल नाम-शेष ही रह गया है। इसका भग्नावशेष केवल उत्तरी प्रान्त नेपालमें बचा हुआ है। वहाँके गुर्खे तो हिन्दू हैं; पर नेवारी लोग बौद्ध हैं। उनमें केवल इन नौ ग्रन्थोंका प्रचार है: प्रज्ञापारमिता, गंडव्यूह, दशभूमीश्वर, समाधिराज, लंकावतार, सद्धर्म-पुंडरीक, तथागत-गुह्यक, ललित-विस्तर और सुवर्णप्रभा। इनके अतिरिक्त वहाँ और भी कई ग्रन्थ खोजसे मिले हैं, जिनमें महावस्तु और दिव्यावदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत दिनों तक विद्वानोंकी धारणा रही कि ये ग्रन्थ वस्तुतः पालीके ग्रन्थोंके ही संस्कृत रूपान्तर हैं, जो स्थान-स्थानपर बदल दिये गये हैं। यही कहा जाता रहा कि इस संस्कृत-शाखामें विनय-ग्रन्थ नहीं है। पर अब ये बातें गलत साबित हो गई हैं। महावस्तु, असलमें, लोकोत्तरवादियोंका विनय ही है जो महासांघिकोंमें भी गृहीत हो गया है। हालहीमें यह भी समझा जाने लगा है कि दिव्यावदान भी मूल सर्वास्तिवादियोंके विनयके आधारपर ही रचित है। नेपाली ग्रन्थोंमें और भी ऐसी बातें मिली हैं, जिनके विषयमें लोगोंकी धारणा थी कि ये पालीकी ही विशेषता हैं। फिर तिब्बतमें बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थोंके अनुवाद पाये गये हैं। इस देशमें बौद्धधर्म सातवीं शताब्दीमें पहुँचा था। वहाँ ये ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त किये गये हैं,—कैंजुर और तैंजुर। पहलेमें मूल ग्रन्थोंके अनुवाद हैं और दूसरेमें व्याख्यापरक ग्रन्थ और व्यवहारसम्बन्धी पुस्तिकाएँ हैं। कैंजुरके सात विभाग हैं—दुल्ब (विनय), शेस्-यिन् (प्रज्ञापारमिता), फल्-चेन् (अवतंसक), द्कोन-ब्र्चेंगस् (रत्नकूट), म्यङ-दस् (निर्वाण), मूदोस्दे (सूत्र) और र्-ग्युद्-म्बु (तंत्र)। ये सभी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुवाद हैं। फिर चीनमें

सन् ईसवीकी पहली शताब्दीसे ही बौद्धधर्मका प्रवेशारम्भ हुआ। वहाँ सन् ५१८ से १०१० ई० तक बौद्धधर्म बारह बार गया। प्रत्येक बार कुछ न कुछ नये अनुवाद हुए, इसीलिए चीनमें कभी कभी एक ही ग्रन्थके कई कई अनुवाद पाये जाते हैं। परन्तु जिसे चीनी त्रिपिटक कहा जाता है वह नाममात्रका ही त्रिपिटक है। कोई ऐसा सिद्धान्त और मतवाद नहीं, जो इसमें स्थान न पा सका हो। इसके बाद कोरियामें चीनसे मूल और अनुवाद ग्रन्थ सन् १०१० में ले जाये गये थे, जो सबके सब जापानमें अब भी सुरक्षित हैं। इन समस्त उद्गमोंसे बौद्धोंके संस्कृत-साहित्यकी विशालताकी एक झलक हम पा सकते हैं। हालहीमें यूरोपियन और भारतीय पंडितोंने अनेक यत्नोंके साथ इन ग्रन्थोंमेंसे कईको फिरसे संस्कृतमें उलथा किया है। यह काम अभी शुरू ही हुआ है

चीनी पर्यटक हुएनत्सांगके जीवनसे जान पड़ता है कि वे महायानसूत्रके २२४ ग्रन्थ, अभिधर्मके १९२ ग्रन्थ; स्थविर-सम्प्रदायके सूत्र, विनय और अभिधर्म जातीय १४ ग्रन्थ, महासांघिक सम्प्रदायके इसी श्रेणीके १५ ग्रन्थ; महीशास्त्रक सम्प्रदायके तीनों श्रेणीके २२ ग्रन्थ; काश्यपीय सम्प्रदायके ऐसे ही १७ ग्रन्थ; धर्मगुप्त-सम्प्रदायके ४२ ग्रन्थ साथ ले गये थे। इसपरसे यह अनुमान करना अयौक्तिक नहीं कि सभी बौद्ध-सम्प्रदायोंके अपने अपने त्रिपिटक थे और सबके पास अपने अपने विशाल साहित्य वर्तमान थे। चीनी तालिकामें मूल सर्वास्तिवाद, महासांघिक, महीशास्त्रक, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त और काश्यपीय सम्प्रदायके विनय-ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है। अभिधर्म पिटकके प्रसंगमें सर्वास्तिवाद सम्प्रदायके ६ पादशास्त्र या प्रकरणग्रन्थों और सम्मितीय सम्प्रदायके केवल एक ग्रंथका उल्लेख है। कुछ पंडित हुएनत्सांगके विवरणको प्रामाणिक नहीं मानते और कहना चाहते हैं कि केवल सर्वास्तिवादी और वैभाषिक सम्प्रदायोंके पास ही पालि-त्रिपिटकके अनुरूप त्रिपिटक थे।

लेकिन केवल त्रिपिटक ग्रन्थ ही संस्कृतमें लिखे गये हों, ऐसी बात नहीं है। बौद्ध नाटक और काव्य तथा स्तोत्र आदि ग्रन्थ भी काफ़ी लिखे गये थे। इनमेंसे कइयोंका साहित्यिक मूल्य बहुत अधिक कूता गया है। प्रसिद्ध कवि, नाटककार और दार्शनिक अश्वघोषको कालिदासका भी मार्गदर्शक बताया गया है। उनके 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' निश्चय ही संस्कृत-काव्यके भूषण हैं। इन दो ग्रन्थोंके सिवा मध्य-एशियासे उनके द्वारा रचित एक नाटकके

छिन्न अंशका भी उद्धार किया गया है। उनका सूत्रालंकार कहानियोंका ग्रंथ है जो जातकके ढंगपर लिखी गई हैं। अश्वघोषका एक ग्रन्थ वज्रसूची आधुनिक पाठकोंके लिए काफी मनोरंजक हो सकता है। इसमें जाति-वर्ण-व्यवस्थाको अस्वाभाविक सिद्ध किया गया है। अश्वघोषने महायानकी तत्त्ववादके भी पुस्तकें लिखी हैं। इनके सम्प्रदायके दो और भी प्रसिद्ध कवि हो गये हैं,—मातृचेट और आर्यशूर। अगर तिब्बती अनुवादोंपर विश्वास किया जाय, तो मातृचेट अश्वघोषका ही दूसरा नाम है। शूर या आर्यशूरकी जातकमाला उनके पूर्ववर्ती वैभाषिक कवि आर्यचन्द्रकी कल्पनामंडितिकाके ढंगपर लिखी गई है। आर्यचंद्रकी पुस्तकका अपूर्ण अंश ही संस्कृतमें प्राप्त हुआ है। पर यह पुस्तक कई बार चीन तिब्बत, मंगोलिया आदिकी भाषाओंमें अनूदित हो चुकी है।

महावस्तु और ललितविस्तर

हीनयानकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ महावस्तुअवदान (या संक्षेपमें महा-वस्तु) है। जैसा कि पहले ही कहा गया है, यह पुस्तक महासांघिक सम्प्रदायकी लोकोत्तरवादी शाखाका विनय-पिटक है। लोकोत्तरवादियोंके मतसे बुद्ध लोकोत्तर चरित्रके पुरुष हैं। वे केवल लीलाके लिए शरीर ग्रहण करते हैं, परमार्थतः नहीं। महावस्तुमें वस्तुतः बुद्धदेवका जीवन-चरित ही ग्रथित है जिसमें पालीके लिखे हुए बुद्ध-चरितोंसे विशेष अन्तर नहीं है। यह ग्रंथ बुद्धदेवके लोकोत्तर चरित्र और करामाती कार्योंसे भरा है। निदान कथाकी भाँति इसके भी तीन विभाग हैं। अन्तिम हिस्सेकी मुख्य बातें प्रायः महावग्गसे मिलती हैं। यद्यपि यह पुस्तक बुद्धदेवकी जीवनी है, पर यह जीवनी सिलसिलेवार नहीं लिखी गई है। बीच बीचमें जातककी कहानियाँ और धर्म-व्याख्याकारी सूत्र आदि प्रायः आते रहते हैं। सिलसिला प्रायः टूट जाता है। सारी पुस्तक मिश्र-संस्कृतमें लिखी गई है। इस ग्रंथमें ऐसी जातक और अवदान-कथाएं भी पाई जाती हैं जिनका पालीमें कोई पता नहीं चलता। इस दृष्टिसे भी इस ग्रंथका महत्त्व है। यद्यपि यह हीन-यान-सम्प्रदायका ग्रंथ है, परन्तु इसमें महायान-प्रभाव स्पष्ट है।

ललितविस्तर महायान-सम्प्रदायका ग्रंथ है। पण्डितोंका कहना है कि इसमें सभी महायानीय लक्षण विद्यमान हैं, यद्यपि यह ग्रंथ मूलरूपसे हीनयान-सम्प्रदा-यके सर्वास्तिवादियोंके लिए लिखा गया था। ललितविस्तरका अर्थ है लीलाका

विस्तार। यह नाम ही महायान-विश्वासका निदर्शक है। अन्यान्य महायानसूत्रोंकी भाँति यह भी अपने आपको महावैपुल्य सूत्र कहता है। इस ग्रंथमें जिस पौराणिक ढंगसे बुद्धका वर्णन किया गया है, वह हिन्दू पुराणोंकी याद दिला देता है और भक्तितत्त्वकी व्याख्या तो भागवतकी याद दिलाती है। बुद्धदेव आनन्दको उसी प्रकार शरणागतके उद्धारका विश्वास दिलाते हैं जैसे गीतामें श्रीकृष्ण अर्जुनको। ललितविस्तरकी गाथाएँ बहुत पुरानी मानी जाती हैं। सन् ईसवीकी प्रथम शताब्दीमें ही इसका एक अनुवाद चीनी भाषामें हो गया था; किन्तु वर्तमान पुस्तकमें उसके बाद भी प्रक्षेप हुए हैं। महावस्तु और ललितविस्तरने चौथी शताब्दी तक निश्चित रूपसे यह रूप धारण कर लिया होगा। ललितविस्तर यद्यपि बुद्धदेवके जीवनका वास्तविक महाकाव्य नहीं है, पर उसमें वे सभी बातें मूल रूपसे विद्यमान हैं, जो ऐसे काव्यका उपादान हैं। पंडितोंका अनुमान है कि अश्वघोषने अपने प्रसिद्ध काव्य बुद्धचरितका मसाला इसी ग्रन्थके प्राचीनतर रूपसे संग्रह किया होगा।

अवदान-साहित्य

अवदानका सम्बन्ध पालि-भाषाके अपदान शब्दसे होना चाहिए। इसका अर्थ होता है कोई उल्लेखयोग्य कार्य। कभी कभी इसका व्यवहार खराब अर्थमें भी हुआ है। अवदानोंमें जातक-कथाओंकी भाँति बुद्धदेवके पूर्ववर्ती जन्मोंकी उल्लेख-योग्य घटनाओंका निबन्धन होता है। कहा जाता है कि अवदानोंका भी प्राचीनतम रूप हीनयान-सम्प्रदायसे सम्बद्ध था; पर वर्तमान रूपका सम्बन्ध केवल महायान संप्रदायसे ही है। आर्यशूर और आर्यचन्द्रकी जिन दो पुस्तकों (जातकमाला और कल्पनामंडितिका) की पहले चर्चा की जा चुकी है, वे असलमें अवदानकी जातिकी ही हैं।

अवदानशतकमें सौ अवदान संगृहीत हैं। इस ग्रन्थका अनुवाद सन् ईसवीके दो सौ वर्ष बाद चीनी भाषामें हो गया था। इसमें महायानीय पौराणिकताका भी बहुत कम प्रभाव विद्यमान है। इस श्रेणीकी एक और पुस्तक कर्मशतक है जो अधिकांश अवदानशतककी ही भाँति है। दुर्भाग्यवश इसका पता केवल एक तिब्बती अनुवादसे ही चलता है। इस जातिके ग्रन्थोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दिव्यावदान है जो यद्यपि अवदानशतकके बादका संगृहीत है, पर इसमें ऐसी

बहुत-सी कहानियाँ हैं जो मूलतः अवदानशतककी कहानियोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। ऐसा अनुमान किया गया है कि इसकी घटनाएँ सम्भवतः मूल सर्वास्तिवादियों (हीनयानी) के विनय-पिटकसे ली गई होंगी। कहानियाँ अधिकतर संस्कृत-गद्यमें लिखी गई हैं, जिनमें बीच-बीचमें प्राचीन गाथाएँ भी हैं। कभी कभी काव्य-पद्धतिकी अलंकृत कविताएँ भी मिल जाती हैं, जो इस बातका सबूत हैं कि पुस्तक-रचनाके समय काव्य-पद्धति काफी अग्रसर हो चुकी होगी। अनुमान है कि इसका वर्तमान रूप अन्तिम बार सन् ईसवीकी चौथी शताब्दीमें निश्चित हो गया होगा। इन पुस्तकोंसे और इनमें भी विशेष रूपसे अवदानशतकसे काव्यात्मक पद्योंका संग्रह करके कई पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें कल्पद्रुमावदानमाला, रत्नावदानमाला, अशोकावदानमाला और द्वाविंशावदान मुख्य हैं। एक और पुस्तक, जिसे भद्रकल्पावदान कहते हैं, उपगुप्त और अशोक की ३४ कहानियोंकी है। अवदानशतककी कहानियोंको अधिकांशमें उपजीव्य मानकर लिखी हुई दूसरी पुस्तक चित्रावदान है। अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्रकी अवदान-कल्पलता है जो ग्यारहवीं शताब्दीमें लिखी गई थी। तिब्बतमें इस पुस्तकका बहुत मान है। ऊपरके संक्षिप्त विवरणसे स्पष्ट है कि अवदान एक समयमें बहुत ही लोकप्रिय विषय था। इस विषयके निश्चय ही सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये होंगे जो कालचक्रके पहियेके नीचे पिस गये हैं। कइयोंका पता चीनी और तिब्बती अनुवादकोंकी कृपासे ही लगा है। अवदानोंमेंसे कई ऐसे हैं जिनकी भाषा अलंकृत और मँजी हुई है और जो कवित्वके सुन्दर नमूने हैं।

महायानसूत्र

अब तक जिस साहित्यकी चर्चा हुई है उसका एक पैर हीनयानमें है और दूसरा महायानमें। अब जिन ग्रन्थोंकी चर्चा की जायगी, वे सम्पूर्णतः महायान-सम्प्रदायके हैं। महायानसूत्रोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सद्धर्म-पुण्डरीक है। जो कोई भी महायान-सम्प्रदायके साथ परिचित होना चाहे, उसके लिए इससे अधिक अच्छी सहायक पुस्तक दूसरी नहीं है। इस ग्रंथके शाक्यमुनि (बुद्ध) में मनुष्यके कुछ भी चरित्र अवशिष्ट नहीं रह गये हैं। वे देवताओंके भी देवता, स्वयंभू और भूतमात्रके परित्राता हैं। उनकी तुलना बहुत कुछ वैष्णव अवतारोंके

साथ की जा सकती है। उनका जन्म और मृत्यु केवल दिखावा-भर है, असल
वे इन दोनोंसे अतीत हैं। एक बात जो उल्लेख-योग्य है वह यह है कि सद्धर्म
पुण्डरीकके बुद्धदेव पालीके बुद्धकी भाँति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूम घूमक
धर्म-प्रचार नहीं करते, बल्कि सहस्रों बोधिसत्त्वों और देवताओंसे घिरे हुए गृध्र
कूट पर्वतपर बैठे रहते हैं और जब धर्मकी वर्षा करना चाहते हैं, जब धर्मक
नगाड़ा बजाना चाहते हैं, जब धर्मकी विशाल ज्योति उद्भासित करना चाहते
हैं, तब उनके भ्रुओंके एक केशसे ज्योतिरेखा निकलती है, जो अठारह हजार
बुद्धलोकोंको प्रकाशित करती है और बोधिसत्त्व मैत्रेयको आश्चर्यजनक ज्योति
दिखाती हुई अन्तमें बुद्धदेवके पास ही लौट आती है। इसी तरह पुण्डरीक-लिखित
बुद्ध-सिद्धान्त भी पाली ग्रन्थोंसे भिन्न हैं। जो कोई भी बुद्धका उपदेश सुनता
है, कोई पुण्य-कार्य करता है, कोई स्तूप बनवा देता है, वही बुद्धत्व प्राप्त कर
लेता है। यहाँ मुक्ति बहुत सहज है। यहाँका बौद्धधर्म उत्तरकालीन पौराणिक
हिन्दू धर्मकी याद दिला देता है। पुण्डरीकका चीनी भाषामें पहला अनुवाद
सन् २२३ में हुआ था। बादमें और भी कई अनुवाद हुए। सौभाग्यवश
मूल ग्रन्थके कुछ छिन्न अंश तुर्किस्तानमें भी पाये गये हैं। यह प्राप्त अंश
हू-ब-हू नेपाली ग्रन्थसे नहीं मिलता, इसलिए यह अनुमान किया गया है कि
इस ग्रन्थके अन्ततः दो रूप निश्चय ही रहे होंगे।

बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरका गुण-गान करनेवाला एक और महायानसूत्र
पाया जाता है, जिसका पूरा नाम अवलोकितेश्वर-गुण-कारण्ड-व्यूह है; पर संक्षे-
पमें इसे कारण्ड-व्यूह कहा करते हैं। इसकी रचना और शैली सब ब्राह्मण-पुरा-
णोंके ढंगकी है। पण्डितोंके मतसे इसका पद्यांश तो सन् ईसवीकी चौथी शताब्दीमें
ही लिखा गया होगा; पर गद्यांश बादका लिखा होगा। अवलोकितेश्वरकी कल्पना
बहुत उच्च कोटिकी है। जब तक समस्त प्राणियोंका दुःख-मोचन न हो जाय, तब
तक अवलोकितेश्वर बुद्धत्व भी नहीं प्राप्त करना चाहते। जिस प्रकार कारण्ड-
व्यूहमें अवलोकितेश्वरकी महिमा गाई जाती है, उसी प्रकार सुखावती-व्यूहमें
अमिताभ बोधिसत्त्वकी। सुखावती-व्यूहके नामसे दो पुस्तकें संस्कृतमें पाई जाती
हैं, एक छोटी और दूसरी बड़ी। इनमेंका प्रधान प्रतिपाद्य यह है कि जो कोई
अमिताभका गुण-कीर्तन करता है, वह बुद्धलोकको प्राप्त होता है। बड़ी पुस्तकके
बारह अनुवाद चीनी भाषामें हो चुके हैं। सबसे पुराना अनुवाद सन्

१४७ और १८६ ई० के बीचका है। छोटी पुस्तक भी तीन बार अनूदित हुई थी। सबसे पुराना अनुवाद कुमारजीवका है जो सन् ४२० ई० में हुआ था। चीनी अनुवादोंसे एक और तरहके ग्रन्थोंका भी पता चलता है। वे हैं अमितायुर्ध्यान-सूत्र। इस श्रेणीका एक और ग्रन्थ अक्षोभ्य-व्यूह पाया गया है जिसमें अक्षोभ्य नामक बोधिसत्त्वका माहात्म्य वर्णित है। इसके भी दो चीनी अनुवाद पाये जाते हैं। पुराना चौथी शताब्दीका है।

इनके अतिरिक्त दार्शनिक महायानसूत्र भी हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण हैं प्रज्ञापारमिताएँ। इनका प्रतिपाद्य विषय है बोधिसत्त्वकी ६ प्रकारकी पारमिता या पूर्णता और विशेष भावसे प्रज्ञा अर्थात् ज्ञानकी पूर्णता। यह पूर्णता शून्यताके ज्ञानसे होती है। नेपालमें दो प्रकारकी परस्परागत प्रसिद्धियाँ प्रचलित हैं। एकके अनुसार पहले सवा लाख श्लोकोंकी प्रज्ञापारमिता थी जो बादमें क्रमशः ... तीस हज़ार, दस हज़ार और अन्तमें आठ हज़ार श्लोकोंमें संक्षिप्त ... के अनुसार आठ हजारवाली प्रज्ञापारमिता ही पहली है, ...शः बढ़ाई गई हैं। भारतवर्षमें बहुत अधिक प्रज्ञापारमिताएँ ... तिब्बत और चीनमें तो ये और भी बढ़ती ही गई। चीनी ... लम्बी लम्बी पारमिताओंके अनुवाद हैं। कई तो लाख लाख ... खूब सम्भव है कि अष्टसाहस्रि...तक, जिसे ... सहस्र श्लोकोंवाली ... ही प्राचीन हो।

...० विधुशेखर भट्ट...

...ओंमें समस्त जागतिक ... माध्यमिक सम्प्रदायका ...स्तित्वहीन ...हाँ तक कि बुद्धदेव और ...शुद्धि-प्रकरण नामक ग्रन्थ भी ...त पार... पुनरुक्ति ... प्राप्त हुए हैं। पंडित लोग इसको ... ऊब जाती ... लम्बी रच... चीनी अनुवादोंमें दो और ...ठ करना और ... काल तक चल ... ...व्य था और काम-काजहीन संन्यासियोंको ...ता था कि असंग या आर्यसंग...हो। कभी कभी गैर-बौद्ध विद्वानोंको इसमें ...शे। परन्तु असलमें इस ...ense) बातें ही नज़र आई हैं; पर इस बातको अस्व...थ थे। यह सम्प्र... सकता कि इनके आधारभूत सिद्धान्तोंमें गहराई रही होगी। प्रज्ञापारमि...ने आचार्योंने, जो निश्चय ही बड़े भारी भारी दार्शनिक थे—जैसे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु आदि—इन पारमिताओंपर टीकाएँ लिखी हैं। दुर्भाग्यवश ये टीकाएँ मूल रूपमें उपलब्ध नहीं हुई हैं, केवल चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे इनके विषयमें हम जान सकते हैं।

चीनमें छठी शताब्दीमें एक अवतंसक सम्प्रदायका उद्भव हुआ। इसका और जापानके केगन-सम्प्रदायका सर्वमान्य सूत्र बुद्धावतंसक है जिसकी चर्चा महाव्युत्पत्ति नामक बौद्ध-कोषमें आती है। चीनी परम्पराके अनुसार ६ अवतंसक सूत्र थे जिनमें सबसे बड़ा १ लाख गाथाओंका था, और जो सबसे छोटा था उसमें ३६००० गाथाएँ थीं। सन् ४१९ ई० में छोटे अवतंसक सूत्रका अनुवाद चीनी भाषामें हुआ था। इस प्रकारका कोई अवतंसक सूत्र आजकल संस्कृतमें उपलब्ध नहीं है; लेकिन एक गण्डव्यूह महायानसूत्र है जो चीनी अनुवादसे मिलता है। दशभूमिक या दशभूमीश्वर इन्हीं अवतंसकोंका एक अंश माना जाता है। इनमें उन दश भूमियों या पदोंकी चर्चा है जिनसे बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है। तिब्बती और चीनी अनुवादोंसे इन अवतंसकोंकी तरह एक रत्नकूटका भी पता चलता है। यह सन् ईसवीकी दूसरी शताब्दीमें चीनी भाषामें अनूदित हुआ था। उक्त अनुवादोंमें कई परिपृच्छा-ग्रन्थोंकी भी चर्चा है। जिनमें एक मुख्य राष्ट्रपाल-परिपृच्छा या राष्ट्रपालसूत्र है। इसका अनुवाद चीनमें छठी शताब्दीमें हुआ था।

जिस प्रकार प्रज्ञापारमिताएँ शून्यवादका प्रचार करती हैं, उसी प्रकार सद्धर्म-लंकावतार-सूत्र विज्ञानवादका। विज्ञानवाद शून्यवादका ही कुछ नरम रूप है जो यद्यपि जगतको अ... रूप नि... मानता है, पर आन्तरिक अनुभूतिके निकट उसकी सत्ताको ... अवलोकितेश्वरका ... है। पंडितोंका कहना है कि उक्त ग्रन्थ एक ही बार न... है, जिसका पूरा नाम ... निरंतर प्रक्षेप होते रहे हैं। तीन बार यह चीनी भ... कारण्ड-व्यूह कहा करते हैं। ...ला अनुवाद गुणभद्रकने ४४३ ई० में किया था। ... है। पण्डितोंके मतसे इसका पद्य... या चन्द्रप्रदीप सूत्र और सुवर्णप्रभास उल्ले... होगा; पर गद्यांश बादका लिखा होगा ...पानी देशोंमें बहुत प्रचलित है। इसका एक छिन्न ... है। जब तक समस्त प्राणियोंका दु... गया है। इसके भी कई चीनी अनुवाद हुए। प्राप्ति... ...त्व भी नहीं प्राप्त करना चाहते ...ाब्दीका है।
...हिमा गाई जाती है, उसी...
...ण्डी-व्यूहके नामसे दे...

अश्वघोष, मातृचेट और आर्यशूरके ...का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। और भी कई ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपनी दार्शनिक चिन्ताओं, ग्रन्थों, टीकाओं और काव्योंसे संस्कृत-साहित्यको बहुत समृद्ध किया। इनमें कई एक जिनकी

कीर्ति भारतवर्षकी सीमा लाँघकर सुदूर-पूर्वमें फैल गई थी, भारतवर्षकी विशेष गौरवकी वस्तु है। नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु, असंग, शान्तिदेव आदि पंडितोंकी लोकोत्तर प्रतिभाका गर्व आज भी यह देश औचित्यके साथ कर सकता है। कुमारजीवके किये हुए चीनी अनुवाद आज चीनमें क्लासिक माने जाते हैं। इन्होंने सैकड़ों बौद्ध ग्रन्थोंका चीनी भाषामें अनुवाद किया था। भारतवर्षसे जाकर वहाँकी भाषापर अधिकार करके अनुवाद करना आसान काम नहीं है। इनके सिवा अन्य अनेकों आचार्योंने भी चीन और तिब्बतकी भाषामें अनुवाद किये हैं। आज भारतवर्षकी खोई हुई सम्पत्तिको सुरक्षित रखनेका सम्पूर्ण श्रेय इन परिव्राजक आचार्योंको और साथ ही चीन और तिब्बतके गुणज्ञ जन-समुदायको है।

नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदायके आचार्य थे। उन्होंने अपनी माध्यमिक कारिकापर स्वयमेव अकुतोभया नामक टीका लिखी थी। भारतीय दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्यमें यह प्रथा खूब लोकप्रिय हुई थी। कहते हैं, नागार्जुन ही इस प्रथा (कारिका और टीका दोनों लिखनेकी प्रथा) के आदि-प्रवर्तक हैं। नागार्जुनके दो और ग्रन्थ हैं, युक्तिषष्टिका और श्रीलेख। इत्सिंगने दूसरेको भारतवर्षमें खूब प्रचलित देखा था। आर्यदेव नागार्जुनके शिष्य थे। इन्हींको काणदेव भी कहते हैं। शायद इनकी एक आँख कानी थी। इनके नामपर अनेक ग्रन्थ चलते हैं। सबसे प्रसिद्ध है चतुःशतक, जिसे तिब्बती अनुवादके आधारपर विश्व-भारतीके भूतपूर्व आचार्य पं० विधुशेखर भट्टाचार्यने फिरसे संस्कृतमें उल्था करके सम्पादन किया है। यह माध्यमिक सम्प्रदायका प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनके नामपर एक और चित्तविशुद्धि-प्रकरण नामक ग्रन्थ भी चलता है जिसके कुछ छिन्न अंश प्राप्त हुए हैं। पंडित लोग इसको इनकी रचना माननेमें हिचकिचाते हैं। चीनी अनुवादोंमें दो और ग्रन्थ भी इनके अनुवादित हैं।

अब तक समझा जाता था कि असंग या आर्यासंग ही महायान योगाचार सम्प्रदायके आदि आचार्य थे। परन्तु असलमें इस सम्प्रदायके आदि आचार्य इनके गुरु मैत्रेय या मैत्रेयनाथ थे। यह सम्प्रदाय विज्ञानवादका ही प्रचारक है। अभिसम्यालंकारकारिका या प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र मैत्रेयनाथकी रचना है। चौथी शताब्दीमें पंचविंशसाहस्र-प्रज्ञापारमिताके साथ चीनी भाषामें इसका अनुवाद हो गया था। महायानसूत्रालंकार भी इन्हींका लिखा हुआ ग्रन्थ है। असंगदेवकी प्रसिद्ध पुस्तक योगाचारभूमिशास्त्र या सप्तदशभूमिशास्त्रका केवल

एक अंश ही मूल संस्कृतमें उपलब्ध हो सका है। किसी किसीने इसे भी मैत्रेय-नाथकी रचना ही कहा है; पर हुएन्त्सांग तथा तिब्बती ऐतिहासिक इसे असंग-लिखित ही बताते हैं। इसके भी कई चीनी अनुवाद हुए हैं। पुराना अनुवाद छठी शताब्दीका है। असंगके भाई वसुबन्धुका प्रधान ग्रन्थ अभिधर्मकोश है जो मूल संस्कृतमें नहीं पाया जा सका है। इसके भी चीनी भाषामें कई अनुवाद हुए हैं। सातवीं शताब्दिमें यह ग्रन्थ इस देशमें इतना लोकप्रिय था कि सुप्रसिद्ध कवि बाणने लिखा है कि तोते भी आपसमें इसकी चर्चा किया करते थे। चीन और जापानमें यह भी बौद्ध धर्मका पाठ्य-ग्रन्थ है और विवादास्पद-व्यवस्थाओंके निर्णयके लिए प्रमाण माना जाता है। इस आचार्यने अपने भाई असंगकी मृत्युके पश्चात् अनेक महायान-सूत्रोंकी टीकाएँ लिखीं। तिब्बतमें इनके नामपर और भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। नागार्जुन और आर्यदेवके सम्प्रदायके दो और प्रसिद्ध टीकाकार हुए : बुद्धपालित और भाव्यविवेक (भव्य)। ये दोनों क्रमशः प्रासंगिक और स्वतन्त्र सम्प्रदायोंके आचार्य हैं।

माध्यमिक और विज्ञानवादी मतोंके समन्वयकी भी चेष्टा हुई थी। महायान-श्रद्धोत्पाद नामक ग्रन्थमें यही चेष्टा है। इसके कर्त्ता अश्वघोष माने जाते हैं। यह ग्रन्थ सातवीं शताब्दीमें चीनी भाषामें अनूदित हुआ था। हुएन्त्सांग जब भारतवर्षमें तीर्थ-यात्राको आये थे, तो इस ग्रन्थका यहाँ प्रचार न देखकर उन्होंने फिरसे इसे संस्कृतमें उल्था करके प्रचारित किया था। दुर्भाग्यवश यह उल्था भी अब नहीं पाया जाता। चीनी अनुवाद, जिसपरसे हुएन्त्सांगने पुनर्वार संस्कृत किया था, सुरक्षित है और चीन, कोरिया और जापानमें बहुत लोकप्रिय है।

पाँचवीं शताब्दीमें वसुबन्धुके सम्प्रदायमें तीन बड़े बड़े आचार्य हुए जिनके नाम हैं स्थिरमति, दिङ्नाग और धर्मपाल। इनमें दिङ्नाग बौद्ध-न्यायके प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। कहते हैं कि ये महाकवि कालिदासके प्रतिद्वन्द्वी थे। इसी सम्प्रदायमें धर्मकीर्ति और चक्रकीर्ति भी नामी टीकाकार हो गये हैं। चन्द्रगोमिन्का नाम बौद्ध वैयाकरण, दार्शनिक और कविके रूपमें विख्यात है। शान्तिदेव, जो गुजरातके राजपुत्र कहे जाते हैं, निःसन्देह बहुत उच्च कोटिके कवि थे। इनके तीन ग्रन्थ शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार बौद्धोंमें प्रसिद्ध हैं। अन्तिम पुस्तक प्राप्त हुई है और वह सचमुच ही विश्व-साहित्यकी अमूल्य निधि है। कहते हैं कि भूसुकपाद नामक सिद्धसे ये अभिन्न हैं। आठवीं

शताब्दिमें सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित हुए, जिनका तत्त्वसंग्रह नामक दार्शनिक ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक आते आते बौद्ध-स्रोत भारतवर्षमें प्रायः सूख चला था। ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तमें एकमात्र उल्लेख-योग्य आचार्य अद्वयराज हुए जिन्होंने महायान और वज्रयान सम्बन्धी कविताएँ लिखीं।

माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तंत्र

बौद्ध माहात्म्य और स्तोत्र हिन्दुओंकेसे हैं। स्वयंभू-पुराणका नाम यद्यपि पुराण है, पर है वह एक माहात्म्य-ग्रंथ। बौद्धोंका स्तोत्र-साहित्य काफ़ी बड़ा है। सबसे अधिक स्तोत्र ताराके हैं। तारा अवलोकितेश्वरकी शक्ति और प्रज्ञा-स्वरूपा हैं। इन स्तोत्रों और माहात्म्योंके चिह्न प्राचीन सूत्रोंमें भी पाये जाते हैं।

धारणी मन्त्रोंकी पुस्तकें हैं। नाना प्रकारके मन्त्र, जिनके जपसे सब प्रकारकी बाधाएँ दूर हो जाती हैं, इनमें संगृहीत हैं। महायानसूत्रोंमें भी ये धारणिया पाई जाती हैं। असलमें धारणी और सूत्रोंमें कभी भी कड़ाईके साथ भेद नहीं किया गया। धारणियोंके नामपर सूत्र और सूत्रोंके नामपर धारणियाँ प्रायः पाई जाती हैं। इन धारणियोंके विचित्र मन्त्रोंका कोई अर्थ नहीं होता। उदाहरणार्थ साँपोंके भगानेका मन्त्र है, 'सर-तर सिरि-सिरि सुरु-सुरु नागानां जय-जय जिवि-जिवि जुवु-जुवु'। इसमें 'सर' और 'नागानां' सार्थक पद कहे जा सकते हैं; पर समूचे वाक्यमें वे भी निरर्थक-से हो गये हैं। इन मन्त्रोंके जप करनेसे निर्दिष्ट सिद्धि लाभ होनेकी बात कही गई है। ये मन्त्र उत्तरकालीन हिन्दू-समाजमें बहुधा ज्योंके त्यों आ गये हैं : असलमें अन्तिम समयमें बौद्ध धर्मका प्रधान संबल मन्त्र-तन्त्र ही रह गये थे। मन्त्रयान और वज्रयान बौद्ध धर्मके अन्तिम प्रतिनिधि हैं; परन्तु ये भी धीरे धीरे शैवादि [illegible] गये।

तन्त्रोंकी पुस्तकें प्रायः शाक्तों जैसी [illegible] शिष्योंसहित कर्णाटक [illegible] है कि उनमें थोड़ा-बहुत बौद्धत्व बाकी है। इन [illegible] नता स्थूलभद्र हुए। सिद्धिके लिए किस विशेष देवताक द्वादशाङ्गीके लु[illegible] जानेका डर हुआ, इसीलिए एके लिए देवताके अंगोंका पू[illegible] भग १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्रमें श्रमण-संघकी एक सभा प्रक्रियाको सहजबोध्य [illegible]हयोगसे सम्प्रदायके मान्य तत्त्वोंका ग्यारह अङ्गोंमें सङ्कलन देन है। इनमें मयह संग्रह 'पाटलिपुत्र-वाचना' कहलाता है। बारहवें अङ्ग दिट्ठिवाय गई हैं और [illegible]द) के १४ भागोंमेंसे, जो कि पुव्व या पूर्व कहलाते थे, अन्तिम चार पूर्व

विधान भी है। ये मन्त्र अक्षरों या अंकोंके रहस्यमय कोष्ठक हैं। इन्हें विशेष मन्त्रोंसे अभिमंत्रित करके धारण करनेसे भौतिक बाधाएँ दूर होती हैं। पंडितोंका अनुमान है कि तन्त्रोंके इस विपुल साहित्यपर शैव तंत्रोंका खूब प्रभाव है।

उपसंहार

विशाल बौद्ध-साहित्य, जिसने आधीसे अधिक दुनियाको अप्रत्यक्ष भावसे प्रभावित किया था और जिसकी अमूल्य चिन्ताएँ अब भी भ्रान्त मानव-समाजको मार्ग दिखा सकती हैं, अपने अन्तिम दिनोंमें धारणी, मंत्रों और यंत्रोंका शिकार हो गया। वह जहाँसे निकला था, अन्तमें उसी विशाल हिंदू वाङ्मयमें विलीन हो गया। संसारके इतिहासमें उसका उद्भव, प्रसार और विलय तीनों ही अतुलनीय आश्चर्यजनक व्यापार हैं।

६

जैन साहित्य

जैनधर्मके प्रवर्तक या संस्कर्ता महावीर स्वामी (निगण्ठ नातपुत्त) बुद्धदेवके पूर्ववर्ती थे। परन्तु जैन साहित्य इस समय जिस रूपमें मिलता है, उसके महावीरकालीन होनेमें बहुतोंको सन्देह है। जैनोंके दो प्रधान सम्प्रदाय हैं; श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि महावीर स्वामीने जो उपदेश दिया था उसे उनके दो प्रधान शिष्य, इन्द्रभूति और सुधर्माने, जो गणधर कहलाते थे, व्यवस्थित रूपसे सङ्कलित किया और वह समुच्चय-सङ्कलन द्वादशाङ्गी कहलाया, अर्थात्, उनकी समस्त वाणी वर्गीकरण करके बारह अङ्गोंमें विभक्त की गई।

यद्यपि अभी तक जैन साहित्यके इतिहासकी अच्छी तरह छान-बीन नहीं हो पाई है और इससे बौद्ध साहित्यके समान जैन साहित्यका ठीक ठीक प्रारम्भिक इतिहास नहीं बतलाया जा सकता, फिर भी श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायोंकी परम्परागत अनुश्रुतियोंके आधारसे वह इस प्रकार मालूम होता है:

महावीरके निर्वाणकी दूसरी शताब्दीमें मगधमें एक द्वादशवर्षव्यापी बड़ा भारी अकाल पड़ा। उस समय मौर्य चन्द्रगुप्त राज्य कर रहा था। अकालताड़ित होकर आचार्य भद्रबाहु अपने बहुतसे शिष्योंसहित कर्णाटक देशमें चले गये। जो लोग मगधमें रह गये उनके नेता स्थूलभद्र हुए।

स्थूलभद्रको पूर्वोक्त द्वादशाङ्गीके लुप्त हो जानेका डर हुआ, इसीलिए उन्होंने महावीर-निर्वाणके लगभग १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्रमें श्रमण-संघकी एक सभा बुलाई। उन सबके सहयोगसे सम्प्रदायके मान्य तत्त्वोंका ग्यारह अङ्गोंमें सङ्कलन किया गया। यह संग्रह 'पाटलिपुत्र-वाचना' कहलाता है। बारहवें अङ्ग दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) के १४ भागोंमेंसे, जो कि पुव्व या पूर्व कहलाते थे, अन्तिम चार पूर्व

नष्ट हो चुके थे। अर्थात् उन्हें सभी शिष्य प्रायः भूल गये थे; फिर भी जो कुछ याद था, उसका संग्रह कर लिया गया। इस सभामें भद्रबाहु उपस्थित नहीं थे।

भद्रबाहुने लौटकर देखा कि उनके वापस आये हुए दलके साथ इस दलका बड़ा भेद है। जो लोग मगधमें रह गये थे वे वस्त्र पहनने लगे थे; परन्तु भद्रबाहु और उनके शिष्य कड़ाईके साथ महावीरके नियमोंका पालन करते रहे जान पड़ता है, यहींसे जैनोंके दो सम्प्रदाय हो गये। भद्रबाहु और उनके शिष्य दिगम्बर और स्थूलभद्र और उनके शिष्य श्वेताम्बर कहलाये। इसका परिणाम यह हुआ कि दिगम्बरोंने पाटलिपुत्रकी सभाद्वारा संग्रहीत अंगों और पूर्वोंको अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि असली अंग-पूर्व तो लुप्त हो चुके हैं।

कुछ समय और बीतनेपर जान पड़ता है कि श्वेताम्बरोंका पूर्वोक्त संकलन भी अव्यवस्थित या अस्तव्यस्त हो गया और तब महावीर-निर्वाणकी छठी शताब्दीमें आर्य स्कन्दिलके आधिपत्यमें मथुरामें फिर एक सभा की गई, और फिर जो कुछ बच रहा था वह सुव्यवस्थित किया गया। इस उद्धारको 'माथुरी-वाचना' कहते हैं। इसके बाद महावीर-निर्वाणकी दसवीं शताब्दीके लगभग (सन् ई० की छठी शताब्दी) वल्लभी-नगरी (काठियावाड़) में एक और सभा की गई जिसके अध्यक्ष देवर्धिगणि क्षमाश्रमण हुए जो उन दिनों सम्प्रदायके गणधर या नेता थे। इस सभामें फिरसे ग्यारह अंगोंका संकलन हुआ। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद तो इसके पहले ही लुप्त हो चुका था। इस समय जो ग्यारह अंग उपलब्ध हैं वे देवर्धिगणिके संकलन किये हुए माने जाते हैं।

इस वर्णनसे इतना तो स्पष्ट है कि अंगोंका वर्तमान आकार छठी शताब्दीका है और इसलिए इनमें निश्चय ही महावीर स्वामीके बादकी बहुत-सी बातें घुल-मिल गई होंगी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें प्राचीन अंश है ही नहीं। असलमें संग्रह और संकलन चाहे जब क्यों न किया जाय उसमें प्राचीन अंशोंका यथासंभव सुरक्षित रखा जाना ही अधिक संगत जान पड़ता है। और फिर वल्लभीकी सभाने पाटलिपुत्र और मथुरावाली सभाके संकलनका ही संस्कार या जीर्णोद्धार किया था, कुछ नया संकलन नहीं किया था।

दिगम्बरोंके मतसे भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीको अवधारण करके उनके

प्रथम शिष्य इन्द्रभूति (गौतम) गणधरने अंग-पूर्व ग्रथोंकी रचना की* । फिर उन्हें अपने सधर्मा सुधर्मा (लोहार्य) को और सुधर्मा स्वामीने जम्बूस्वामीको दिया। जम्बूस्वामीसे अन्य मुनियोंने उनका अध्ययन किया। यह सब महावीर स्वामीके जीवन-कालमें हुआ। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन्हें पूर्वोक्त अंग और पूर्वोका सम्पूर्ण ज्ञान था। महावीर-निर्वाणके ६२ वर्ष बाद तक जम्बूस्वामीका और उनके १०० वर्ष बाद तक भद्रबाहुका समय है। अर्थात् दिगम्बर शास्त्रोंके अनुसार महावीर-निर्वाणके १६२ वर्ष बाद तक अंग और पूर्वोंका अस्तित्व रहा।

इसके बाद वे क्रमशः लुप्त होते गये और वीर-निर्वाण ६८३ तक एक तरहसे सर्वथा लुप्त हो गये। अन्तिम अंगधारी लोहार्य (द्वितीय) बतलाये गये हैं जिनको केवल एक आचारांगका ज्ञान था।

इसके बाद अंग और पूर्वोंके एकदेशके ज्ञाता और उस एकदेशके भी अंशोंके ज्ञाता आचार्य हुए जिनमें सौराष्ट्रके गिरिनगरके धरसेनाचार्यका नाम उल्लेखनीय है। उन्हें अग्रायणीपूर्वके पंचमवस्तुगत महाकर्मप्राभृतका ज्ञान था। इन्होंने अपने अन्तिम कालमें आन्ध्रदेशसे भूतबलि और पुष्पदन्त नामक शिष्योंको बुलाकर पढ़ाया और तब इन शिष्योंने विक्रमकी लगभग दूसरी शताब्दीमें षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत सिद्धान्तोंकी रचना की। ये सिद्धान्त-ग्रन्थ बड़ी विशाल टीकाओंके सहित अब तक सिर्फ कर्णाटकके मूडबि[illegible] सब मिला[illegible]स्थानमें सुरक्षित थे, अन्यत्र कहीं नहीं थे। कुछ ही समय हुआ इन[illegible]द्धमतका खण्डन [illegible]ला और जय-धवला बाहर आये हैं और उनमेंसे एक वी[illegible]र व्रत आदिका वर्णन है। [illegible] प्रकाशन आरंभ हो गया है। इस टीकाके नि[illegible]त्त्वपूर्ण हैं। उनमें ज्योतिष, भूगो[illegible], +

ऐसा मालूम होता है कि [illegible] चन्द्रप्रज्ञप्ति (दोनों प्रायः समान वर्णन[illegible] नहीं हैं। संभवतः [illegible]तिषिक साहित्यमें अपना अद्वितीय सिद्धान्त उपस्थित करती न कुछ देवर्द्धिग[illegible]र आकाशमें दिखनेवाले ज्योतिष्क पिण्ड दो दो हैं, अर्थात् दो कि आर्य सुधर्म, [illegible] वेदांग ज्योतिषकी भाँति ये दोनों ग्रन्थ खीष्टपूर्व छठी आचार्य अंगों और उ[illegible] ज्योतिष-विज्ञानके रेकर्ड हैं। सब मिलाकर जैन सिद्धान्त-

* तेनेन्द्रभूतिगणिना ते[illegible] और महत्त्वपूर्ण सामग्री बिखरी पड़ी है, पर बौद्धसाहित्यकी ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्र[illegible] ब तक देश-विदशके पण्डितोंका ध्यान आकृष्ट नहीं किया

+ कषायप्राभृत सि[illegible] बदल[illegible] प्रतिपादन-शैलीकी शुष्कता है, और कुछ उस सिवाय षट्खंडागमका [illegible]मण प[illegible] पण्डित Human Interest कहते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपपण्णतिको उपांग माना है, और दिगम्बरोंने दृष्टिवादके पहले भेद परिकर्ममें इनकी गणना की है। इसी तरह श्वेताम्बरोंके अनुसार जो सामायिक, सस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण दूसरे मूलसूत्र आवश्यकके अंश विशेष हैं उन्हें दिगम्बरोंने अंग-बाह्यके चौदह भेदोंमें गिनाया है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामक ग्रन्थ भी अंगबाह्य बतलाये गये हैं। अंगोंके अतिरिक्त जो भी साहित्य हैं, वह सब अंगबाह्य है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य भेद श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी माने गये हैं और उपांग एक तरहसे अंगबाह्य ही हैं। दिगम्बर संप्रदायमें उपांग भेदका उल्लेख नहीं है।

परन्तु उक्त अंग और अंगबाह्य ग्रन्थोंके दिगम्बर सम्प्रदायमें सिर्फ नाम ही नाम हैं; इन नामोंका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उनका कहना है कि वे सब नष्ट हो चुके हैं।

दिगम्बरोंने एक दूसरे ढँगसे भी समस्त जैनसाहित्यका वर्गीकरण करके उसे चार भागोंमें विभक्त किया है; (१) प्रथमानुयोग, जिसमें पुराण पुरुषोंके चरित और कथाग्रन्थ हैं, जैसे पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण)। (२) करणानुयोग, जिसमें भूगोल-खगोलका, चारों गतियोंका और काल-विभागका वर्णन है, जैसे त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्य-चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि। (३) द्रव्यानुयोग जिसमें जीव अजीव आदि तत्त्वोंका, पुण्य-पाप बन्ध-मोक्षका वर्णन हो, जैसे कुन्दकुन्दाचार्यके समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगम आदि। (४) चरणानुयोग, जिसमें मुनियों और श्रावकोंके आचारका वर्णन हो जैसे वट्टकेरका मूलाचार, आशाधरके सागार-अनगारधर्मामृत, समन्तभद्रका रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि। इन चार अनुयोगोंको वेद भी कहा गया है।

दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार बारह अंगोंके नाम वही हैं, जो ऊपर लिखे गये हैं। बारहवें अंग दृष्टिवादके पाँच भेद किये हैं—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। फिर पूर्वगतके चौदह भेद बतलाये हैं—१ उत्पादपूर्व, २ अग्रायणी, ३ वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान, १० [illegible], ११ कल्याण, १२ प्राणावाय, १३ क्रियाविशाल और १४ लोक-

बिन्दुसार। इन बारहों अंगोंकी रचना भगवानके साक्षात् शिष्य गणधरोंद्वारा हुई बतलाई गई है। इनके अतिरिक्त जो साहित्य है वह अंगबाह्य नामसे अभिहित किया गया है। उसके चौदह भेद हैं, जिन्हें प्रकीर्णक कहते हैं : १ सामायिक, २ संस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ विनय, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक, १४ निशीथ। इन प्रकीर्णकोंके रचयिता आरातीय मुनि बतलाये गये हैं जो अंग-पूर्वोंके एकदेशके ज्ञाता थे।

सिद्धान्तोत्तर साहित्य

देवर्धिगणिके सिद्धान्त-ग्रन्थ संकलनके पहलेसे ही जैन आचार्योंके ग्रन्थ लिखनेका प्रमाण पाया जाता है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें निश्चित रूपसे किसी आचार्यकी कृति कहा जा सकता है। बादमें तो ऐसे ग्रन्थोंकी भरमार हो गइ। साधाणतः ये ग्रंथ जैन प्राकृतमें लिखे जाते रहे, पर संस्कृत भाषाने भी सन् ईसवीके बाद प्रवेश पाया। कई जैन आचार्योंने संस्कृत भाषापर भी अधिकार कर लिया, फिर भी प्राकृत और अपभ्रंशको त्यागा नहीं गया। संस्कृतको भी लोक-सुलभ बनानेकी चेष्टा की गई। यह पहले ही बताया गया है कि भद्रबाहु महावीर स्वामीके निर्वाणकी दूसरी शताब्दीमें वर्तमान थे। कल्पसूत्र उन्हींका लिखा हुआ कहा जाता है। दिगम्बर लोग एक और भद्रबाहुकी चर्चा करते हैं जो सन् ईसवीसे १२ वर्ष पहले हुए थे। यह कहना कठिन है कि कल्पसूत्र किस भद्रबाहुकी रचना है। कुन्दकुन्दने प्राकृतमें ही ग्रन्थ लिखे हैं। इनके सिवाय उमास्वामी या उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, विमलसूरि, पालित्त, आदि आचाय सन् ईसवीके कुछ आगे-पीछे उत्पन्न हुए, जिनमेंसे कई दोनों सम्प्रदायोंमें समान भावसे आहत हैं। पाँचवीं शताब्दीके बाद एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैयाकरण हुए जिन्हें देवनन्दि (पूज्यपाद) कहते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दी दर्शनके इतिहासमें अपनी उज्ज्वल आभा छोड़ गई। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्टका जन्म इन्हीं शताब्दियोंमें हुआ, जिन्होंने बौद्ध और जैन आचार्यों (विशेषकर समन्तभद्र और अकलंक) पर कटु आक्रमण किया तथा बदलेमें जैन आचार्यों (विशेष रूपसे प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द)द्वारा प्रत्याक्रमण पाया। इन्हीं शताब्दियोंमें सुप्रसिद्ध आचार्य शंकर

स्वामी हुए जिन्होंने अद्वैत वेदान्तकी प्रतिष्ठा की। इस शताब्दीमें सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए जो ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न होकर समस्त ब्राह्मण शास्त्रोंके अध्ययनके बाद जैन हुए थे। इनके लिखे हुए ८८ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जिनमें बहुतसे छप चुके हैं।

बारहवीं शताब्दीमें प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्रका प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनोंमें समान भावसे कलम चलाई। इन नाना विषयोंमें, नाना भाषाओंमें और नाना मतोंमें अगाध पांडित्य प्राप्त करनेके कारण इन्हें शिष्यमण्डली 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करती थी। इस शताब्दीमें और इसके बाद भी जैनग्रन्थों और टीकाओंकी बाढ़-सी आ गई। इन दिनोंकी लिखी हुई सिद्धान्त-ग्रंथोंकी अनेक टीकाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। असलमें यह युग ही टीकाओंका था; भारतीय मनीषा सर्वत्र टीकामें व्यस्त थी।

विमलसूरिका पउमचरिय (पद्मचरित) नामक प्राकृत काव्य, जो शायद सन् ईसवीके आरम्भकालमें लिखा गया था, काफी मनोरंजक है। इसमें रामकी कथा है जो हिन्दुओंकी रामायणसे बहुत भिन्न है। ग्रन्थमें वाल्मीकिको मिथ्यावादी कहा गया है। इसपरसे यह अनुमान करना असंगत नहीं कि कविने वाल्मीकिकी रामायणको देखा था। दशरथकी तीन रानियोंमें कौशल्याके स्थानपर अपराजिता नाम है जो पद्म या रामकी माता थीं। दशरथके बड़े भाई थे अनन्तरथ। ये जैन साधु हो गये थे, इसीलिए दशरथको राज्य लेना पड़ा। जनकने अपनी कन्या सीताको रामसे व्याहनेका इसलिए विचार किया था कि राम (पद्म) ने म्लेच्छोंके विरुद्ध जनककी सहायता की थी। परन्तु विद्याधर लोग झगड़ पड़े कि सीता पहलसे उनके राजकुमार चन्द्रगतिकी वाग्दत्ता थी। इसी झगड़ेको मिटानेके लिए धनुषवाली स्वयंवर सभा हुई थी। अन्तमें दशरथ जैन भिक्षु हो गये। भरतकी भी यही इच्छा थी, पर राम और कैकेयीके आग्रहसे वे तबतकके लिए राज्य सँभालनेको प्रस्तुत हो गये जबतक पद्म (राम) न लौट आवें। आगेकी कथा प्रायः सब वही है। अन्तमें रामको निर्वाण प्राप्त होता है। यहाँ राम संपूर्ण जैन वातावरणमें पले हैं।

सन् ६७५ में रविषेणने संस्कृतमें जो पद्मचरित लिखा वह विमलके प्राकृत पउमचरियका प्रायः संस्कृत रूपान्तर या अनुवाद है। शिलांणभद्र भदन्तके उत्तर-

पुराणके ६८ वें पर्वमें और हेमचन्द्रके त्रिषष्टिशलाका-पुरुष चरितके ७ वें पर्वमें भी यह कथा है। हेमचन्द्रकी कृतिको जैन-रामायण भी कहते हैं। रामायणकी भाँति महाभारतकी कथा भी जैन ग्रंथोंमें बार बार आई है। सबसे पुराना संघदास गणिका वसुदेवहिण्डी नामक विशाल ग्रंथ प्राकृत भाषामें है और संस्कृतमें शायद पुन्नाट-संघके आचार्य जिनसेनका ६६ सर्गी हरिवंशपुराण है। सकलकीर्ति आदि और भी अनेक विद्वानोंने हरिवंशपुराण लिखे हैं। इसी तरह १२००ई० में मलधारि देवप्रभसूरिने पाण्डवचरित नामक एक काव्य लिखा था जो महाभारतका संक्षिप्त रूप है। १६ वीं शताब्दीमें शुभचन्द्रने एक पाण्डवपुराण, जिसे जैन महाभारत भी कहते हैं; लिखा था। अपभ्रंश भाषामें तो महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, स्वयंभु पुष्पदंत आदि अनेक कवियोंने लिखे हैं।

जैन पुराणोंके मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ महापुरुषोंके चरित्र हैं। इनमें २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव हैं। इन चरित्रोंके आधारपर लिखे गये ग्रंथोंको दिगंबर लोग साधारणतः 'पुराण' कहते हैं और श्वेताम्बर लोग 'चरित'। पुराणोंमें सबसे पुराना त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (संक्षेपमें महापुराण) है जिसके आदिपुराण और उत्तरपुराण; ऐसे दो भाग हैं। आदिपुराणके अंतिम पाँच अध्यायोंको छोड़कर बाकीक लेखक जिनसेन (पंचस्तूपान्वयी) हैं तथा अंतिम पाँच अध्याय और समूचा उत्तरपुराण उनके शिष्य गुणभद्रका लिखा हुआ है। पुराणोंकी कथाएँ बहुधा राजा श्रेणिक (बिम्बि-सार) के प्रश्न करनेपर गौतम गणधरद्वारा कहलाई गई हैं। महापुराणका रचनाकाल शायद सन् ईसवीकी नवीं शताब्दी है। इन पुराणोंसे मिलते हुए श्वेताम्बर चरितोंमें सबसे प्रसिद्ध है हेमचन्द्रका त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, जिसे आचार्यने स्वयं महाकाव्य कहा है। इस अंशकी बहुत-सी कहानियाँ यूरोपि-यनोंके मतसे विश्व-साहित्यमें स्थान पाने योग्य हैं। वीरनन्दिका चन्द्रप्रभचरित, वादिराजका पार्श्वनाथचरित, हरिचन्द्रका धर्मशर्माभ्युदय, धनंजयका द्विसन्धान, वाग्भटका नेमिनिर्वाण, अभयदेवका जयन्तविजय, मुनिचन्द्रका शान्तिनाथचरित, आदि उच्च कोटिके महाकाव्य हैं। ऐसे भी चरित हैं जो ६३ पुराणपुरुषोंके अतिरिक्त अन्य प्रद्युम्न, नागकुमार, वरांग, यशोधर, जीवंधर, जम्बूस्वामी, जिनदत्त, श्रीपाल आदि महात्माओंके हैं और इनकी संख्या काफी अधिक है।

पार्श्वनाथचरितको अवलम्बन करके लिखे गये काव्योंकी भी संख्या कम नहीं है। वादिराज, असग, वादिचन्द्र, सकलकीर्ति, माणिक्यचन्द्र, भावदेव और उदयवीरगणि आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर कवियोंने इस विषयपर खूब लेखनी चलाई है।

जैनोंके साहित्यका एक महत्त्वपूर्ण अंग प्रबन्ध हैं, जिन्हें ऐतिहासिक विवृत्तियाँ कह सकते हैं। चन्द्रप्रभसूरिका प्रभावकचरित, मेरुतुङ्गका प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०६ ई०), राजशेखरका प्रबन्ध कोष (१३०८ ई०), जिन-प्रभसूरिका तीर्थकल्प (१३२६-३१ ई०) आदि रचनाएँ नाना दृष्टियोंसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन प्रबन्धोंने इस बातको असिद्ध कर दिया है कि भारतीयोंमें ऐतिहासिक दृष्टिका अभाव था। इसी प्रकार जैन मुनियोंकी लिखी कहानियोंकी पुस्तकें भी काफ़ी मनोरंजक हैं। पालित्त (पादलिप्त) सूरिकी तरङ्गवती कथा काफ़ी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्रका प्राकृत गद्यकाव्य समराइच्च-कहा एक धार्मिक कथाग्रन्थ है। इसी तरहकी 'कुवलयमाला' कथा भी है जिसके रचयिता दाक्षिण्यचिह्न उद्योतन सूरि हैं (आठवी शताब्दी)। इसीके अनुकरण-पर सिद्धर्षिने संस्कृतमें उपमितिभव-प्रपञ्चाकथा लिखी थी (९०६ ई०)। धनपालका अपभ्रंश काव्य 'भविसयत्त-कहा' काफ़ी प्रसिद्ध है। ऐसी और भी अनेक कथाएँ लिखी गई हैं। यद्यपि ये धर्म-कथायें कही जाती हैं, पर अधिकांशमें काल्पनिक कहानियाँ हैं। चम्पू जातिके काव्य भी जैन साहित्यमें बहुत अधिक हैं। सोमदेवका यशस्तिलक (९५९ ई०) काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका है। हरिचन्द्रका जीवन्धरचम्पू, अर्हद्दासका पुरुदेवचम्पू (१३ वीं सदी) आदि इसी जातिकी रचनाएँ हैं। धनपालकी तिलक-मञ्जरी (९७० ई०), ओडयदेव (वादीभसिंह) की गद्यचिन्तामणि, कादम्बरीके ढङ्गके गद्य-काव्य हैं (११ वीं सदी)। इनके अतिरिक्त कहानियोंकी और भी दर्जनों पुस्तकें हैं जिनका मूल उद्देश्य जैनधर्मकी महिमा वर्णन करना है। कथाओंके कई संग्रह भी हैं जो कथाकोश कहलाते हैं। इनमें पुन्नाटसंघके आचार्य हरिषेणका कथाकोश सबसे पुराना है (ई०स० ९३२)। प्रभाचन्द्र, नेमिदत्त ब्रह्मचारी, रामचन्द्र मुमुक्षु आदिके कथाकोश अपेक्षाकृत नवीन हैं।

श्रीचन्द्रका एक कथाकोष अपभ्रंश भाषामें भी है। ऐसे ही जिनेश्वर, देवभद्र, राजशखेर, हेमहंस आदिके कथा-ग्रन्थ हैं। यह साहित्य इतना विशाल है कि इस

क्षुद्रकाय परिचयमें सबका नाम देना भी मुश्किल है। नाना दृष्टियोंसे, विशेषकर जनसाधारणके जीवनके सम्बन्धमें जाननेके लिए इन ग्रंथोंका बहुत महत्त्व है।

जैन आचार्योंने नाटक भी लिखे हैं जिनमेंके अधिकांश असाम्प्रदायिक हैं। हेमचन्द्राचार्यके शिष्य रामचन्द्रसूरिके कई नाटक हैं। नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय, निर्भय-भीम-व्यायोग आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, इन्होंने १०० प्रकरण-ग्रन्थ लिखे थे। विजयपालके द्रौपदी-स्वयंवर, हस्तिमल्लके विक्रान्त-कौरव और सुभद्राहरणमें भी महाभारतीय कथाओंको नाटकका रूप दिया गया है। हस्तिमल्लिने रामायणकी कथाका आश्रय लेकर मैथिलीकल्याण और अंजनापवनंजय नामक दो और नाटक लिखे हैं। यशश्चन्द्रका मुद्रित-कुमुदचन्द्र एक साम्प्रदायिक नाटक है जिसमें कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर पंडितका श्वेतांबर पंडितसे पराजित होना वर्णन किया गया है (११२४ ई०)। वादिचन्द्रसूरिका ज्ञानसूर्योदय श्रीकृष्ण मिश्रके सुप्रसिद्ध 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटकके ढङ्गका, एक तरहसे उसके उत्तर रूपमें लिखा हुआ, नाटक है। जयसिंहका हम्मीर-मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक है। सन् १२०३ ई० के आसपास यशःपालने मोहराज-पराजय नामक रूपक लिखा था। मेघप्रभाचार्यका धर्माभ्युदय काफ़ी मशहूर है।

काव्य-नाटकोंके सिवा जैन कवियोंने हिन्दू और बौद्ध आचार्योंकी भाँति एक बहुत बड़े स्तोत्र-साहित्यकी भी रचना की है। नीति-ग्रन्थोंकी भी जैनसाहित्यमें कमी नहीं है। राष्ट्रकूट अमोघवर्षकी प्रश्नोत्तर-रत्नमालाको ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी अपनी सम्पत्ति मानते हैं। इसके सिवाय प्राकृत और संस्कृतमें जैन पण्डितोंके लिखे हुए विविध नीतिग्रन्थ बहुत अधिक हैं। दिगम्बर आचार्य अमितगतिके सुभाषितरत्नसन्दोह, योगसार और धर्मपरीक्षा (१०९३) महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें सभी जैन-प्रिय विषय हैं: वैराग्य, स्त्री-निन्दा, ब्राह्मण-निन्दा, त्याग इत्यादि। हेमचन्द्रका योगशास्त्र और शुभचन्द्रका ज्ञानार्णव बहुत लोकप्रिय ग्रंथ हैं। और भी अनेक नीतिग्रन्थ हैं जिनमें सोमप्रभके कुमार-पालप्रतिबोध, सूक्तिमुक्तावली और शृङ्गारवैराग्यतरङ्गिणी, चारित्रसुन्दरका शीलदूत (१४२० ई०), समयसुन्दरकी गाथासाहस्री (१६३० ई०) प्रसिद्ध हैं।

लेकिन जैन आचार्योंका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हैं उनकी दार्शनिक सैद्धान्तिक उक्तियाँ। यह जानी हुई बात है कि इन पण्डितोंने न्यायशास्त्रको पूर्णतातक पहुँचानेमें बहुत बड़ा काम किया है। इनमें सबसे प्राचीन आचार्य जो दोनों

सम्प्रदायोंमें आदृत होते हैं, समन्तभद्र और सिद्धसेन हैं। कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनन्दि, अकलंक, प्रभाचन्द, वादिराज, सोमदेव, आशाधर आदि दिगंबर आचार्योंने भारतीय चिन्ताधाराको बहुत अधिक समृद्ध किया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्योंमें हरिभद्र, मल्लवादी, वादिदेवसूरि, मल्लिषेण, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय आदिने जैनदर्शनपर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं जो निश्चित रूपसे भारतीय पाण्डित्यका भूषण हैं। इन दार्शनिक ग्रन्थोंके सिवाय जैन सम्प्रदायके बाहर नाना क्षेत्रोंमें जैसे काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयोंपर भी जैन आचार्योंने लिखा है। बौद्धोंकी अपेक्षा वे इस क्षत्रमें अधिक असाम्प्रदायिक हैं। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तामिल और विशेषरूपसे कन्नड़ी साहित्यमें भी उनका दान अत्यधिक है। कनडी साहित्यपर तो ईसाकी तेरहवीं शताब्दी तक जैनोंका एकाधिपत्य रहा है। कनड़ीके उपलब्ध साहित्यके लगभग दो तिहाई ग्रन्थ जैन विद्वानोंके रचे हुए हैं। इस प्रकार भारतीय चिन्ताकी समृद्धिमें यह सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है।

६

कवि-प्रसिद्धियाँ

१ कवि-समय और काव्य-समय

'कवि-समय' शब्दका अर्थ है कवियोंका आचार या सम्प्रदाय। इस शब्दका प्रयोग सबसे पहले राजशेखरने किया था। उनका मतलब यह था कि यद्यपि देश-काल आदिके विरुद्ध विषयोंका वर्णन करना कवित्वका दोष है, तथापि कुछ ऐसी बातें कविजन परम्परासे वर्णन करते आये हैं जिन्हें निर्दोष मान लेना उचित है। 'कवि-समय' शब्दसे मिलता-जुलता एक और शब्द अलंकार-शास्त्रमें प्रयुक्त हुआ है, वह है 'काव्य-समय'। इस शब्दका प्रथम, और शायद अन्तिम भी, प्रयोग वामनके 'अलंकार-सूत्र' में पाया जाता है। (काव्यालंकार-सूत्र ५-१) किन्तु इन दोनों शब्दोंके प्रयोग अलग अलग अर्थोंमें हुए हैं। वामनके मतसे लोक-शास्त्रके विरुद्ध अर्थोंका प्रयोग ही काव्य-समय है। इसका अन्तर्भाव बादके किये हुए आलंकारिकोंके दोष-प्रकरणमें हो जाता है। भामह और दण्डीने 'काव्य-समय' शब्दका प्रयोग नहीं किया है, परन्तु 'दोष' शब्दसे उनका भी अभिप्राय, देश, काल, कला, न्याय और आगमका विरोधी और प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तसे हीन होना है। (भामह ४-२) राजशेखर यह तो मानते हैं कि अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थोंका निबन्धन दोष है, पर उनका कहना यह है

करके, देशान्तर और द्वीपान्तरका परिभ्रमण करके निश्चित कर गये हैं। देश-कालवश उनका यदि व्यतिक्रम हो भी गया हो तो उन्हें अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

काव्यमीमांसाके देखनेसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राजशेखर स्वयं प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षक थे और उनके मतसे प्राकृतिक निरीक्षणका अभाव कविका महान् दोष था। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि जो कवि अनुसंधान नहीं करता, उसके गुण भी दोष हो जाते हैं और जो सावधान रहता है, उसके दोष भी गुण हो जाते हैं। (काव्यमीमांसा अ० १८) काव्यमें इसी निरीक्षणको प्रवृत्त करनेके लिए उन्होंने काव्य-मीमांसामें देश-कालविभागकी सुंदर अवतारणा की है। कविसमयवाला अध्याय उनके अनुसन्धानका ही फल है। कवियोंके काव्यमें जो कविसमय सुप्तकी तरह पड़ा हुआ था, उसे उन्होंने यथाबुद्धि जगा दिया। (काव्यमीमांसा अ० १६ पृ० ८९) बादके आलंकारिकोंमेंसे कितनोंहीने आँख मूँद कर उनका अनुकरण किया है। इनमें अजितसेनका अलंकार-चिन्तामणि (पृ० ७-८), अमरकी काव्य-कल्पलतावृत्ति (द्वितीय प्रतान, पृ० ३०-३१) और देवेश्वरकी कवि-कल्पलता (पृ० ४०-४२) उल्लेखयोग्य है। केशव मिश्रका अलङ्कारशेखर इस दिशामें यद्यपि राजशेखरके प्रदर्शित मार्गपर ही चलता है, पर उसमें अनेक अन्य विषयोंका भी समावेश है। राम तर्कवागीशने साहित्य-दर्पणकी टीकामें हूबहू अलंकारशेखरकी बातें ही उद्धृत कर दी हैं।

साहित्यदर्पणके दोषप्रकरणमें विश्वनाथने भी कवि-समय (आख्यात) का उल्लेख किया है। (साहित्यदर्पण ७-२३, २४, २५) इसकी और काव्यमीमांसाकी प्रायः सभी बातें मिलती हैं। पर कुछ विशेष बातें भी हैं। विश्वनाथने शायद सर्वप्रथम कविसमयके प्रसङ्गमें वृक्षदोहदका उल्लेख किया है। इसके बाद अलंकारशेखरमें केशव मिश्रने भी अशोक और बकुलके दोहदोंको कविसमयके अन्तर्गत स्वीकार किया है।

२ वृक्ष-दोहद

'दोहद' शब्दका अर्थ गर्भवतीकी इच्छा है। कहा गया है
शब्दका, जिसका अर्थ इसीसे मिलता है, प्राकृत रूप है। क
शब्द ही संस्कृतभाषामें गृहीत हो गया। वृक्षके साथ 'दोहद
अर्थमें प्रयुक्त होता है। शब्दार्णवके अनुसार कुशल व्यक्तियों द्व

प्रभृतिमें जिन द्रव्यों और क्रियाओंसे अकालमें ही पुष्पोद्गम कराया जाता है, उसे दोहद कहते हैं। (मेघदूत २-१७ पर मल्लि-टीका), नैषधीय चरित, (नै०२-२१) रघुवंश (१० ८-६२) और मेघदूतमें इसी अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है। संस्कृत काव्य और मूर्ति तथा चित्राशिल्पमें स्त्रियोंके पदाघातसे अशोक वृक्षके पुष्पित होनेकी बहुत चर्चा है। इसके बाद बकुल वृक्षके दोहदका उल्लेख है। बकुल स्त्रियोंकी मुख-मदिरासे सिंचकर पुष्पित हो जाता है। कालिदासके ग्रंथोंमें अशोक और बकुल इन दो वृक्षोंके दोहदका ही उल्लेख है। मल्लिनाथने मेघदूत २-१७की टीकामें अशोक और बकुलके अतिरिक्त अन्य कई वृक्षोंके दोहदकी भी उल्लेख किया है। इस श्लोकमें स्त्रीके विभिन्न अंगों और क्रियाओं-के संस्पर्शस प्रियंगु, बकुल, अशोक, तिलक, कुरबक, मन्दार, चम्पक, आम, नमेरु और कर्णिकारके पुष्पित होनेकी बात है (तत् तत् प्रकरण देखिए)। इस वृक्षदोहदको मल्लिनाथ 'कवि-प्रसिद्धि' कहते हैं, पर काव्यमीमांसा या उसके अनुयायी ग्रन्थोंमें वृक्षदोहद सम्बन्धी 'कवि-समय' की बिल्कुल चर्चा नहीं हैं। केवल साहित्य-दर्पण और अलङ्कार-शेखर अशोक और बकुलसम्बन्धी कवि-प्रसिद्धियोंका उल्लेख करते हैं। काव्यमीमांसामें कवि-समयके प्रकरणमें वृक्षदो-हदका उल्लेख न होनेपर भी उसी ग्रन्थसे अशोक, बकुल, तिलक और कुरवक-सम्बन्धी प्रसिद्धियोंका समर्थन होता है[1]। जान पड़ता है कि राजशेखर इस बातको देश-कालविरुद्ध नहीं मानते थे। मल्लिनाथने कुमारसंभव, (३, २६)की टीकामें अन्यत्र वृक्षदोहद-संबंधी कविप्रसिद्धियोंके प्रसङ्गमें उपर्युक्त चार वृक्षोंका चर्चापरक एक संग्रहश्लोक उद्धृत किया है। ऐसा जान पड़ता है कि राजशेखरको

---

१ काव्यमीमांसाके तेरहवें अध्यायमें ये दो श्लोक उद्धृत हैं—

कुरवक कुचाघात-क्रीड़ारसेन वियुज्यसे।
बकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम्॥
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
मिति निजमपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुःस्त्रियः॥
मुखमदिरया पादन्यासैर्विलास-विलोकितै-
र्बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा तिलकद्रुमः॥
जलनिधितटीकान्तराणां क्रमात् ककुभां जये।
झगिति गमिता यद्वर्ग्याभिर्विकासमहोत्सवम्॥

इसी संग्रहश्लोकसे परिचय था। जो हो, संस्कृत साहित्यमें वृक्षदोहदसंबंधी प्रसिद्धियोंमें इन चार वृक्षोंकी ही विशेष रूपमें चर्चा है। मूर्तियों और भित्ति-चित्रों आदिमें केवल अशोकका पुष्पोद्गम ही चित्रित मिलता है (दे० शीर्षक ३)। अन्य वृक्षोंके दोहद हमें देखनेको नहीं मिले। केवल एक चित्र देखकर तिलकका सन्देह होता है। उपयुक्त स्थलपर इसकी चर्चा की जायगी।

२ वृक्ष-दोहदका मूल

वृक्षदोहद भारतीय साहित्य और शिल्पमें एक विचित्र चीज है। इसका रहस्य अतीतके धुँधले प्रकाशमें आच्छन्न है। आगे इसे समझनेकी चेष्टा की जा रही है।

इस रहस्यको समझनेके लिए एक विस्मृत इतिहासपर धैर्यके साथ दृष्टिपात करना होगा। विक्रमके सैकड़ों वर्ष पहले भारतवर्षमें एक समृद्ध आर्येतर सभ्यता वर्तमान थी। आर्योंकी राजनीतिक और भाषा-सम्बन्धी विजयके बाद यह जाति भी धीरे धीरे उनकी छत्रछायाके अन्दर आ गई। पर इसके पहले आर्योंके साथ इसका पर्याप्त संघर्ष हुआ होगा। राजनीतिक दृष्टिसे इसकी विजय हुई हो या पराजय, परन्तु भारतीय साहित्य और शिल्पपर इस जातिने अपनी ऐसी अमिट छाप लगा दी है कि हजारों वर्षकी निरन्तर उपेक्षाके बाद भी वह अपने सम्पूर्ण रस-सौन्दर्यके साथ जीवित है। हमारा मतलब यक्षों और नागोंसे है।

शायद यूरोपियन पंडितोंमें फर्गुसनने ही पहले पहल विद्वत्ताके साथ यक्षों और नागोंके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्वकी ओर पंडित-मंडलीका ध्यान आकृष्ट किया। अपनी पुस्तक 'ट्री ऐण्ड सर्पेण्ट वरशिप' (वृक्ष और साँपोंकी पूजा) म उन्होंने कहा कि यक्ष और नाग, जो क्रमशः उर्वरता और वृष्टिके देवता माने गये थे, एक जातिवर्ण-हीन दस्यु या असुर जातिके उपास्य थे। क्रमशः ज्यों ज्यों फर्गुसनके मतकी आलोचना होने लगी त्यों त्यों नये नये रहस्य प्रकट होते गये। इस सिलसिलेमें दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं: वोगेल(Vogel) की 'इण्डियन सर्पेण्ट लोर' और ए० के० कुमार स्वामीका ' यक्ष '. (दो भाग)। दूसरी पुस्तकमें प्राचीन साहित्य और मूर्ति-शिल्पके विस्तृत अध्ययनसे इस

अट्ठारहवें अध्यायके वसन्त-वर्णनमें यह श्लोक है—

नालिंगितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो नो ताडितश्च सुदृशां चरणैरशोकः।
सिक्तो न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः॥

विषयको प्रकाशमें लाया गया है।

अध्ययनोंसे इस बातका पर्याप्त खुलासा हुआ है कि वरुण नामक वैदिक देवताका सम्बन्ध गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसे रहा है। स्वयं ऋग्वेदने ही (७-६५-२) वरुणको असुर कहा है। वाजसनेयी संहिता (३-१५२) में भी वरुण असुरों और देवोंपर राज्य करते उल्लिखित हैं। शतपथ ब्राह्मण (४-३. ७-८) में वरुणको गंधर्वोंका और सोमको अप्सराओंका राजा बताया गया है। उत्तरकालीन हिन्दू धर्मग्रन्थोंमें वरुणको केवल पश्चिम दिशाका दिक्पाल स्वीकार किया है। कुबेर, जो एक युगमें वरुणके अधीन माने जाते थे, उत्तर दिशाके दिग्पाल माने जाने लगे। पूर्ववर्ती ग्रन्थों और विशेषकर जैन और बौद्ध आगमोंसे जाना जाता है कि कुबेर, सोम आदि यक्षपति देवाधिदेव वरुणके अधीन देवता थे। बौद्ध आगमोंके अनुसार वेस्सण (वैश्रवण—कुबेर) उत्तरके, धतरट्ठ (धृतराष्ट्र) पूर्वके, विरूढक दक्षिणके और विरूपक्ख (विरूपाक्ष) पश्चिमके दिग्पाल हैं। इनके अधीनस्थ यज्ञोंमें कुम्भाण्ड, गन्धर्व, अप्सरस् और नाग ये जातियाँ हैं जो जल वृक्षकी अधिष्ठात्री देवता हैं। ऊपर बताये हुए चारों दिग्पालोंकी मूर्तियाँ भरहुतमें पाई गई हैं और उनका नाम देकर उन्हें यक्ख अर्थात् यक्ष कहा गया है। किस प्रकार बादको वरुणका स्थान इन्द्रने ले लिया और किस प्रकार गन्धर्व और अप्सराएँ वरुणके हाथसे च्युत होकर इन्द्रके दरबारकी गायक-गायिकाएँ भर बनी रह गईं, यह बात मनोरंजक होनेपर भी यहाँ अप्रासंगिक है। फिर भी, कविसमय और वृक्षदोहदके अध्ययनमें ये बातें बहुत सहायक हैं, अतएव उनकी कुछ चर्चा करना यहाँ आवश्यक है।

यद्यपि यक्षों और नागोंके देवता कुबेर, सोम, अप्सरस् और अधिदेवता वरुण दिग्पालके रूपमें ब्राह्मण ग्रंथोंमें ही स्वीकृत हो चुके थे, पर बादके साहित्यमें यक्ष और यक्षिणी अपदेवता समझे जाने लगे थे। उनका पुराना पद (जल और वृक्षोंका अधिपतित्व) किसी न किसी रूपमें रामायण और महाभारतमें स्वीकृत है। महाभारतमें ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियाँ वृक्षोंके अपदेवता यक्षोंके पास सन्तान-कामनासे जाती थीं। वस्तुतः यक्ष और यक्षिणी मूल रूपमें उर्वरताके ही देवता थे। भरहुत, बोधगया, साँची, मथुरा आदिमें सन्तानार्थिनी स्त्रियोंके इस प्रकार वृक्षके पास जाकर यक्षोंसे वर प्राप्त करनेकी मूर्तियाँ बहुत अधिक पाई गई हैं। इन वृक्षोंके पास अंकित स्त्रियाँ

प्रायः नग्न उत्कीर्ण हैं, केवल कटि-देशमें एक चौड़ी मेखला पहने हुए हैं। वृक्षोंमें अधिकतर न्यग्रोध, प्लक्ष, अश्वत्थ, उदुम्बर आदि वृक्ष ही उत्कीर्ण हैं।

इन वृक्षोंमें सर्वाधिक रहस्यमय वृक्ष अशोक है। जिस प्रकार वृक्षदेवता स्त्रियोंमें दोहद-संचार करते थे, उसी प्रकार सुन्दरी स्त्रियोंकी अधिष्ठात्री यक्षिणियाँ स्त्री-अंगके संस्पर्शसे वृक्षोंमें भी दोहद-संचार करती थीं। अशोकषष्ठी और अशोकाष्टमी व्रतमें अशोक वृक्षकी पूजा सन्तान-कामिनी होकर करनेका विधान है। चैत्र शुक्ला अष्टमीको अशोककी आठ कोमल पत्तियाँ भक्षण करनेसे दोहदसञ्चार होना धर्मग्रन्थोंसे स्पष्ट है (निर्णयसिंधु, तिथितत्त्व आदि)। अशोक वृक्षोंमें दोहद-संचार करती हुई स्त्रियोंकी मूर्तियाँ भारतीय शिल्पकलाकी अति-परिचित बात है। मथुरा म्यूजियममें एक ऐसी उत्कीर्ण मूर्ति-सुरक्षित है जिसमें एक यक्षिणी अशोक वृक्षकी शाखा पकड़े खड़ी है और पादाघातसे अशोकको कुसुमित कर रही है। तंजोरके सुब्रह्मण्यम् मन्दिरके द्वारपर एक यक्षिणी-मूर्ति अशोकमें दोहद उत्पन्न करती हुई उत्कीर्ण है। इसका वाहन मकर है और हाथमें लीलाशुक है। मथुराकी एक मकरवाहना यक्षिणी-मूर्ति आजकल लखनऊ म्यूज़ियममें सुरक्षित है। यह भी अशोक वृक्षमें दोहद उत्पन्न करती हुई उत्कीर्ण है। एक इसी प्रकारकी मूर्ति बोस्टनकी ललित-कला-प्रदर्शनी (म्यूज़ियम आफ फाइन आर्ट्स) में रखी हुई है। यह भी मथुरामें पाई गई थी और समयके हिसाबसे ईसासे लगभग दो सौ वर्ष पुरानी है। सम्भवतः पुन्नाग (तिलक ?) वृक्षमें दोहदोत्पादिनी एक मूर्ति कलकत्ता म्यूजियममें है जो भरहुतके एक रेलिंग पिलरपर उत्कीर्ण थी। इसका समय भी सन् ईसवीके लगभग दो सौ वर्ष पूर्व है। ऐसी और भी अनेक मूर्तियाँ नाना प्रदर्शनियोंमें सुरक्षित हैं।

भरहुत, साँची, मथुरा आदिमें प्राप्त यक्षिणी-मूर्तियोंका शरीरगठन और बनावट देख कर इस बातमें सन्देह नहीं रह जाता कि ये स्त्रियाँ पहाड़ी जातिकी हैं। असलमें यक्ष और नागपूजक जातियाँ उत्तरकी रहनेवाली थीं। सारे उत्तर भारतमें प्राचीन शिल्पकार्य इन्हीं जातियोंकी कृतियाँ हैं। गुप्त कालमें जब कि भारतीय सभ्यता आर्य और आर्येतर सभ्यताओंके मेलसे नये रूपमें समृद्ध हो उठी, काव्य और शिल्पमें यक्षों और नागोंका सम्पूर्ण ग्रहण हुआ।

४ गन्धर्व, अप्सराएँ और कवि-प्रसिद्धियाँ

पूर्व वैदिक युगमें गन्धर्व और अप्सराएँ एकदम अपरिचित थीं। धीरे धीरे

उत्तर वैदिक कालमें आर्य लोग इन्हें लक्ष्य करने लगे। सोम इन्हीं गन्धर्वोंके हाथमें था (शत० ३-३-३-११)। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार यज्ञमें इन्द्रका प्रतिनिधि गंधर्वोंसे सोम क्रय करता है। कुमार स्वामीने प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया है कि गन्धर्व वृक्षोंके अधिष्ठाता और अप्सराएँ उर्वरताकी अधिष्ठात्री देवियाँ मानी जाती थीं (यक्ष, प्रथम भाग—पृ० ३२-३३)। हम यक्ष और यक्षियोंके वृक्ष और उर्वरताकी अधिष्ठात्री होनेकी चर्चा कर चुके हैं। असलमें यक्ष और यक्षिणी और गंधर्व और अप्सरा एकार्थवाचक देवता हैं। शुरूमें ये कुबेरके अनुचर माने जाते थे। पर जब हिन्दूधर्ममें इस प्रकारकी प्रवृत्ति आई कि आर्येतर देवताओंमें जो उत्तम हैं वह इन्द्रके पास होना चाहिए (और भी बादमें ये वस्तुएँ उपेन्द्र या विष्णुकी होने लगीं) तो गन्धर्व और अप्सरस तो इन्द्रके अनुचर हो गये और साधारण अर्थवाचक यक्ष और यक्षिणी कुबेरके अनुचर माने जाते रहे। यहाँ एक बात कह रखना आवश्यक है कि शतपथ ब्राह्मण (९-४-१-२ और ४) के अनुसार गंधर्व और अप्सराएँ मिथुन रूपमें प्रजापतिसे उत्पन्न हुई थीं। उर्वशीकी कहानीके प्रसंगमें शतपथमें (११-५-१-४) अप्सराओंको हंसिनीके रूपमें पानीमें तैरते वर्णन किया गया है।

प्राचीन विश्वासके अनुसार वरुण समुद्रके देवता हैं, और सारी सृष्टि इसी देवाधिदेवसे उत्पन्न हुई है। समुद्र और जलके देवता होनेके कारण वरुणका वाहन मकर है। उनकी स्त्री गौरीका वाहन भी मकर है। अग्निपुराण (५१ अध्याय) में वरुणको मकरवाहन कहा गया है और विष्णुधर्मोत्तर (२-५२) में मकरकेतन। वरुणका मकरवाहन होना अनेक प्राचीन मूर्तियों और चित्रोंमें अंकित है[1]। बादामी, मैसूर और भुवनेश्वरके लिंगराज मंदिरकी अनेक मूर्तियाँ इस बातका प्रमाण हैं।

हरिवंश और भागवतके अनुसार श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्न कामदेवके अवतार हैं। विष्णुधर्मोत्तर (३-५८) के अनुसार कामदेव और उनकी स्त्री रति क्रमशः वरुण और उनकी पत्नी गौरीके अवतार हैं। यहाँ वरुणको मकरवाहन न कह कर मकरकेतन कहा गया है। जैन आगमोंसे स्पष्ट है कि कामदेव एक यक्षाधिप

---

१ ए० के० कुमारस्वामी निम्नलिखित प्लेटोंको देखनेको कहते हैं: Banerji, R. D. Bas Relief of Badami Mem. A. S. I. 25, Plates XI, XXIc. XXXIII a और e इत्यादि।

(उत्तराध्ययन टीका जैकोबी पृ० ३९) थे। वेस नगरमें शुंगका (तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) का एक मकरध्वज स्तंभ तीन फुट ऊँचा पाया गया है जो ग्वालियर म्यूज़ियममें सुरक्षित है[1]। बदामीमें[2] रातके साथ मकरवाहन और मकर-केतन काममूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। पंडितोंका, इसीलिए, अनुमान है कि कामदेव और यक्षाधिपति वरुण मूलतः एक ही देवता हैं। और नहीं तो कमसे कम एक ही देवताके दो भिन्न रूप तो हैं ही (बुद्धचरित १३–२)। बौद्ध मार यक्ष कामदेवका रूप है ही। पौराणिक आख्यानोंसे यह प्रकट ही है कि कामदेवके प्रधान सहायक गंधर्व और अप्सराएँ हैं। कामदेव स्वयं उर्वरता और प्रजननके देवता हैं। यक्षों और यक्षियोंका संबंध सदा वृक्षों और जलाशयोंसे रहा है। इसी लिए कामदेव भी स्वभावतः वृक्षोंके देवता सिद्ध होते हैं। वसन्त उनका मित्र है जो वृक्षोंमें नव-जीवन सञ्चार किया करता है, धनुष्य और वाण उनके पुष्पमय हैं।

मकरका भारतीय संस्कृति और काव्यकलामें एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि वरुण समुद्रके अधिपति हैं और मकर समुद्रका प्रतीक है। जलका एक और प्रतीक है कमल। शतपथ ब्राह्मण (७–४–१–७) में जलको कमल कहा गया है और यह पृथ्वी उस कमलका एक दल कही गई है। प्राचीन रञ्जन-शिल्पमें कमलका इसीलिए इतना प्राचुर्य है कि वह जलका और फलतः जीवनका प्रतीक होनेसे अत्यन्त मङ्गलमय समझा जाता था। कमलमें ही वरुण और उनकी स्त्री गौरी वास करती हैं। समुद्र रत्नालय है और वरुण समुद्राधिपति। इसीलिए उन्हें लक्ष्मीनिधि माना जाता था। वादमें यह शब्द कुबेरका वाचक हो गया। मगर यह एक लक्ष्य करनेकी बात है कि समुद्रोत्पन्न लक्ष्मीका, जो बादमें विष्णुकी पत्नी हुई, एक नाम वरुणानी भी है। कवि-प्रसिद्धिके अनुसार लक्ष्मी और संपद् एकार्थक हैं (दे० शीर्षक ३१) और कमलमें लक्ष्मीका वास है। इस प्रसङ्गमें वरुणानी शब्द काफ़ी संकेतपूर्ण है[3]।

अब यक्ष-पूजा और अनेक कवि-प्रसिद्धियोंका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

---

१ Cunningham : A. S. Reports P. 42–43 और plate XIV. २ R. D. Banerji : Bas Reliefs of Badami, Mem, A. S. I. 25, 1928, P. 34. ३ विशेष विस्तारके लिए देखिए A. K. Coomaraswami : Yaksa Vol II.

वृक्षदोहदका तो यक्षपूजासे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है ही, अन्यान्य बातोंका भी यथेष्ट सम्बन्ध है। इससे यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है कि सर्वत्र जलाशयोंमें कमलका वर्णन इसलिए किया जाता है (दे० शीर्षक १९) कि कमल जल और जीवनका प्रतीक है। इसी प्रकार सर्वत्र जलाशयोंमें हंसोंका वर्णन करना भी कवियोंका सम्प्रदाय है; क्योंकि हंस-मिथुन यक्ष और यक्षिणियोंके प्रतीक हैं जो जल और वृक्षोंके तथा रस और उर्वरताके देवता हैं। प्राचीन कालमें नव-वधूके परिधान-दुकूलपर हंस-मिथुन अंकित हुआ करते थे[1]। यह मंगलमय समझा जाता था क्योंकि हंस-मिथुन उर्वरता और रसके प्रतीक माने जाते थे। केवल काव्यमें ही नहीं, मन्दिरों, स्तम्भों आदिपर भी हिन्दू कलाकारोंने सर्वत्र नदी, तालाब और समुद्रमें हंस-मिथुन और कमल प्रचुर मात्रामें अंकित किये हैं। इसी प्रकार मकरका वर्णन केवल समुद्रमें ही होना भी इस तरह स्पष्ट हो जाता है (दे० शीर्षक ३२–१) कि मकर समुद्रका ही प्रतीक और वरुणका वाहन है। इसी तरह कामदेवके पुष्पमय बाणोंकी प्रसिद्धिका मूल कारण, (दे० शीर्षक ७–१.) लक्ष्मी और सम्पद्‌की एकता (शीर्षक ३१) तथा लक्ष्मीका कमल-वास (शीर्षक १९–४) इत्यादि अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

५ अशोक

(१)

कविप्रसिद्धि है कि अशोकमें फल नहीं होते[2]। इस वृक्षके विषयमें वैद्योंमें मतभेद है। पूर्वी युक्तप्रान्त और बिहारमें एक तरहके प्रलंब और तरङ्गायित पत्रोंवाले वृक्षको 'अशोक' कहते हैं। इसके फल काले काले और गोल गोल होते हैं। वैद्य लोग भी इसका व्यवहार करते हैं। पर अन्यान्य प्रदेशके वैद्य इसे अशोक नहीं मानते। यह असलमें अशोक है भी नहीं। सुश्रुतकी टीकामें डल्हणने लिखा है[3] कि अशोकके पुष्प लोहित या लाल होते हैं। निघण्टुकारोंने इसका नाम रक्तपल्लव, मधु-पुष्प बताया है[4]। इन नामोंसे अनुमान होता है कि यह वसन्तमें खिलता है, फूल सुनहरे और पल्लव लाल होते हैं। अर्थात् वैद्यक-शास्त्र-

---

१ तु० कुमारसंभव ५–६७। २ काव्यमीमांसा अध्याय १४; साहित्यदर्पण ७–२५; अलंकारशेखर मरीचि १५। ३ सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय ३८। ४ भावप्रकाश, पुष्पवर्ग ४१–४२

कारोंने दो तरहके अशोकके पुष्प लक्ष्य किये हैं, लाल और सुनहरा। रामायणमें अशोक-पुष्पके अंगारसमान स्तवकों (गुच्छों) का वर्णन पाया जाता है[१]। राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसामें अशोकके तीन प्रकारके पुष्पोंका वर्णन किया है; लाल, पीत और नील[२]। रामायण (वाल्मीकीय) में भी नील अशोक-पुष्पोंका वर्णन पाया जाता है[३]। कालिदासने सुन्दरियोंके नील अलकमें पिरोये अशोक-पुष्पोंका उल्लेख किया है[४]। वसन्तकालमें, कविने बताया है कि, केवल अशोकके पुष्प ही उत्तेजक नहीं हैं, उसके किसलय भी प्रियाके श्रवण-मूलमें विराजमान होकर मादक हो गये हैं[५]। उन दिनों अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगुके वृक्ष मांगल्य समझे जाते थे और उपवनों और प्रासादोंके अग्र भागमें लगाये जाते थे[६]। इसीलिए उस युगके कवियोंकी दृष्टि सबसे पहले इन वृक्षोंपर पड़ती थी। कालिदासको यह वृक्ष अत्यन्त प्रिय था। कुमारसम्भवमें अशोक-पुष्पाभरण-धारिणी उमाके सौन्दर्यका बड़ा सुन्दर वर्णन है[७]। मल्लिनाथने अशोककल्पसे[८] एक श्लोक उद्धृत करके बताया है कि अशोक पुष्प दो प्रकारका होता है, श्वेत और रक्त। पहला सर्वसिद्धिदायक है और दूसरा (लाल) स्मरवर्द्धक है। इसीलिए कालिदासने लाल फूलका ही वर्णन किया है।

यद्यपि यह वृक्ष कवियोंको इतना प्रिय रहा है तथापि यह आश्चर्यकी बात है कि इसके किसलय और पुष्पके सिवा और किसी अङ्गका वर्णन नहीं किया गया। बहुतसे कवियोंने तो साफ़ लिखा है कि इसके फल नहीं होते जब कि[९] असलमें अशोक वृक्षके फल होते हैं। फूल इसके गुच्छाकार होते हैं। कालिदासने इन गुच्छोंका वर्णन किया है[१०]। पहले इनका रंग पके नीबूके फलके रंगका होता है और बादमें लाल हो जाता है। इसके पत्र-प्रान्त ईषत् तरङ्गायित होते हैं। तरुणावस्थामें पत्ते लम्बे लम्बे लाल रहते हैं। बादमें हरे हो जाते हैं। इसके फल छीमियोंके रूपमें होते हैं[११]। ब्राण्डिसने दो तरहके अशोकोंका उल्लेख किया है[१२]।

---

१ वाल्मीकी रामायण ४-१-२९ । २ काव्यमीमांसा १८ । ३ वा० रा० ४-१-७९ । ४ ऋतुसंहार ६-५ । ५ रघुवंश ५ । ६ बृहत्संहिता ५५-३ । ७ कुमारसंभव ३-५३ । ८ मेघदूत २-१७ पर मल्लिनाथकी टीका । ९ काव्यमीमांसा १४ । १० रघुवंश १३ । ११ विरजाचरण गुप्त : वनौषधिदर्पण पृ० ४६ । १२ Brandis; Indian Trees; P. 15 and 25.

(२)

एक दूसरी कविप्रसिद्धि है कि सुन्दरियोंके पदाघातसे अशोकमें पुष्प खिल आते हैं। राजशेखरने कविसमयके प्रसङ्गमें इसका कोई उल्लेख नहीं किया तथापि उनकी काव्य-मीमांसामें ही इस विश्वासके पोषक उदाहरण मिल जाते हैं।[१] महाकवि कालिदासको इस विश्वासकी जानकारी थी[२]। मालविकाग्निमित्रके तृतीय अंककी सारी कथा मालविकाके पदाघातसे अशोक वृक्षको पुष्पित कर देनेकी क्रियाको केन्द्र करके रचित हुई है[३]। कुमारसंभवमें वसन्तका माहात्म्य वर्णन करते हुए महाकविने बताया है कि अशोक स्कन्धपरसे पल्लवित और कुसुमित हो गया, उसने सुन्दरियोंके आसिञ्जितनूपुर चरणोंकी अपेक्षा न की[४]। रत्नावली नाटिकामें भी इस विश्वासका समर्थन पाया जाता है[५]। बादके कवियोंने तो इसका भूरि भूरि वर्णन किया है[६]। आलंकारिकोंने यह नहीं बताया है कि अशोकपर पदाघात करते समय स्त्रीके पैरमें नूपुर रहना आवश्यक है या नहीं आर न यही बताया हैं कि स्त्रीके किस पैरकी चोटसे अशोक वृक्षमें पुष्पोद्गम होता है। कुमारसंभव (३–२६) की व्याख्यामें मल्लिनाथने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें बताया गया है कि नूपुरके शब्दसहित चरणोंके आघातसे ही अशोक कुसुमित होता है। मेघदूतके यक्षने मेघसे अपने उद्यानके अशोक वृक्षके वर्णनके सिलसिलेमें कहा है कि वह तुम्हारी सखी (यक्षिणी) के वामपादका अभिलाषी है[७]। उत्कीर्ण मूर्तियोंमें अशोकदोहद-समुत्पादिनी यक्षणियोंके वाम पैर ही वृक्षमें आघात देनेके लिए उठे हुए अंकित हैं[८]। राजनिघण्टुके अनुसार अशोकका एक नाम वामांघ्रिघातन भी है[९]। इसमेंका 'वामांघ्रि' पद 'वायाँ चरण' और 'स्त्रीका चरण' दोनोंका वाचक हो सकता है।

६ कर्णिकार

कर्णिकार वृक्षके आगे स्त्रियाँ अगर नृत्य करें तो वह पुष्पित हो जाता है[१०]।

---

१ साहित्यदर्पण ७–२४, मेघदूत २–१७ मल्लिनाथ टीका, कुमारसंभव ३–२६ मल्लिनाथकी टीका; अलंकारशेखर १५। २ दे० श० २ ।३ मालविकाग्निमित्र ३–१२। ४ कुमार-३–२६ । ५ रत्नावली १–१५ । ६ सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० ३७९। ७ मेघदूत २–१७ ८ A. K. Coomarswamy. Yaksa. pl. 6. fig. I and 3, ९ शब्दकल्पद्रुम, प्रथम खण्ड, पृ० १३७। १० मेघदूत २–१७ पर मल्लिनाथकी टीका।

भावप्रकाशके मतसे इस वृक्षके दो नाम और हैं, परिव्याध और पद्मोत्पल[१]। लेकिन इन नामोंसे इस पुष्पके संबंधमें विशेष कुछ जाना नहीं जाता। राजनिघंटुकारके मतसे क्षुद्र आरग्वधको ही कर्णिकार कहते हैं। आरग्वधको हिन्दीमें अमलतास कहते हैं। बंगालमें यह 'सोनालु गाछ' या सुनहरा वृक्ष कहलाता है। शान्तिनिकेतनमें आरग्वधके वृक्ष हैं। इसके फूल पीले और फल लंबी लंबी कड़ी छीमियोंके रूपमें होते हैं जिनमें पंक्तिबद्ध बीज होते हैं। वनौषधिदर्पणकारक मतसे कर्णिकारके ये ही लक्षण हैं[२]। अमलतासका वृक्ष वैशाख-जेठके महीनेमें फूलता है, किन्तु छोटा अमलतास या लघु आरग्वध कुछ पहले ही फूलता है। रामायणमें वसन्त-वर्णनके अवसरपर कार्णिकारके सुनहरे पुष्पोंका वर्णन मिलता है[३]। इससे वृक्षकी यष्टिसमान आकृतिका भी आभास मिलता है[४]। असलमें कर्णिकार वृक्ष नातिस्थूल होता है। महाकवि कालिदासने वसन्तमें कर्णिकार पुष्पोंको खिलते देखा था[५]। उनके मतसे भी कर्णिकारके फूल सुनहरे होते हैं[६]। इसी प्रकार राजशेखरने[७] वसन्तमें ही कर्णिकार वृक्षका प्रस्फुटित होना बताया है। कवियोंने कर्णिकार-पुष्पको निर्गंध कहा है[८]। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर विचारनेसे कोई संदेह नहीं रह जाता कि क्षुद्र आरग्वध या छोटे फूलोंवाला अमलतास ही कर्णिकार है। ब्रांडिसने इसे केसिया (Cassia) जातिका वृक्ष माना है। उनके वर्गीकरणके अनुसार यह और अशोक एक ही श्रेणीके वृक्ष हैं। कालिदासने प्रायः ही कर्णिकार और अशोककी एक साथ चर्चा की है। उस युगमें सुन्दरियाँ कभी कानमें और कभी केशमें कर्णिकार और अशोक पुष्पोंको धारण करती थीं। ऋतुसंहारमें कानमें नवकर्णिकार-पुष्प और चंचल नील अलकोंमें अशोक पुष्प सुशोभित दिखता है, तो कुमारसंभवमें पार्वती नील अलकोंमें नवकर्णिकार-पुष्पोंको धारण किये दिखती हैं[९]। महाकविने शायद इसके रंगके कारण ही इसमें अग्नित्वका आभास पाया था[१०]।

कर्णिकारका वृक्ष अयत्नसम्भूत होता है और सारे भारतवर्ष तथा ब्रह्म

---

१ भावप्रकाश, पुष्पवर्ग ४०। २ वनौषधिदर्पण (१८३२ शक) पृ० ७६। ३ रा० ४-१-२१। ४ रा० ४-१-७३। ५ ऋतुसंहार ६-५। ६ कुमारसंभव ३-५३। ७ काव्यमीमांसा, अध्याय १८। ८ कुमारसंभव ३-२८। ९ ऋतुसंहार ६-५, कुमारसम्भव ३-६२। १० ऋतुसंहार ६।

देशमें पाया जाता है; सिन्धकी घाटियों और पेशावरकी ओर बहुतायतसे मिलता है। उत्तरी हिमालयके प्रदेशोंमें इसे चार हज़ार फुटकी ऊँचाईपर फूलते देखा गया है। यात्रियोंने हिमालय प्रदेशके कर्णिकार वृक्षोंके सौंदर्यकी उच्छ्वसित प्रशंसा की है[1]।

हिन्दीमें जिस पुष्पको कनेर कहते हैं उससे कर्णिकारका शायद रंग-साम्यके सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं।

७ कामदेव

कामदेवके सम्बन्धमें कई कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। इनको दो श्रेणियोंमें विभाजित कर सकते हैं। पहलीमें उनके शस्त्रों-सम्बन्धी प्रसिद्धियाँ हैं और दूसरीमें स्वयं काम-सम्बन्धी। इस प्रकार (१) कामदेवके धनुष और बाण पुष्पमय हैं, धनुषकी मौर्वी रोलम्बमाला या भ्रमर-श्रेणीकी है, और इनके बाणोंसे युवकोंका हृदय फट जाया करता है[2]। (२) वे मूर्त भी हैं और अमूर्त भी, उनके ध्वजमें मत्स्य और मकर एकार्थवाचक हैं[3]।

(१) पौराणिक कथा है कि कामदेवको शिवने जब भस्म किया तो उनका मणिखचित धनुष पाँच टुकड़ोंमें विभक्त होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। रुक्मविभूषित पृष्ठवाला मुष्टिबंध (मूठ) चम्पाका फूल होकर पैदा हुआ, वज्र (हीरा) का बना हुआ नाह स्थान बकुल पुष्प हुआ, इन्द्रनील-शोभित कोटि-देश पाटल-पुष्पमें परिवर्तित हो गया, नाह और मुष्टिबंधका मध्यवर्ती स्थान, जो चन्द्रकान्त मणिकी प्रभासे प्रदीप्त था, जाती-पुष्प हुआ और मूठके ऊपर और कोटिके नीचेका हिस्सा जिसमें विद्रुम मणि जड़ी थी, मल्लीके रूपमें पृथ्वीपर पैदा हुआ[4]। तबसे कामका धनुष पुष्पमय होकर ही पृथ्वीपर विराजमान है। कामदेवके पुष्पमय पाँच बाणोंमें अरविंद (कमल), अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल हैं। किसी किसीके मतसे द्रावण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन; या सम्मोहन, समुद्रेगबीज, स्तंभनकारण, उन्मादन, ज्वलन और चेतनाहरण ये कामबाण हैं; या सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तंभन ये ही कामबाण हैं। एक और मत यह है कि पाँच इंद्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये

१ Indian Trees: P. 253. २ साहित्यदर्पण ७–२४। ३ काव्यमीमांसा, अध्याय १६; अलंकारशेखर १५। ४ वामनपुराण, अध्याय ६।

ही पाँच कामदेवके वाण हैं[१]।

एक पौराणिक आख्यान इस प्रकार है : ब्रह्माने संध्या नामक एक कन्याको उत्पन्न किया। लड़की ज्यों ही पैदा हुई कि ब्रह्मा और उसकी लड़की दोनोंके मनको कामने अपने वाणोंसे विक्षुब्ध किया। इससे प्रजापति और सन्ध्या दोनों बहुत लज्जित हुए। सन्ध्याने बादको घोर तप करके विष्णुसे यह वर माँग लिया कि अबसे पैदा होते ही किसी आदमीको काम विक्षुब्ध न कर सके। तबसे विष्णुने नियम कर दिया कि काम केवल युवकोंका ही मन या हृदय विद्ध कर सकता है और क्वचित् कदाचित् किशोर-किशोरियोंका[२]। कवियोंने कामके वाणोंसे युवक युवतियोंके हृदयका फटना अनेक प्रकारसे वर्णन किया है।

(२) ऊपर जो प्रजापति और संध्याकी कहानी दी हुई है उसीके अनुसार प्रजापतिने कामको यह शाप दिया कि वह शिवके नेत्राग्निसंभूत अग्निमें जले। कामदेव जब इस शापवश भस्म हुआ तो उसकी स्त्री रतिने कठिन तपश्चरणसे शिवको सन्तुष्ट किया और यह वर पाया कि काम अमूर्त भावसे ही प्राणियोंमें सञ्चरित होगा और द्वापरमें श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नके रूपमें मूर्त रूप ग्रहण करेगा। तबसे कामके मूर्त और अमूर्त दोनों रूपोंका कविजन वर्णन करते आये हैं। यह लक्ष्य करनेकी बात है कि मूर्तियोंमें काम और रतिकी मूर्तियाँ सर्वत्र साथ ही उत्कीर्ण पाई गई हैं।

कामदेवके और वरुणके तथा अन्यान्य यक्षों और यक्षिणियोंके रूपमें मकरका इतना अधिक और इतने प्रकारसे भारतीय शिल्पमें चित्रण है कि उसके विषयमें कुछ विशेष कहना व्यर्थ है। बादामी, कैलासनाथ, एलोरा, आदिमें मकरध्वजके साथ काम और रतिकी मूर्तियाँ पाई गई हैं[३]। मकरकेतन और झषकेतन एकार्थ-वाचक हैं, इसपरसे आनन्द स्वामीका अनुमान है कि शतपथ ब्राह्मण (१-८-१) का सींगवाला झष और मकर एक ही वस्तु हैं[४]। वास्तवमें इस प्रकारके मकर उत्कीर्ण भी हैं। सन् ईसवीसे पूर्वके मकरध्वज वेसनगरमें प्राप्त हुए हैं।

८ कुन्द

कुन्दका पुष्प सफेद रंगका होता है। यह सारे भारतवर्षमें पाया जाता है। रामायणमें वसन्तके समय इसके खिलनेका उल्लेख है[५]। इसके कुड्मल ठीक

१ काव्यमीमांसा, अध्याय १६। २ कालिकापुराण अध्याय १९-२२। ३ Yaksa 11. P. 25. और भी दे० शीर्षक ४। ४ वही पृ० ५२। ५ रामायण ४-१-७७।

सफ़ेद नहीं होते। मूलके पाससे पँखड़ियोंका ऊपरी भाग ईषत् रक्ताभ होता है पर फूल विकसित होनेपर एकदम सफ़ेद दिखाई देता है। कवि-प्रसिद्धि है कि इसके कुड्मल भी सफ़ेद होते हैं[1]। इस संबंधमें उल्लेख-योग्य बात इतनी ही है कि काव्यमीमांसा, कवि-कल्पलता-वृत्ति, अलंकारशेखर आदिके मतसे कुन्दके कुड्मल वास्तवमें लाल होते हैं किन्तु अजितसेनके अलंकार-चिन्तामणिके अनुसार वे असलमें हरित होते हैं। कविगण इसके कुड्मलको श्वेत ही वर्णन करते हैं।

९ कुमुद

धन्वन्तरि-निघंटुके मतसे पद्मके सात भेद हैं। (पद्म-प्रकरण देखिए) कुमुद उनमेंसे एक है[3]। उक्त निघंटुके मतसे कुमुदका ही दूसरा नाम कल्हार है। किन्तु अमरकोषके अनुसार सौगन्धिक ही (श्वेत पद्म) कल्हार कहलाता है, कुमुद नहीं[4]। भाव-प्रकाशमें भी कुमुद और कल्हारको अलग अलग माना है। भाव-प्रकाश और अमरकोष दोनोंके मतसे कुमुद केवल सफ़ेद ही होता है लेकिन कई वैद्य एक लाल कुमुदका भी वर्णन करते हैं[7]। डल्हणने इसका लोकनाम 'कुइया' कहा है[8]। कालिदासने कुमुदका वर्णन शरत्कालमें किया है[9]।

जिस प्रकार पद्मका वर्णन सर्वत्र जलाशयोंमें करना कवि-समय है, उसी प्रकार कुमुदका भी[10]। केवल दिनमें इसका विकसित होना नहीं माना जाता[11]। भाव-प्रकाशके मतसे नाल-पत्र आदि सर्वावयव-सम्पन्न कुमुदको कुमुदिनी कहते हैं[12]।

१० कुरवक

कुरवक स्त्रियोंके आलिङ्गनसे पुष्पित हो जाता है। अमरसिंहके मतसे यह झिण्टीका एक भेद[13] है। झिण्टी चार प्रकारकी होती है; रक्त, श्वेत, पीत और

---

१ काव्य मीमांसा अध्याय १५; अलङ्कारशेखरमरीचि १५; अलङ्कारचिन्तामणि पृ० ७–८; कविकल्पलतावृत्ति २ पृ० ३०–३१; कविकल्पलता पृ० ४१। २ माघ ११–७। ३ वनौषधिदर्पण पृ० ४०१। ४ अमरकोष १०–३५। ५ भावप्रकाश १–१ पुष्पवर्ग। ६ अमर १०–३६। ७ वनौषधिदर्पण पृ० ४०१। ८ सुश्रुत सूत्रस्थान १३–१३ टीका। ९ ऋतुसंहार ३–२। १० काव्यमीमांसा, अध्याय १३; अलङ्कारशेखर मरीचि १५; कविकल्पलता, द्वितीय प्रतान इत्यादि। ११ काव्यमीमांसा। १२ भावप्रकाश पुष्पवर्ग १–२। १३ मेघदूत २–१७ पर मल्लिनाथकी टीका और कुमारसम्भव ३–२६ पर उन्हींकी टीका। १४ अ० ४–७५।

नील पुष्पोंवाली। धन्वन्तरि निघंटुके मतसे पीत सैरेयक (या झिण्टी) को कुरण्टक और रक्तको कुरवक कहते हैं। झिण्टीको हिन्दीमें कटसरैया या पियावासा कहते हैं। लाल फूलोंकी कटसरैया ही कुरवक कहलाती है। अमरकोषके अनुसार भी कुरवकके फूल लाल होते हैं। रामायणके वसन्त-वर्णनमें रक्त कुरवकोंका उल्लेख मिलता है[1]। कालिदासने श्यामावदातारुण अर्थात् कालिमा सफ़ेदी लिए हुए लाल कुरवक पुष्पोंका वर्णन किया है।

मेरे मित्र प्रो० हरिदास मित्रने, जिनको वृक्ष-विज्ञानके संबंधमें अच्छी जानकारी है, शान्तिनिकेतनमें लगे हुए एक वृक्षको कुरवक बतलाया है। यह वृक्ष कचनारकी जातिका है। क़दमें कुछ छोटा और जरा झाड़ीदार होता है। देखनेसे पहले जान पड़ता है कि कचनार ही है। वसन्तके आरम्भमें ही फूलता है, फूल सादे होते हैं, वृन्तके पास पपड़ियोंके किनारेपर ईषत् लालिमा होती है। इस पुष्पको देखकर कोविदारका स्मरण हो आता है। निघंटुकारोंने कोविदार और काञ्चनारको एक ही पुष्प माना है। पर भावमिश्रने दोनोंका अलग अलग पाठ किया है[2]। भावमिश्रके मतसे काञ्चनार शोणपुष्प या लाल फूलोंका होता है और कोविदार श्वेत पुष्पका। राजशेखरने वसन्त वर्णनके प्रसंगमें काञ्चनार और कोविदारका अलग अलग वर्णन किया है[3]। लेकिन रामायण[4] और ऋतुसंहारमें[5] कोविदार पुष्पका वर्णन शरद् ऋतुमें किया गया है। हमें ठीक नहीं मालूम कि कोई काञ्चनार शरद् ऋतुमें खिलता है या नहीं, पर ऊपरके उद्धरणोंसे इतना तो स्पष्ट ही है कि राजशेखर और भावमिश्र एक तरहका कोविदार जानते थे और वाल्मीकि और कालिदास दूसरी तरहका। हरिदास बाबूका वृक्ष भावमिश्र-सम्मत कोविदार तो नहीं हैं? अन्ततः वह कुरवक तो नहीं ही है।

कालिदासने कुरवक पुष्प वसन्त ऋतुमें-खिलते देखा था। रघुवंशमें इसका वर्णन वसन्तमें आया है[6]। मालविकाग्निमित्रके वसन्त-वर्णनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। ऊपरकी प्रसिद्धिका उल्लेख काव्य-मीमांसामें नहीं है। पर काव्य-मीमांसाके उद्धृत श्लोकोंसे इस प्रसिद्धिका समर्थन होता है (दे० २ टि०)। मेघदूतमें कालिदासके यक्षके उद्यानके प्रसङ्गमें उससे कहलवाया है कि उस उद्यानके माधवी-

१ रा० ४-१-२१। २ भावप्रकाश, पुष्पवर्ग। ३ काव्य मीमांसा, १९ अध्याय।
४ रा० ४-३०-६२। ५ ऋतुसंहार ३-६। ६ रघुवंश० ९-२९।

मण्डपका बेड़ा कुरवकका था। मालविकाग्निमित्रके अन्तिम अंकसे जान पड़ता है कि वसन्तकी प्रौढ़ावस्थामें कुरवकके फल गिरने लग जाते हैं[1]। इन दो बातोंसे भी कुरवक पुष्पका कटसरैया होना ही ठीक जान पड़ता है।

११ कोकिल

कविसमय है कि कोकिल केवल वसन्तमें ही बोलते हैं । यह सच है कि ग्रीष्म और वर्षामें भी कोकिल बोला करता है, पर उसके स्वरमें जो मिठास वसंतमें होती है, वह अन्यान्य ऋतुओंमें नहीं। शरत्कालसे लेकर शिशिरतक कोकिल ऐसा मौन रहता है कि कई वैज्ञानिकोंतकको भ्रम हो गया है कि यह पक्षी शीतकालमें यह देश छोड़कर अन्यत्र चला जाता है[3]। किन्तु ह्विस्लरने लक्ष्य किया है कि कोकिल भारतवर्षमें ही एक स्थानसे दूसरेको ऋतुओंकी सुविधाके अनुसार जाता आता रहता है[4]। कुछ अत्यधिक शीतल स्थानोंको छोड़ दिया जाय तो प्रायः सारे भारतमें प्रायः साल भर यह पक्षी पाया जाता है और चुपचाप पत्रान्तरालमें लुक-छिप कर काल यापन करता है। आश्चर्यकी बात यह है कि अन्य ऋतुओंमें इसका मौन शायद ही कभी भंग होता हो[5]। वसन्त कालमें यह पक्षी, जबतक गर्भाधान नहीं हो जाता, तबतक मत्तभावसे कूजन करता रहता है—

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः[6]।

कोकिलको कवियोंने वसन्त और मदन दोनोंका साधन वर्णन किया है[7]। यद्यपि आलङ्कारिकोंका यह कहना सही है कि कोकिल वसन्तके अतिरिक्त अन्य ऋतुमें भी बोलता है। पर यह और भी सही है कि वसन्तका कूजन ही अद्वितीय और अपूर्व होता है। शरत्से हेमन्त तक तो यह शायद ही कभी बोलता हो।

१२ चकोर

चकोर चन्द्रिकाका पान करते हैं[8]। अमरकोषके टीकाकार क्षीरस्वामीने लिखा है कि चकोर चंद्रिकासे तृप्त होते हैं[9]। चकोर और मयूर एक ही जातिके पक्षी हैं। काव्योंमें जिस प्रकार मयूरके शुक्लापाङ्गका वर्णन पाया जाता है, उसी प्रकार

---

१ माल० ५-४ । २ काव्यमीमांसा १४; अलंकारशेखर १५; कविकल्पलता द्वि० प्रतान; अलंकारचिन्तामणि। ३ कालिदासेर पाखी पृ० ११० । ४ A Popular Hand Book of Indian Birds, P.252. ५ कालिदासेर पाखी पृ० ११० । ६ ऋतुसंहार ६। ७ ऋतुसंहार ६। ८ काव्यमीमांसा १४; साहित्य दर्पण ७-२३। ९ अमर. ५-३५ टी०।

चकोरके चंद्रिका-पानका वास्तविक आधार है[1]। पक्षितत्त्वज्ञोंने लक्ष्य किया है कि यद्यपि चकोर रह रहकर दिनमें भी बोल उठता है पर सन्ध्या समय यह अत्यन्त मुखर हो उठता है। इस मुखरतामें भावुक पक्षि-मर्मज्ञोंको उत्सुकताका मिश्रण अनुभूत हुआ है[2]।

१२ चक्रवाक-मिथुन (चकवा-चकई)

यह हंस-जातिका पक्षी है। दिनमें सदा चक्रवाक जोड़ोंमें ही पाये जाते हैं। भारतीय भाषाओंके काव्यग्रंथ इस पक्षीके प्रणयाख्यानसे भरे पड़े हैं। कवि-सम्प्रदाय यह है कि चक्रवाक और चक्रवाकी दिनमें नदी या जलाशयके एक ही किनारे रहते हैं पर रातमें अलग अलग हो जाते हैं, पुरुष इस किनारे पड़ा रह जाता है तो स्त्री उस किनारे। सारी रात वियोगमें कटती है[3]। अग्निवेश रामायणकी कथा है कि स्त्री-वियोगमें कातर रामको देखकर चक्रवाकोंने हँसी उड़ाई थी। परिणामवश उन्हें इस प्रकार वियुक्त होनेका अभिशाप-भागी होना पड़ा[4]। राजशेखरने इसे कवि-समयके अन्तर्गत मानकर इस विश्वासकी सचाईपर संदेह किया है। सुश्रुतके टीकाकार डल्हण भट्टने चक्रवाकके परिचयमें इसका निशावियोगी होना बताया है[5]। कालिदासके ग्रन्थोंसे इस विश्वासका समर्थन होता है। पौष मासमें नदीमें तपश्चरण करती हुई पार्वती वियोगसे कातर चक्रवाक-मिथुनोंकी कातर पुकार सुनती हुई काल काटा करती थीं। पक्षि-विद्याके प्रसिद्ध पंडित श्री सत्यचरण लाहाने लिखा है कि यह पक्षी भारतवर्षका स्थायी अधिवासी नहीं है। चैत्र, वैशाखमें यह हिमालयकी ओर यात्रा करता है। देखा गया है कि १०-१५ हजार फुट ऊँचे पर्वतोंके गर्तोंमें यह अपना नीड़ निर्माण करता है। उक्त विद्वान्ने स्वयं सिकिम और हिमालयके पर्यटन-कालमें छांगूह्रद (१२६०० फूट) में इनको वास करते जून मासमें देखा था। शरत्कालमें ये फिर भारतवर्षको लौट आते हैं।

वाल्मीकीय[6] और तुलसीदासके[7] रामायणोंसे जान पड़ता है कि यह पक्षी वर्षा-

---

१ कालिदासेर पाखी पृ० १४८। २ Hume and Marshell: The Game Birds of India, Burmah and Ceylone. Vol, II (1879) P. 38 quoted in कालिदासेर पाखी। ३ काव्यमीमांसा १४; अलंकारशेखर १५; अलंकारचिन्तामणि ७-८ आदि। ४ कादंबरीकी टीकामें इस कथाका उल्लेख है। ५ सूत्रस्थान ४६,-२०५। ६ वाल्मीकीय रामायण ४-२८-१६। ७ किष्किन्धाकाण्ड।

कालमें अन्यत्र चला जाता है। एक अन्य जातिका चक्रवाक शरत्कालमें भारतवर्षमें आता है और साल-भर अन्यत्र रहता है[1]।

कालिदासके रघुवंश आदि ग्रंथोंसे जान पड़ता है कि उन्होंने इस पक्षीको सारे भारतवर्षमें देखा था। असलमें यह सारे भारतवर्षमें पाया भी जाता है। चकवा-चकईकी वियोग-कथाकी सचाईकी अच्छी जाँच अभी नहीं हुई है। स्टुआर्ट वेकरने रातमें पक्षि-मिथुनको वियुक्त भावसे विचरण करते देखा था। ये एक दूसरेको उत्कंठाभरी आवाज़से पुकारते-से जान पड़ते थे[2]। कालिदासने परस्पराक्रन्दी चक्रवाकोंका उल्लेख किया है[3]। ह्विस्लरने[4] लिखा है कि ये पक्षी दिनमें अपने जोड़ेके साथ बैठकर या खड़े रहकर आराम करते हैं। दिनमें ये बहुत कम ही विचरण करते हैं। अगर कहीं चले भी तो साथ ही साथ। किन्तु रातमें अलग होकर आहार-चयन करते हैं। रामायणमें इनके सहचारी होकर विचरण करनेका उल्लेख है[5]। रातको शायद आहार-चयनार्थ इनका वियुक्त होना ही कविप्रसिद्धिका मूल है[6]।

यह पक्षी प्रधानतः उद्भिज्जाशी है। कालिदासने इन्हें उत्पल-केसर भक्षण करते वर्णन किया है। ऋतुसंहारमें कमल-केसर भक्षण-करते हुए और परस्पर क्रन्दन करते हुए चक्रवाकोंका वर्णन मिलता है।

१४ चन्दन

(१)

कविसमयके अनुसार चन्दनमें फूल और फलका वर्णन नहीं होना चाहिए[7]। भावप्रकाशमें श्वेत, पीत और रक्त इन तीन प्रकारके चन्दनोंका उल्लेख है। पीत चन्दनको ही कालीयक और हरिचन्दन कहा गया है। धन्वन्तरिके मतसे चन्दन और श्वेतचन्दन एक ही चीज़ हैं। मलय पर्वतपर जो चन्दन होता है उसे भद्रश्री कहते हैं। तैलपर्ण और गोशीर्ष पर्वतपर भी इन्हीं पर्वतोंके नामवाले चन्दन होते हैं[8]। वनौषधिदर्पणकार अनेक शास्त्रीय चर्चाके बाद स्थिर करते हैं कि श्वेत और

१ जलचारी, पृ० ११०। २ Ducks and Their Allies, 1921. P. P. 146 कालिदासेर पाखीमें उद्धृत। ३ कुमार० ५-२६। ४ A Popular Hand Book of Indian Birds (1928) P. 407. ५ रामा० ४-३०-१०। ६ सत्यचरण लाहा—कालिदासेर पाखी पृ० १२७। ७ काव्यमीमांसा, अध्याय १३, साहित्य-दर्पण ७-२५, अलंकारशेखर १५, इत्यादि। ८ कर्पूरादिवर्ग १४-१६।

पीत चन्दन दो चीजें नहीं हैं[१]। चन्दनवृक्षमें वहुसंख्यक छोटे प्रथमावस्थामें फीके और बादको बैंगनी फूल होते हैं। फल गोल और मसृण होते हैं जो पकनेपर काले हो जाते हैं[२]। तथापि कविजन इसके फल और पुष्पका वर्णन नहीं करते[३]।

यद्यपि कविसमयके अनुसार चन्दनमें फल-पुष्पका वर्णन नहीं होता पर रामायणमें इसका पुष्पित होना वर्णित है[४]। परवर्ती कवियोंमेंसे भी किसी किसीने इसके फल-फूलका वर्णन किया है[५]।

(२)

चन्दनके बारेमें एक दूसरी प्रसिद्धि यह है कि वह केवल मलय पर्वतपर ही होता है[६]। आयुर्वेदिक ग्रन्थोंके अनुसार स्थान-भेदसे पाँच प्रकारके चन्दन बताये गये हैं। भद्रश्री मलयपर्वतपर होता है; गोशीर्ष, वर्कर और तैलपर्ण इन्हीं नामोंके पर्वतोंपर होते हैं। वेट्ट और सुक्कड़ एक ही चीज हैं: एक कच्चे कटे वृक्षसे आता है, दूसरा स्वयंपके वृक्षसे। किसी किसीके मतसे मलयज चन्दन तथा वेट्ट और सुक्कड़ एक ही चीज हैं[७]। ब्राण्डिसने लिखा है कि यह वेस्टर्न पेनिन्सुलामें नासिकसे लेकर उत्तरी अर्काटके ज़िलोंतक प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होता है। बागीचोंमें लगानेसे उत्तर भारतमें सहारनपुरतक उपजते देखा गया है। इसके फूल फ़रवरीसे जुलाईतक खिलते रहते हैं[८]।

इस कवि-प्रसिद्धिका मूल शायद यह हो कि मलयपर्वतपर ही यह बहुतायतसे होता है। राजशेखरने मलयपवर्तकी चार विशेषताओंमेंसे एक यह बताई है कि इस पर्वतपर सर्पवेष्टित चन्दनके वृक्ष होते हैं[९]। इस पर्वतपरके नीम, कुटज आदि वृक्ष भी चन्दनके समान सुरभित हो जाते हैं, ऐसा कविगण वर्णन करते हैं[१०]।

१५ चम्पक (चम्पा)

कवि-प्रसिद्धि है कि रमणियोंके पटु-मुदुहास्यसे चम्पा पुष्पित हो जाता है।[११] यह भारतवर्षका परिचित पुष्प है। इसके फूल पीले नारंगी रंगके होते हैं।

१ वनौषधिदर्पण पृ० २५२-६। २-३ वही। ४ रामायण ४-१, ८२-८३। ५ सुभाषित-रत्नभांडागार पृ० ३७७। ६ काव्यमीमांसा १४; अलंकारशेखर १५, अलंकारचिंतामणि ७-८। ७ वनौषधिदर्पण। ८ Brandis: Indian Trees P. 553 ९ काव्य-मीमांसा १७ अध्याय। १० सुभाषित-रत्नभांडागार पृ० ३९९। ११ मेघदूत २।१७, मल्लिनाथकी टीका।

कवियोंने इसे कनकवर्ण कहकर वर्णन किया है। कहते हैं कि इसके उत्कट गंधके कारण भौंरे इसके पास नहीं जाते। पश्चिमी घाट और मलय प्राय-द्वीपमें यह बहुतायतसे होता है और यत्न करनेसे सारे भारतवर्ष, बर्मा, सीलोन और इण्डोचाइनामें होता है[2]। वसन्त-वर्णनके प्रसंगमें रामायणमें इसका उल्लेख है[3]। कालिदासने इसे वसन्त-वर्णनके अन्तमें याद किया है[4]। असलमें यह वसन्त और ग्रीष्मकी सन्धिमें ही खिलता भी है। राजशेखरने ग्रीष्ममें इसका वर्णन किया है[5]। इसकी उत्पत्ति कामके धनुः-खंडसे है।

१६ तिलक

सुन्दरियोंके वीक्षण-मात्रसे तिलक पुष्प कुसुमित हो जाता है[6]। मुझे ठीक मालूम नहीं कि तिलक वृक्ष कैसा होता है। भावप्रकाशमें पुष्पवर्गमें इसका उल्लेख है सही, पर उससे इसके आकार-प्रकार जाननेमें कुछ सहायता नहीं मिलती। ब्राण्डिसने एक 'तिलकी' वृक्षकी चर्चा की है। यह चिनाबसे लेकर सिकिमतक पार्वत्य प्रदेशोंमें पाया जाता है। मध्यप्रदेश, कोंकण, दक्षिणी प्रदेश और उड़ीसामें ये वृक्ष पाये जाते हैं। ब्राण्डिसका अनुमान हैं कि ऊसर जमीनको शस्यश्यामल बनानेके लिए इस वृक्षका उपयोग किया जा सकता है। यह वृक्ष वसन्तकालमें खिलता है। फूल नीलाभ श्वेत होते हैं[7]। रामायणमें वसन्त-कालमें तिलक-पुष्पकी मञ्जरीका वर्णन मिलता है[8]। कालिदासके मालविकाग्निमित्रमें तिलक-पुष्पका वर्णन है[9]। टीकाकारका अनुमान कि है वहाँ तिलक-पुष्पके लाल रंगकी ओर कवि इशारा करना चाहता है। उस श्लोकमें कहा गया है कि तरुणियोंकी तिलक-क्रिया तिलक पुष्पोंसे आक्रान्त हो गई है। शब्दकल्पद्रुमके मतसे तिलक और पुन्नाग एक ही वृक्ष हैं[10]। पर राजशेखरने तिलकको वसन्तमें खिलते देखा था और पुन्नागको हेमंतमें[11]। राजशेखरने वसन्तमें तिलक-पुष्पका जो वर्णन किया है उससे सिद्ध होता है कि उन्हें इस कवि प्रसि-

---

१ सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० ३७९। २ Brandis : Indian Trees P. 8। ३ रा० ४-१-७८। ४ ऋतुसंहार। ५ काव्यमीमांसा १८। वामनपुराण, अध्याय ६। ६ मेघदूत २-१७ टीका और कुमार० ३-२६ टीका। ७ Brandis: Indian Trees P. 253. ८ रा० ४-१-५८ और भी देखिए रा० ४-१-७८। ९ मा० ३-५। १० शब्दकल्पद्रुम—'तिलक' शब्द देखिए। ११ काव्यमीमांसा १८।

द्धिकी जानकारी थी, फिर भी उन्होंने इसे कविसमयके अन्तर्गत नहीं माना है। कालिदासने वसन्त-वर्णनके प्रसङ्गमें इसका स्मरण किया है।

१७ नमेरु

सुन्दरियोंके गानसे नमेरु वृक्ष विकसित हो जाता है। विश्वकोषके अनुसार नमेरुका ही दूसरा नाम सुरपुन्नाग है। कालिदासके काव्योंमें हिमालय पर्वतपर इसका वर्णन पाया जाता है[1]। कैलासपर जब शिव ध्यानावस्थ होकर बैठ गये तो उनके गण नमेरु पुष्पोंके आभूषण और भूर्जत्वक् पहनकर मनःशिलासे अनुलिप्त होकर पार्वत्य औषधोंसे व्याप्त शिलातलोंपर जा विराजे[2]। कालिदासके ग्रन्थोंसे इस वृक्षका घनच्छाय होना भी प्रकट होता है। शिव जिस स्थानपर ध्यानावस्थ होकर बैठे थे उसके प्रान्त-भागमें नमेरु वृक्षकी शाखाएँ झुकी हुई थीं[3]।

१८ नीलोत्पल

(१)

नीलोत्पलका भी कविसमयके अनुसार पद्मकी ही भाँति नदी-समुद्र आदिमें वर्णन होना चाहिए[4]। डल्हणके मतसे उत्पल और नीलोत्पल एक ही वस्तु हैं। क्योंकि उत्पल उस कमलको कहते हैं जो ईषत् नील हो[5]। धन्वन्तरि-निघंटुके मतसे भी यह कमलका ही एक भेद है[6]। नीलकमलका वैष्णव-साहित्यमें भूरि भूरि उल्लेख है पर असलमें यह कहीं भारतवर्षमें होता भी है या नहीं, इस विषयमें सन्देह है[7]। सुना है वृन्दावनमें किसी वैष्णव महात्माको रासोत्सवके लिए नीलकमलकी आवश्यकता पड़ी। उन्होंने सारे भारतवर्षमें इसकी खोज की। न मिल सकनेपर आस्ट्रेलियासे नीलकमल मँगाने पड़े। पर वैद्यक ग्रन्थोंसे पता चलता है कि नीलकमल इस देशमें कोई कविकल्पित वस्तु नहीं है। बहुत प्राचीन युगसे इसका औषधार्थ प्रयोग पाया जाता है। राजशेखर भी इसे कविकल्पना नहीं समझते। कवियोंने नदीमें इसका वर्णन किया है[8]। पं० रामनरेशजी त्रिपाठीने मुझे बताया है कि काश्मीरमें नीलोत्पल होता है और उसे स्थानीय लोग 'नीलोफर' कहते हैं।

---

१ कुमारसंभव १-५५ पर मल्लिनाथकी टीका। २ कुमारसंभव १-५५। ३ कुमारसंभव ३-४३। ४ काव्यमीमांसा १४; अलंकारशेखर १५; कविकल्पलतावृत्ति २; अलंकार-चिन्तामणि ७-८। ५ सुश्रुत, सूत्रस्थान १३-१३ टीका। ६ वनौषधिदर्पण पृ० ४०१-२। ७ काव्यमीमांसा १४।

(२)

दूसरी प्रसिद्धि यह है कि नीलोत्पल दिनमें नहीं खिलता, रातमें विकसित होता है[1]। डल्हणने सौगन्धिक कमलको चंद्रिकाविकासी कहा है[2]। सौगन्धिक नीलकमलको ही कहते हैं ('पद्म' देखिए)। काव्यमीमांसामें इस प्रसिद्धिका समर्थक श्लोक उदाहृत है[3]।

१९. पद्म (कमल)

कविसमयके अनुसार (१) पद्म दिनमें खिलते हैं[4] (नदी समुद्र आदिमें भी होते हैं[5]), (२) उनके मुकुल हरे नहीं होते हैं[6], (३) उनके पुष्पमें लक्ष्मीका वास होता है, और (४) हेमन्त तथा शिशिरके सिवा अन्य सभी ऋतुओंमें उनका वर्णन होता है[7]।

पद्मके कई भेद होते हैं। धन्वन्तरीय निघण्टुके मतसे ये सात प्रकारके होते हैं—पुण्डरीक (अत्यन्त श्वेत), सौगन्धिक (नील पद्म), रक्त पद्म, कुमुद और तीन प्रकारके क्षुद्र उत्पल[8]। डल्हणके मतसे सौगन्धिक कमल चन्द्रिका पा कर विकसित होता है और इसका एक नाम गर्दभपुष्प है। किन्तु चक्रपाणिने इसका भाषा नाम शुन्धी लिखा है[9]। चक्रपाणि बङ्गाली थे किन्तु बङ्गालमें शुन्धी नामसे आजकल जो कमल प्रसिद्ध है वह अत्यन्त सुरभित नहीं होता, जैसा कि डल्हणके कथनानुसार उसे होना चाहिए[10]। वह नील भी नहीं होता। दीर्घ-काल तक साफ़ न किये हुए कर्दम-बहुल जलाशयोंमें ही कमल खिला करता है। लक्ष्य करनेकी बात है कि यद्यपि धन्वंतरीय-निघण्टुके मतसे सौगन्धिक नील होता है और डल्हण इसे चंद्रिकाविकासी मानते हैं पर वाल्मीकीय रामायणके समय नील पद्म और सौगन्धिक एक ही चीज़ नहीं समझे जाते थे। वसन्त-वर्णनके प्रसङ्गमें आदि कविने एक ही जगह पद्म, सौगन्धिक और नीलपद्मका खिलना वर्णन किया है[11]। कोकनद या रक्तपद्म ग्रीष्ममें खिलता है और इसके फल वर्षामें पक जाते हैं। इसके फूल कुछ कुछ गुलाबी रङ्गके और दलोंके अग्रभाग क्रमशः लाल होते हैं। कमलके मूल बड़ी दूर तक

---

१ काव्यमीमांसा १४; अलङ्कारशेखर १५; अलङ्कारचिन्तामणि ७-८। २ सुश्रुत सूत्र० १३-१३ टीका। ३ काव्यमीमांसा, अध्याय १४। ४ साहित्यदर्पण ७-२५। ५, ६ काव्यमीमांसा १४; अलंकारशेखर १५ इत्यादि। ७ अलंकारशेखर मरीचि १५।८ वनौषधिदर्पण पृ० ४०१। ९ चरकसंहिता, सू० ४ अध्याय टीका। १० सुश्रुत, सूत्रस्थान १३-१३ टीका। ११ रामायण ४-१।

पानीमें धँसे होते हैं। मूल अँगूठेकी तरह मसृण और मोटा होता है। शतदल पद्मके दल २० से लेकर ७० तक पाये जाते हैं। फूल जिस नालपर खिला होता है उसे मृणाल कहते हैं। इसमें अनतिसूक्ष्म काँटे होते हैं। श्वेतपद्मका रङ्ग कुन्दके फूलके समान होता है[1]।

भारतीय साहित्य, कला और संस्कृतिमें पद्मका बहुत बड़ा स्थान है। ऐसा भारतीय कलाकार या कवि, मनीषी या साधक नहीं पाया जायगा जिसने इस पुष्पको किसी न किसी रूपमें अपना आदर्श न माना हो। जहाँ वह अपने सौन्दर्यके कारण कवियोंका परम प्रिय रहा है, वहाँ वह सहज निःशङ्क होनेके कारण साधकोंका भी आदर्श रहा है। यद्यपि यह बहते पानीमें प्रायः नहीं पाया जाता पर कवियोंने नदीमें इसका वर्णन किया है। महाकवि कालिदासने वर्षा-कालमें शिप्रानदीमें कमल-पुष्पोंका उल्लेख किया है[2]। वे वसन्त[3] तथा ग्रीष्ममें[4] भी इस पुष्पको न भूल सके थे।

राजशेखरने कविसमयके प्रसङ्गमें पद्मके दिवाविकासका उल्लेख नहीं किया पर साहित्यदर्पणमें इस बातकी चर्चा है। कहना न होगा कि कवियोंने कमलका दिनमें विकसित होना वर्णन किया है[5]। राजशेखरके उदाहृत एक श्लोकसे जान पड़ता है कि कविने आदिवराहके श्वेत दाँतोंसे पुण्डरीक-मुकुलकी उपमा दी है[6]। असलमें पुण्डरीकके मुकुल सफेद नहीं होते। राजशेखरने यह बात लक्ष्य भी की थी। पद्ममें लक्ष्मीका निवास तो भारतीय कवियोंका एक अतिपरिचित विषय है[7]।

२० प्रियङ्गु

(१)

कविसमयके अनुसार प्रियंगु स्त्रियोंके स्पर्शसे विकसित हो उठता है[8]। प्राचीन युगमें महलों और बागीचोंके अग्रभागमें प्रियंगुके वृक्ष लगाये जाते थे[9]। लेकिन आजकल इस पुष्पके बारेमें पर्याप्त मतभेद है। बङ्गाल और बिहारके पंसारी एक तरहका प्रियंगु-फल बेचते हैं जो सुगन्धित नहीं होता; पर अमरकोष[10], धन्वन्तरि

१ वनौषधिदर्पण पृ० ४०१-२। २ मेघदूत १-३०। ३ कुमारसम्भव ३-३७। ४ ऋतुसंहार १-२८। ५ सुभाषितरत्नभा० ३८९। ६ काव्यमीमांसा २४। ७ सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० ३९०। ८ दे० शी० २ टि०। ९ बृहत्संहिता ५५-३। १० अमर० ४-५५।

निघंटु [1] और चक्रदत्तके [2] अनुसार प्रियंगुमें सुगंध होनी चाहिए। कविने ऋतु-संहारमें सुगंधित द्रव्योंके साथ ही प्रियंगुका वर्णन किया है [3]। बृहत्संहिताके गन्ध-युक्ति प्रकरणमें प्रियंगुका उल्लेख सुगंधित द्रव्योंमें है [4]। चरकने प्रियंगु और चन्दन-चर्चित रमणियोंके कोमल स्पर्शको दाहकी महौषध बताया है [5]। पर हमें स्त्रियोंके स्पर्शसे प्रियंगु-पुष्पके विकसित होनेका उदाहरण काव्यमें नहीं मिला।

(२)

प्रियंगुके विषयमें दूसरा कविसमय है कि यद्यपि इसके पुष्प पीत वर्णके होते हैं तथापि उसे पीत नहीं वर्णन करना चाहिए [6]। राजशेखरने उदाहरण देनेके लिए जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें प्रियंगु-पुष्पको श्याम रंगका बताया गया है [7]। प्रियंगुका एक नाम श्यामा लता भी है [8]। कविराज विरजादास गुप्तने बृहन्निघण्टु-रत्नाकरसे उद्धृत करके बताया है कि इस वृक्षका एक नाम 'कृष्ण पुष्पी' भी है [9]। इसपरसे वे अनुमान करते हैं कि यह फूल काला होता होगा। डिमक खोरीने [10] अपनी पुस्तकके प्रथम खंड, पृ० ३४३ पर प्रियंगुके पुष्पोंका पीला होना लिखा है किन्तु एक दूसरे वनस्पतिशास्त्री नाइटने 'फिगर्स आफ़ इंडियन प्लाँट्स' नामक ग्रन्थक प्रथम खण्ड, पृ० १६६ पर इसका जो चित्र दिया है उससे डिमकके मतका ऐक्य नहीं सिद्ध होता।

नवग्रह-स्तोत्रमें बुधके प्रणाम-मन्त्रमें प्रियंगु-कलिकाका श्याम होना उल्लिखित है। किन्तु यह लक्ष्य करनेकी बात है कि बुधके ध्यानमें सर्वत्र बुधका वर्ण पीत बताया गया है। यहाँ अचानक प्रियंगु-कलिकाके समान बुधका श्याम वर्ण होना आश्चर्यका विषय ही है। क्या यह अनुमान असंगत होगा कि पहले पाठ 'प्रियंगुकलिका-पीतं' था, बादमें किसी कविसमयके जानकारने 'पीतं' को काटकर 'श्यामं' कर दिया? यह ज़रूर है कि ज्योतिष-ग्रन्थोंके अनुसार बुधका वर्ण दूर्वाश्याम है [11]।

---

१ वनौषधिदर्पण, पृ० ४४६। २ चरक-संहिता टीका। ३ ऋतुसंहार ६-१२। ४ बृहत्संहिता ७७-२९। ५ दाहचिकित्सा। ६ काव्यमीमांसा १५, अलंकारशेखर १५, अलंकारचिन्तामणि, पृ० ७-८ इत्यादि। ७ काव्यमीमांसा १५। ८ ऋतुसंहार ६-१२ टीका। ९ वनौषधिदर्पण, पृ० ४४५। १० वनौषधिदर्पणमें उद्धृत। ११ बृहज्जातक ३-२।

२१ भूर्जपत्र

कवि-समयके अनुसार केवल हिमालयमें ही भूर्जत्वक्का वर्णन होना चाहिए[१]। हिमालयमें ये बहुतायतसे पाये भी जाते हैं। इनकी ऊँचाई कभी कभी ६० फुट तक होती है। सिरेपर बहुत-सी शाखा-प्रशाखायें होती हैं। कुरम उपत्यकामें यह वृक्ष १०–१५ हज़ार फुटकी ऊँचाईपर पाया गया है। हिमालयमें १४००० फुट और उत्तरी पंजाबमें ७००० फुटकी ऊँचाईपर इसके वृक्ष होते हैं। भारत-वर्षमें सतलजकी घाटीसे लेकर नेपाल गढ़वालतक ५००० से १०००० फुटकी ऊँचाईपर ये वृक्ष पाये गये हैं। चीन और जापानमें भी ये वृक्ष मिलते हैं। एक दूसरी जातिके भोजपत्र दार्जिलिंगकी तराई, आसामकी पहाड़ियों और लोअर ब्रह्माकी पहाड़ियोंपर पाये जाते हैं[२]। पर सब बातोंका ध्यान रखते हुए इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि भूर्जपत्र मुख्यतः हिमालय पर्वतमालाका ही वृक्ष है। कालिदासने हिमालय और कैलासके वर्णनमें इसका नाम लिया है[३]। राज-शेखरने पश्चिमी वायुके वर्णनमें हिमालय पर्वतके भूर्जद्रुमोंका वर्णन किया है[४]।

२२ मन्दार

मन्दार रमणियोंके नर्म-वाक्यसे पुष्पित होता है[५]। यह इन्द्रके नन्दन-काननके पाँच पुष्पोंमेंसे एक है[६]। इस नामका एक पुष्प पंजाब और मारवाड़की ओर प्रचलित है पर ब्राण्डिसने अपने ग्रन्थमें इस जातिके मन्दारका जो चित्र दिया है उसमें पुष्पोंके स्तवक नहीं हैं[७]। कालिदासके परिचित मन्दारके वृक्षमें पुष्प-स्तवक हुआ करते थे। मन्दार अर्क और धत्तूरके वृक्षको भी कहते हैं पर असलमें कवि-वर्णित मन्दार वनस्पति-शास्त्रियोंका परिचित 'कोरल ट्री' है। इसका वृक्ष कुछ पीलापन लिये हुए भूरे रंगका होता है। पुष्प-स्तवकमें बैंगनी रंगसे मिलते रंगके गोल गोल छोटे छोटे पुष्प होते हैं। वृक्ष बहुत बड़ा नहीं होता[८]। अलकापुरीवाला बालमन्दार वृक्ष इतना ऊँचा था कि उसके पुष्प हाथसे ही छुए जा सकते थे[९]। इन्द्राणीके अलकमें मन्दार-पुष्प सुशोभित रहा करते थे[१०]। शकुन्तला नाटकमें

१. काव्यमीमांसा १४; साहित्यदर्पण ७–२५; अलंकारशेखर, मरीचि १५ इत्यादि।
२. Brandis: Indian Trees. P 622. ३ कुमारसंभव १–७ और १–५५।
४ काव्यमीमांसा १८। ५ मेघदूत २–१७ मल्लिनाथकी टीका। ६ अमरकोष १–५०।
७ Indian Trees. ८ Indian Trees P. 220. ९ मेघदूत १–७५।
१० रघुवंश ६–२३।

इन्द्रने दुष्यन्तको मन्दार-माला दी थी। कुमारसंभव, रघुवंश और विक्रमोर्वशीमें महाकविने कई जगह इस मोहक पुष्पका वर्णन किया है।

२३ मयूर

कवि-समयके अनुसार मयूर केवल वर्षा-ऋतुमें नृत्य करते हैं[3]। भारतवर्षमें दो जातिके मयूर पाये जाते हैं, एकका कंठ नीला होता है और अपांग (दृष्टि) शुक्ल होता है; दूसरेका कंठ नील नहीं होता। पहली जातिका मोर ही भारतवर्षमें सर्वत्र पाया जाता है। कवि-समयके अनुसार मयूरका कंठ नील ही वर्णन करना चाहिए। कालिदासने इसी जातिके मयूरका वर्णन किया है। जूनसे लेकर सितम्बर तक मयूरोंके गर्भाधान और सहवासका समय है। मयूरीको प्रलुब्ध करनेके लिए इस समय पुरुष-मयूर प्रमत्त भावसे नृत्य करता है[5]। मेघ देखकर पर्वतोंपर इसका मनोमोहक नृत्य और समुत्सुक केकाध्वनि करना एक निरतिशय नैसर्गिक व्यापार है। वर्षाऋतुके अन्तमें जब गर्भाधान हो जाता है, तब इसका पुच्छ (वर्ह) स्खलित हो जाता है। फिर इसका नृत्य या तो होता ही नहीं, या क्वचित् कदाचित् दिख भी गया तो मनोहर नहीं होता। रामायणमें इन गलितवर्ह पक्षियोंका उल्लेख है[6]। कालिदासने भी इस वर्हस्खलनव्यापारको लक्ष्य किया था। मेघदूतसे जान पड़ता है कि भवानी इस स्वयं-स्खलित वर्हको कानोंमें धारण करती थीं। गोपवेशधारी विष्णु भी स्खलित वर्हका आभरण धारण करते थे।

पक्षितत्त्वज्ञोंने इस बातपर ज़ोर ज़रूर दिया है कि मयूर वर्षाकालमें प्रमत्त भावसे नृत्य करता है, पर इसका अन्य ऋतुओंमें नृत्य भी विरल-दर्शन नहीं है। रामायणमें वसन्त-वर्णनके अवसरपर आदि कविने मयूरियोंसे घिरे हुए मद-मूर्च्छित और प्रनृत्यमान मयूरोंका वर्णन किया है[7]।

२४ मालती

मालती-लता सालमें दो बार फूलती है, वसन्तमें और वर्षा तथा शरतमें।

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७-२। २ कुमारसम्भव ५-८०; विक्रमोर्वशी ४-३५। ३ काव्यमीमांसा १४; साहित्यदर्पण ७-२५। ४ मेघदूत। ५ Hwme and Marshall, The Game Birds of Ingia, Burmha and Ceelon. Vol. III, P. 427. ६ रा० ४-३०-४० और ४-३०-३३। ७ रा०४,१,३६-३७ और भी देखिए ४,१,३८-३९-४०।

लेकिन कवि-समयके अनुसार इसका वर्णन वसन्तमें नहीं होना चाहिए[१]। मालतीके इस दो बार पुष्पोद्गमको देख कर ही कवि रवीन्द्रनाथने एक गानमें कहा है—हे मालती, तुममें यह दुविधा क्यों है ? कालिदासने वर्षा[२] और शरत्[३] दोनों ऋतुओंमें मालती-पुष्पका विकसित होना वर्णन किया है। रामायणमें आदिकविने वर्षा-ऋतुके मेघाच्छन्न आकाशके वर्णनके सिलसिलेमें कहा है कि मालतीके विकसित होनेसे ही सूर्यके अस्त हो जानेका अनुमान होता है[४]। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्यने ऋतुचिह्नोंका वर्णन करते समय मालतीका वर्षामें खिलना ही वर्णन किया है। फिर भी संस्कृत-साहित्यमें मालतीका वसन्त-विकास-वर्णन कम नहीं है। वाल्मीकि-रामायणमें[५] तो इसका वसन्त-विकास वर्णित है ही, प्राचीन कवि व्यासदास[६] और विज्जकाका[७] भी वर्णन इस बातका समर्थक है। मालतीका एक नाम जाती भी है। वैद्यकके सभी निघंटुकार इस बातको मानते हैं, लेकिन भावप्रकाशमें जाती और मालती ये जुदी लताएँ मान ली गई हैं और ग्रन्थकारने जातीका भाषा-नाम चमेली बताया है। वनौषधि-दर्पणकार इस सिद्धान्तसे बड़े चक्करमें पड़ गये हैं और इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि भावप्रकाशके पहलेके ग्रंथोंमें जाती और मालती एक हैं और बादके ग्रंथोंमें जातीका अर्थ चमेली है और मालतीका मालती[८]। हम इस विचित्र सिद्धान्तकी कोई ज़रूरत नहीं समझते।

२५ मुक्ता (मोती)

कविप्रसिद्धि है कि केवल ताम्रपर्णी नदीमें ही मोती पैदा होते हैं[९]। शास्त्रोंके अनुसार हाथी, मेघ, सूअर, मछली, शुक्ति (सीपी), बाँस, साँप और मेंढक,—इन आठ चीज़ोंसे मोती पैदा होते हैं। गरुड़पुराण मेंढकवाले मोतीकी चर्चा नहीं करता और इसके मतसे इन सबमें शुक्त्युद्भव मोती ही श्रेष्ठ है। यही एक-मात्र प्रकाशमान और वेध्य होता है। शंख और हाथीसे पैदा हुआ मोती सर्वाधम है[१०]। गरुड़पुराणके अनुसार मोती आठ आकरोंसे आते हैं: सिंहल,

---

१ काव्यमीमांसा १४; साहित्यदर्पण ७-२५; अलंकारशेखर १५। २ ऋतुसंहार २-२४। वही ३—२। ४ वाल्मीकि रा० ४—२८—५२। ५ रा० ४—१—७६। ६ सुभाषितावली १६५८। ७ काव्यप्रकाश १ में उद्धृत। ८ बनौषधिदर्पण पृ० ५५१—२। ९ काव्य-मीमांसा १४, अलंकारशेखर १५, आदि। १० गरुड़पुराण, अध्याय ६९—४, शब्दकल्पद्रुम।

परलोक (मेघोंसे मतलब है), सौराष्ट्र, ताम्रपर्ण, पारसु, कौवेर, पाण्ड्य, विराट्, और मुक्ता। । जिन चीज़ोंसे मोती पैदा होते हैं उनमें स्वातिका जल पड़नेसे ही मोती हो सकते हैं, यह पौराणिक विश्वास है। यह सब होते हुए भी कविजन केवल ताम्रपर्णी नदीमें ही मोतियोंका वर्णन करते हैं[1]।

२६ रङ्ग[2]

कवि-समयके अनुसार यश, हास आदिका रङ्ग सफ़ेद, अपयश और पाप आदिका काला, क्रोध और अनुराग आदिका लाल होता है।

फूलोंमें कुन्द-कुड्मलका रङ्ग लाल नहीं वर्णन किया जाता; कमल-मुकुलका हरा और प्रियंगु-पुष्पोंका रङ्ग पीत नहीं वर्णित होता।

सामान्यतः मणि-माणिक्यका रङ्ग लाल[4], पुष्पोंका सफ़ेद[5] और मेघका काला माना जाता है[6]।

---

१ काव्यमीमांसा १४। २ काव्यमीमांसा, अध्याय; १४–१६ अलङ्कारशेखर १५ इत्यादि। ३ अलङ्कारशेखर लाल वर्णनके लिए इन वस्तुओंका और निर्देश करता है—जपा, रत्न, सूर्य, पद्म, पल्लव, बन्दूक, दाडिम और करज (अंगुली। ४ सामान्यतया श्वेतरङ्गके लिए अलङ्कारशेखर और योग करता है—पुष्प, जल, छत्र, वस्त्र। ५ कालेके लिए अलङ्कारशेखर और कहता है—शैल, मेघ, वृक्ष, समुद्र, लता, भिल्ल, असुर, पङ्क, और केश। पीलेके लिए अलंकारशेखर निर्देश करता है—शालिमण्डूक, वल्कल और पराग। ६ अन्यत्र (१७. अध्याय) अलङ्कारशेखर निम्नलिखित भावसे रंगका निर्देश करता है—

श्वेत—चन्द्र, इन्द्रके घोड़े, शिव, नारद, भार्गव, हली, शेष, सर्प, इन्द्रका हाथी, सिंह, सौध, शरत् कालके मेघ, सूर्यकान्त, चन्द्रकांतमणि, केंचुल, मन्दार, हिमालय, हिम, हास, मृणाल, स्वर्गंगा, हस्तिदन्त, अभ्रक, सिकता, अमृत, लोध्र, गुण, कैरव, शर्करा।

नील—कृष्ण, चन्द्रचिह्न, व्यास, राम, अर्जुन, शनि, द्रौपदी, काली, राजपट्ट, विदूरज, विष, आकाश, कुहू, शस्त्र, अगुरु, पाप, तम, रात्रि, अद्भुत और शृंगार-रस, मद, ताप, बाण, युद्ध, बलरामके वस्त्र, यम, राक्षस, खंजन और मोरका कण्ठ, कृत्या, छाया, गज, अङ्गार, और दुष्टका अन्तःकरण।

लाल—क्षात्रधर्म, त्रेता, रौद्ररस, चकोर, कोकिल-पारावतके नेत्र, कपिमुख, तेजःसार, मंगल, कुंकुम, तक्षक, जिह्वा, इन्द्रगोप, खद्योत, विद्युत, कुञ्जरबिंदु।

कृष्ण, नील, हरित, श्याम आदि रङ्गोंका प्रयोग एक दूसरेके स्थानपर किया जा सकता है। यह मान लिया जाता है कि ये रंग एकार्थवाचक हैं। इसी प्रकार पीत और रक्तको, तथा श्वेत और गौरको एक ही रङ्ग मान लिया जाता है

आँखोंका वर्णन अनेक रङ्गका किया जाता है—कभी श्याम, कभी कृष्ण, कभी श्वेत, कभी लाल और कभी मिश्र रङ्ग।[1]

२७ राजहंस

(१)

कवि-समयके अनुसार वर्षाकालमें हंस उड़कर मानसरोवरको चले जाते हैं[2]। कालिदासने भी वर्षाकालमें मानस-सरके लिए उत्कण्ठित हंसोंको कैलासकी ओर उड़ते जाते देखा था[3]। हंस अनेक जातियोंके होते हैं। अमरकोषके मतसे लाल चरण और चोंचवाले सित (श्वेत) वर्णके हंसको राजहंस कहते हैं[4]। भारतवर्षमें इस जातिके हंस विरल नहीं। ह्विस्लरका कहना है कि उत्तर और मध्य एशियामें जब कड़ाकेकी सर्दी पड़ने लगती है तो हंस जातिके अनेक पक्षी दल बाँधकर दक्षिणकी ओर अक्लान्त भावसे दिवा-रात्रि उड़ते हुए हिमालय पर्वतको लाँघते दिखाई देते हैं। ये प्रजनन और आहारकी सुविधाओंके लिए जुलाईके आरम्भमें ही फिर हिमालयको लाँघना शुरू कर देते हैं। सितम्बरके महीनेमें इन प्रव्राजकोंकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। हिमालयको पूर्वी और पश्चिमी दोनों सिरोंसे ये पार करते हैं[5]। मेघोंके साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कई जातियोंके हंस तिब्बतकी लडाक झीलमें और कैलासके पाददेशमें अवस्थित मानसरोवरमें अण्डा देते हैं। हिमालयके नाना स्थानोंमें, और मानसरोवरमें भी, पक्षितत्त्वज्ञोंने राजहंसों तथा अन्यान्य हंसोंको वर्षाकालमें अवस्थान करते देखा

पीत—दीप, जीव, इन्द्र, गरुड़, शिवके नेत्र और जटा, ब्रह्मा, वीररस, स्वर्ण, वानर, द्वापर, गोरोचन, किञ्जल्क, चक्रवाकी, हरिताल, मनःशिल।

धूसर—रज, लूता, करभ, गृहगोधा, कपोत, मूषक, दुर्गा, काककण्ठ, गर्दभ।

हरित—सूर्याश्व, बुध, मरकत आदि।

१–२ साहित्यदर्पण ७–२३। ३ मेघ०। ४ अमरकोश ५–२४। ५ A Popular Hand book of Indian Birds (1928) P. XXI.

है[१]। इससे जान पड़ता है कि उक्त कविप्रसिद्धि नितान्त अमूलक नहीं है। इतना ज़रूर है कि सभी हंस मानसरोवरमें ही नहीं जाते। हिमालयके यात्रियोंने यह भी लक्ष्य किया है कि कभी कभी हिमालयकी ही झीलोंमें अनुकूल वास-मिलने-पर ये पक्षी अन्यत्र नहीं जाते। यक्षके उद्यानकी वापीमें वास करनेवाले हंस मेघोंको देखकर भी मानसरोवरके लिए उत्कण्ठित नहीं हुए थे[२]। कारण्डव और कादम्ब आदि पक्षी भी हंसकी ही जातिके हैं। अति धूसर पक्षका कलहंस कादम्ब कहलाता है और कारण्डव एक जातिका शुक्ल हंस है[३]। कालिदासने वर्षाकालमें इनका भी प्रव्रजन वर्णन किया है।

(२)

एक दूसरा कवि-समय है कि जलाशयमात्रमें हंसका वर्णन होना चाहिए[४]। वराहमिहिरने उन वापियोंको शुभ-फलप्रद बताया है जिनमें सदैव हंसादि पक्षियों-का वास रहे[५]। पक्षितत्त्वज्ञोंने लक्ष्य किया है कि अक्टूबरसे जुलाईतक हंस जातिके अनेक पक्षी सारे भारतकी स्वच्छतोया नदियों और जलाशयोंमें वास करते हैं। कई जातिके जलचारी पक्षी तो साल-भर इन जलाशयोंमें रहते हैं। रामायणमें वसन्तकालमें हंस पक्षियोंका वर्णन मिलता है[६]। महाकवि कालिदासने ऋतु-संहारमें शरत्कालमें और शिशिर ऋतुमें इन पक्षियोंका वर्णन किया है[७]। राज-शेखरने भी शरत्कालमें इन पक्षियोंका वर्णन किया है।[८]

२८ वकुल (बकुल)

सुन्दरियोंकी मुख-मदिरासे सिंचकर बकुल-पुष्प कुसुमित हो जाता है[९]। बकुलका हिन्दी नाम मौलसिरी है। अपने विशाल आकार, घनी छाया और आमोदमय पुष्पके कारण यह वृक्ष साधारण जनता और कवि दोनोंका परम प्रिय है। राजशेखरकृत काव्य-मीमांसामें ऊपरकी कवि-प्रसिद्धिका उल्लेख नहीं है, पर इस ग्रन्थसे बकुलके इस गुणका समर्थन होता है। कालिदासके मेघदूत[१०] और रघुवंश[११] आदि ग्रन्थोंसे इस वृक्षके इस गुणका समर्थन होता है।

---

१ रामायण ४-१-७८। २ ऋतुसंहार। ३ गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग। ४ काव्यमीमांसा १८ अध्याय। ५ देखिए शार्षक ७ [१]। ६ काव्यमीमांसा १४, अलङ्कारशेखर १५ इत्यादि। ७ अमरकोष, वनौषधिवर्ग ७०। ८ B. D. Basu: Indian Medical Plants I P. 556। ९ काव्यमीमांसा १४। १० ऋतुसंहार ३-१५। ११ बिद्ध-शालभञ्जिका २-१९। १२ काव्यमीमांसा १८ शरद्वर्णनम्। १३ काव्यमीमांसा १८।

रामायणमें वसन्त ऋतुमें इसका खिलना वर्णित है[१]। कालिदासने इस पुष्पका वर्षा और वसन्त दोनों ऋतुओंमें वर्णन किया है[२]। जयदेवके गीतगोविन्दमें वसन्त-वर्णनमें इस पुष्पकी चर्चा है[३]। असलमें यह वसन्तके अन्तमें खिलने लगता है और शरत्कालतक खिलता रहता है। राजशेखरने इसके वसन्तविकासका वर्णन किया है[४]। शरत्कालमें इसके फूल बड़े मादक-गन्धी हो जाते हैं। इसीलिए निघण्टुकारोंने इसका एक नाम 'शीधुगन्ध' रखा है। बकुलका ही नाम केशर भी है। पौराणिक कथाके अनुसार कामके धनुषका ही यह पार्थिव रूप है[५]।

२९ शेफालिका (हरसिङ्गार)

शेफालिकाके पुष्प कविसमयके अनुसार केवल रातमें झड़ते हैं[६]। शेफाली या शेफालिका नामके दो वृक्ष वैद्यक शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, एक निर्गुण्डी और दूसरा हरसिङ्गार[७]। पुष्पोंके प्रसङ्गमें कविगण दूसरेका ही वर्णन करते हैं। निर्गुण्डीको वैद्योंने पुष्पवर्गमें नहीं माना है। शेफाली सारे भारतवर्षमें पाई जाती है। कोंकणमें यह वर्षामें खिलती है और अन्यान्य प्रदेशोंमें वर्षाके अन्तमें खिलने लगती है और सारे शरत्कालतक खिलती रहती है[८]। इसके पुष्प श्वेत रङ्गके बड़े ही कोमल होते हैं। पुष्पनाल इषत् पिङ्गलाभ लाल रङ्गके होते हैं। रातको ही शेफाली विकसित होकर वनभूमिको सुरभिसिक्त कर देती है। उषःकाल होते ही इसके पुष्प झड़ने लगते हैं और सूर्योदय होते होते वनभूमि श्वेतपुष्पोंसे आवृत हो जाती है। सूर्योदयके बाद तक भी पुष्प झड़ते रहते हैं, पर कविजन इसका वर्णन सूर्योदयके पहले ही करते हैं[९]। कालिदासने शरदृतुमें इस पुष्पका वर्णन किया है[१०]। राजशेखरने अपनी विद्धशालभंजिकामें चन्द्रके बिना शेफालीके न खिलनेका उल्लेख किया है[११]। राजशेखरने अन्यत्र शरद् ऋतुमें इस पुष्पका विकसित होना लक्ष्य किया है।[१२] उनकी काव्यमीमांसामें उदाहृत एक चन्द्रोदय-वर्णन-परक श्लोकसे मालूम होता है कि उस समय शेफालिकाके पुष्प झड़ चुके होते हैं।[१३]

---

१ कालिदासेर पाखी पृ १० । २ मेघदूत । ३ सूश्रुत, सूत्र० ४६-१०५ टीका । ४ काव्यमीमांसा १४; साहित्यदर्पण ७-२३; अलंकारशेखर मरीचि १५ । ५ बृहत्संहिता ५६-४-५ । ६ रामायण ४-१३-६-६४ । ७ ऋतुसंहार ३ । ८ काव्यमीमांसा १८; शरद्वर्णन । ९ मेघदूत १-१७ और कुमारसम्भव ३-२९ पर मल्लिनाथकी टीका । १० मेघ० २-१७ । ११ रघुवंश ९ ।

३० सहकार (आम)

कहते हैं, सुन्दरियोंके मुँहकी हवा पाकर सहकार-तरु या आमका वृक्ष कुसुमित हो जाता है[१]। आम स्वनामधन्य वृक्ष है। अपने पल्लव, पुष्प और फलके रूपमें किसी अन्य वृक्षने सहृदयों और कलाकारोंको उसका आधा भी प्रभावित नहीं किया जितना इस वृक्षने। कवियोंने सहकार-लताका भी वर्णन किया है। आमकी एक लता होती भी है। सुना है, लता रूपमें आम नई उपज है; पर कालिदासने सहकार-लताका वर्णन किया है[२]। वह क्या कोरी कविकल्पना है? शायद उसी युगमें आमकी लताएँ होने लगी थीं। कविने ठीक ही कहा है कि उपवनमें तो वैसे कितने ही पुष्प खिले हैं, पर पुष्पकेतुके विश्वविजयमें अकेला सहकार ही सहकारी है।

३१ समानार्थक

निम्नलिखित बातें भिन्नार्थक होते हुए भी एकार्थककी तरह प्रयुक्त की जाती हैं[३] (१) चन्द्रमामें शश और हरिणकी एकार्थता प्रसिद्ध है, (२) कामकी ध्वजाके प्रसङ्गमें मत्स्य और मकर समानार्थक मान लिये जाते हैं, (३) अत्रि-नेत्र और समुद्रोत्पन्न चन्द्रमा एकार्थक मान लिये जाते हैं, (४) नारायण और माधव एक ही देवता हैं; (५) दामोदर, शेष, कूर्म आदि एकार्थक अवतार मान लिये गये हैं; (६) लक्ष्मीके अर्थमें कमला और सम्पद् शब्दकी एकता स्वीकार कर ली गई है, (७) द्वादश आदित्य एक ही माने जाते हैं, (८) स्वर्ण, पराग और अग्निके प्रसङ्गमें पीत और लोहितकी एकता मान ली गई है[४]।

३२ सङ्कीर्ण कवि-प्रसिद्धियाँ

(१) पर्वतमात्रमें सुवर्ण रत्न आदिका वर्णन; अन्धकारका मुष्टि-ग्राह्य और सूची-भेद्य होना; ज्योत्स्नाका घड़ेमें भरा जाना; कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्षमें ज्योत्स्ना और अन्धकारकी समानता होते हुए भी पहलेको तमोमय और दूसरेको चन्द्रिकामय वर्णन करना; शिव और चन्द्रमाका बहुकालसे जन्म होते हुए भी उन्हें बाल-रूपमें वर्णन करना; समुद्रोंकी संख्या चार और सात दोनों

१ मेघदूत २—१७ पर मल्लिनाथकी टीका। २ रघुवंश ९। ३ काव्यमीमांसा। ४ अलंकारशेखर १५।

वर्णन करना[1]; भुवनोंकी संख्या तीन, सात और चौदह कहकर वर्णन करना[2]; विद्याएँ अट्ठारह भी हैं और चार भी हैं और चौदह भी, यह स्वीकार करना[3], और मकरका वर्णन केवल समुद्रमें करना।

(२) आकाशमें मालिन्यका वर्णन करना; काम-बाणोंकी तरह स्त्रीके कटाक्षसे युवकजनका हृदय फटना।

(३) सर्वत्र जलमें शैवालका वर्णन करना; स्त्रियोंके वर्णनमें रोमावली और त्रिवलीका वर्णन करना फिर वे चाहे हों या न हों; स्त्रियोंको साधारणतः श्याम वर्णन न करना और उनके स्तनपानका सामान्यतया उल्लेख न करना; देवताओंके प्रसङ्गमें पहले देवता और तब देवीका वर्णन, पर मनुष्योंके प्रसङ्गमें पहले नायिका तब नायकका वर्णन; मनुष्योंका सिरसे और देवताओंका पैरसे आरम्भ करना; स्थलचारी जीवोंका जलमें भी वर्णन करना; रणमें मरे हुए पुरुषका सूर्यमण्डलको भेद करते हुए जाते वर्णन करना; लोकोंको सृष्ट्यादिमें महत्‌रूप और सृष्ट्यन्तमें सूक्ष्मरूप वर्णन करना; शब्दसे पहाड़का फटना; आकाशका सौ धनु ऊपर वर्णन करना; उपाधि और नामकी एकता, जैसे शङ्कर और वृषवाहन; चिह्न, वाहन और ध्वजको एक ही वस्तु न मानना; शिवको शूली (शूलवाला) तो कहना पर सर्पी (सर्पवाला) न कहना; चन्द्रमाको शशी (शशवाला) कहना पर हरिणी (हरिणवाला) न कहना; महादेवको इन्दुमौलि

---

१ शब्दकल्पद्रुम तृतीय खण्ड ५२० पृष्ठपर उदधृत वह्निपुराणका वचन। २ तीन भुवन, ये हैं—भूः, भुवः, स्वः, सात भुवन (लोक) इस प्रकार हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यः; इन्हींमें सप्तद्वीप अर्थात् जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मक, मेद, पुष्करका योग करनेसे भुवन चौदह होते हैं—अग्निपुराण, गणमानाध्याय।

२ प्रायश्चित्त तत्त्वमें विष्णुपुराणसे ये श्लोक उद्धृत हैं जिससे विद्याकी चौदह और अट्ठारह संख्याएँ प्रकट होती हैं—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥

(जिसके सिरपर चन्द्रमा है) तो कहना पर गङ्गामौलि (जिसके सिरपर गङ्गा है) कभी न कहना; र और ल, ड और ळ, ब और व, श और स का भेद न मानना; चित्रकाव्यमें अनुस्वार-विसर्गकी गणना न करना; इव, वत, वा, हि, ही, ह, स्म, त्रत, वै, नु, किल, एव और च : इन अव्ययोंको पदके आदिमें व्यवहृत न करना ;भूत, इन्द्र, भारत और ईश : इन अन्यायोंको पदके आदिमें व्यवहृत न करना; भूत, इन्द्र, भारत और ईश : इन शब्दोंके पूर्वमें महत् शब्दको निरर्थक ही प्रयोग करना (अर्थात् महेन्द्र और इन्द्र, महाभारत और भारत इत्यादिमें कोई अर्थ-भेद नहीं होता) और ब्राह्मण, वृष्टि, भोज्य, औषध, पथ्य आदिके पूर्ववर्ती महत् शब्दका दुष्ट अर्थमें प्रयोग करना ।

७

स्त्री-रूप

स्त्रीका-रूप—स्त्रीके रूपके सम्बन्धमें अधिकांश रूढ़ियाँ सामुद्रिक लक्षणों, देवियोंके रूप तथा काम-शास्त्रीय विश्वासों आदिसे गृहीत हुई हैं। समग्र स्त्री-शरीरकी उपमा चन्द्रकला, कमल-रज्जु, शिरीषमाला, विद्युल्लता, तारा, सोनेकी लता या सोनेकी छड़ी, दमनक-यष्टि और दीप-शिखा आदिसे दी जाती है[1]। लक्ष्य करनेकी बात है कि कवि-गण स्त्री-शरीरका वर्णन साधारणतः श्यामल रूपमें नहीं करते[2] बल्कि श्वेत या गौर रूपमें करते हैं। वस्तुतः श्वेत और गौर भी कवियोंके लिए एकार्थक शब्द हैं[3]। गोवर्धनके मतसे स्त्री-शरीरमें निम्न-लिखित कई गुण होने चाहिए : सौन्दर्य, मृदुता, कृशता, अतिकोमलता, कान्ति, उज्ज्वलता और आवल्य या सुकुमारता[4]। स्त्री-शरीरके उपमेय इन गुणोंको ध्यानमें रख कर ही ढूँढ़े गये थे। इन गुणोंका नाना देवियोंके रूपसे संगृहीत होना अनुमानका विषय है। लक्ष्मी और गौरीके ध्यानमें स्वर्ण-प्रभा, अन्नपूर्णा और सरस्वतीके ध्यानमें सौकुमार्य या आवल्य, तुलसीके ध्यानमें अंगका यष्टित्व और आवल्य, सावित्री और सरस्वतीके ध्यानमें औज्ज्वल्य तथा राधिका और सरस्वतीके ध्यानमें कान्तिका उल्लेख पाया जाता है[5]। इन देवियोंके रूपमें सौन्दर्यको प्रधान

---

१ अलंकारशेखर १३–१। २–३ कविप्रसिद्धियाँ देखिए। ४ अलंकारशेखरमें उद्धृत।

५ लक्ष्मीका ध्यान—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलाम्
क्षौमाबद्धनितम्बभागललितां वन्देऽरविन्दस्मिताम्॥ पुरोहितदर्पण पृ. १६६

उपादान माना गया है। समस्त देवियोंको दिव्य वस्त्रालंकारसे युक्त माना गया

नवयौवनसम्पन्नां तप्तकाञ्चनसन्निभाम्।
त्रिनेत्रां द्विभुजां रम्यां दिव्यकुण्डलधारिणीम्॥—प्रणतोषिणी, पृ. ५५८

गौरीका ध्यान—

हेमाभां बिभ्रतीं दोर्भिर्दर्पणाञ्जनसाधने।
पाशांकुशौ सर्वभूषां तां गौरीं सर्वदा भजे॥ पु० द०, पृ० ३३२

सरस्वतीका ध्यान—

तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्ति
कुचभरनमितांगी सन्निषण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखनी पुस्तकश्रीः
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः॥—पुरोहितदर्पण, पृ० २२७

तुलसीका ध्यान—

ध्यायेद्देवीं नवशशिमुखीं पक्वबिंबाधरोष्ठीं
विद्योतन्ती कुचयुगभरान्नम्रकल्पाङ्गयष्टिम्।
ईषद्धास्योल्लासितवदनां चंद्रसूर्याग्निनेत्रां
श्वेतांगी तामभयवरदां श्वेतपद्मासनस्थाम्—प्रणतोषिणी, पृ० ७१३

अन्नपूर्णाका ध्यान—

रक्तां विचित्रवसनां नवचंद्रचूडामन्नप्रदाननिरतां स्तनभारनम्रां।
नृत्यन्तमिन्दुशकलाभरणं विलोक्य हृष्टां भजे भगवतीं भवदुःखहन्त्रीम्॥

सावित्रीका ध्यान—

सावित्रीं द्विभुजां पद्मासनस्थां हंसवाहनाम्,
शुद्धस्फटिकसंकाशां दिव्याभरणभूषिताम्।
पक्वबिंबाधरोष्ठी च पूर्णचन्द्रनिभाननाम्
ललाटतिलकोपेतां मध्यक्षीणामहं भजे।

राधिकाका ध्यान—

अमलकमलकान्तिं नीलवस्त्रां सुकेशां,
शशधरसमवक्त्रां खञ्जनाक्षीं मनोज्ञाम्॥
स्तनयुगगतमुक्तादामदीप्तां किशोरीम्।
व्रजपतिसुतकान्तां राधिकामाश्रयेऽहम्॥—पुरोहितदर्पण

है और इस प्रकार आभरणोंको भारतीय काव्यमें स्त्री-रूपका एक आवश्यक अंग मान लिया गया है। इसीलिए दमनक-यष्टि और सपुष्पा लताके साथ ही स्त्री-शरीरकी तुलना करना रूढ़ हो गया है। कामशास्त्रमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ मानी गई हैं; पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। इनमें प्रथम दो श्रेष्ठ हैं और इसीलिए सौन्दर्यका आदर्श उनके लक्षणोंसे भी ग्रहण किया गया है। उक्त गुण इन दो जातियोंकी स्त्रियोंमें भी पाये जाते हैं [1]।

दूसरी लक्ष्य करनेकी बात यह है कि काव्यमें, यदि विशेष कोई कारण न हो तो स्त्रीको या तो सत्त्वगुण-प्रधान वर्णन करते हैं या रजोगुण-प्रधान (विलासिनी)। इसीलिए तमःप्रधान कृष्णवर्णके साथ कोई उपमा नहीं दी जाती। स्त्री-शरीरके रंगके लिए साधारणतः रोचना, स्वर्ण, विद्युत्, हरिद्रा (हल्दी), वराटक (कौड़ी), चम्पा, केतकपुष्प (केवड़ा) आदिकी उपमा देते हैं। ये उपमान ही स्त्री-शरीरके रंगके लिए रूढ़ हो गये हैं। अ० शे० १३—२।

मुखमण्डल, केश आदि—स्त्री-शरीरके वर्णनमें सबसे अधिक ध्यान मुखमण्डलके ऊपर दिया गया है। सारे मुखकी चन्द्रमा, कमल या दर्पणके साथ उपमा देना कवियोंमें रूढ़ हो गया है। साधारणतः केश, ललाट, कपोल, मुख, नासिका, नेत्र, अधर, ओष्ठ, दाँत, वाणी और कण्ठ : ये ही मुखमण्डलके वर्णनीय अवयव हैं।

---

१ पद्मिनीका लक्षण—

भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररंध्रा
अविरलकुचयुग्मा दीर्घकेशी कृशांगी।
मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता
सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगंधा॥

चित्रिणीका लक्षण—

भवति रतिरसज्ञा नातिदीर्घा न खर्वा
तिलकुसुमसुनासा स्निग्धदेहोत्पलाक्षी।
कठिनघनकचाढ्या सुंदरी सा सुशीला
सकलगुणविचित्रा चित्रिणी चित्ररक्ता।—रतिरहस्य

गोवर्धनके मतसे केशोंमें दीर्घता, कुटिलता, मृदुता, निविड़ता और नीलिमा आदि गुण वर्णन किये जाने चाहिए[1]। सामुद्रिक लक्षणोंमें केशोंका स्निग्ध, नील, मृदु और कुंचित होना सुखकर बताया गया है[2] और इनके विपरीत गुण असौभाग्य-लक्षण माने गये हैं। दैवज्ञ कामधेनुके मतसे सूक्ष्म और नील रोम सौभाग्यके लक्षण हैं[3]। इन गुणोंको बतानेके लिए कवियोंमें साधारणतः निम्न-लिखित उपमाएँ रूढ़ हैं: अन्धकार, शैवाल, मेघ, बर्ह (मयूरपुच्छ), भ्रमरश्रेणी, चामर, यमुनातरग, नीलमणि, नीलकमल, आकाश, धूपका धुँआ, इत्यादि[4]। केशकी वेणीके लिए साधारणतः सर्प, तलवार, भ्रमरपंक्ति और धम्मिल्ल या जूड़ेके लिए राहुकी उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। केशके बीचोंबीचकी माँगके लिए रास्ता, दण्ड, गंगाकी धारा आदि उपमायें दी जाती हैं[5]।

ललाटकी उपमाके लिए अष्टमीका चाँद या स्वर्णपट्टिका प्रसिद्ध उपमायें हैं[6]। सामुद्रिक लक्षणोंमें ललाटका समतल होना अर्थात् न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना सौभाग्यका लक्षण माना जाता है[7]। कपोलोंमें गोवर्धनके मतसे वर्णनीय गुण स्वच्छता है[8]। इस गुणके लिए कविने इसका उपमान चंद्रमा और दर्पणको चुना है[9]।

नेत्रोंका वर्णन कवियोंने अनेक प्रकारसे किया है। स्निग्धता, विशालता, लोलता, कटाक्षोंकी दीर्घता, नीलता, प्रान्तभागकी लालिमा, श्वेतता, बरौनियोंकी निविड़ता: ये आँखोंके गुण हैं[10]। वराहने उन आँखोंको प्रशस्त कहा है जो नील कमलकी द्युति हरण करनेवाली हों[11]। इन गुणोंका सादृश्य दिखानेके लिए कवियोंने निम्नलिखित उपमेयोंका वर्णन भूरिशः किया है: मृग, मृग-नेत्र, कमल, कमल-पत्र, मत्स्य, खंजन, चकोर,—इन तीनोंकी आँखें: केतक, भ्रमर, कामबाण आदि[12]। ध्यान देनेकी बात यह है कि सभी उपमायें नेत्रोंके आकारके ऊपर आधारित नहीं हैं। कुछमें उनके आकार, कुछमें गुण और कुछमें उनकी

---

१ गोवर्धन (अ० शे० उद्धृत)। २ बृहत्संहिता ७०–९। ३ दैवज्ञकामधेनु १६–३१। ४ अलंकारशेखर १३–३। ५ कविकल्पलता। ६ अलंकारशेखर १३–३, १३–४। ७ बृहत्संहिता, ७०–८। ८ अ० शे० से उद्धृत। ९ अलंकारशेखर १३-४। १० गोवर्धन। ११ बृहत्संहिता ७०–७। १२ अ० शे० १३–६।

क्रियायें द्योतित हैं। गुण ऊपर बताये गये हैं : क्रिया, कटाक्षपात या अपांग-दर्शन और सम्मोहनकारिता हैं। इसीलिए कटाक्षकी उपमा विपामृत, बाण और मदिरासे दी जाती है । इसके सिवा कटाक्षकी उपमा यमुनाकी तरंगों और भृंगावलियोंसे दी गई है[1]। नेत्रोंके रंगके प्रसंगमें कवियोंने श्वेत, रक्त और कृष्ण : इन तीन रंगोंमेंसे एक, दो या तीनोंका यथारुचि और यथासमय वर्णन किया है[2]। श्वेत-वर्णनके कारण कभी कभी कुन्द पुष्पोंसे भी इनकी उपमा दी गई है। वीक्षण या देखनेकी क्रियाके संबंधमें कमलके पुष्पोंकी वर्षा या उनका उद्गमन आदि भी उपमित हुए हैं[4]। नेत्रोंके आकारके लिए मत्स्य, कमल, कमलदल, मृग-नेत्र, खंजन आदि उपमान हैं। प्राचीन चित्रों और मूर्तियोंमें इन वस्तुओंके सादृश्यरक्षी नेत्र बहुत पाये जाते हैं। मत्स्यकी उपमा केवल सादृश्यमें ही नहीं बल्कि सजलताके लिए भी व्यवहृत हुई है। सूरदासने सजल नयनोंकी उपमाके लिए मत्स्योंमें ही थोड़ी-सी योग्यता देखी थी।

दोनों भ्रुवोंका टेढ़ा होना, न बहुत मोटा और न बहुत मिला हुआ होना, सौभाग्यका लक्षण माना गया है[5]। इसीलिए उनकी उपमा वल्ली, धनुष-विशेष-कर काम-धनुष, तरंग, भृंगावली और पल्लवोंसे दी जाती है[6]। कभी कभी सर्प और कृपाण भी भ्रुवोंके उपमान कहे गये हैं[7]।

नासाके दोनों पुट समान होने चाहिए[8]। इसके लिए तिलके फूलकी उपमा देते हैं[9]। श्रीहर्षने सुझाया है कि इसका वर्णन कामके तरकशके रूपमें भी किया जाना चाहिए । इसके सिवा सुग्गेकी चोंचसे भी इसकी उपमा देनेकी रीति है[11]। अलंकारशेखरमें अन्यत्र (पृ० ४८) पाटली पुष्पको भी नासिकाका उपमान माना गया है। निःश्वासका सुगन्धित वर्णन करना भी कवियोंमें रूढ़ है।

गोवर्धनने अधरोंके लिए अत्यन्त माधुर्य, उच्छूनता (स्फीति) और लालिमा ये तीन गुण वर्णनीय बताये हैं[12]। वराहमिहिरने बन्धुजीवके समान लाल और अमांसल (पतले) अधरको प्रशस्त बताया है[13]। इन गुणोंको ध्यानमें

---

१ अ० शे० पृ० ४७ । २ अ० शे० १३–१५ । ३ कविप्रसिद्धियाँ देखिए । ४ अ० शे० पृ० ४८ । ५ बृ० सं० ७०–८ । ६ अलंकारशेखर १३–४ । ७ वही पृ० ४८ । ८ बृ० सं० ७०–७; गरुड़पुराण ६४ अध्याय । ९ अ० शे० १३–५ । १० अ० शे० टीका कामतूणीकृत्य नासां वर्ण्यते इति श्रीहर्षः । ११ अ० शे० पृ० ४८ । १२ गोवर्धन । १३ बृ० सं० ७०–६ ।

रखकर अधरोंके लिए प्रवाल (मूँगे), बिंब फल, बंधूक पुष्प, पल्लव तथा मीठे पदार्थोंसे उपमा देनेकी प्रथा है[1]। मुखके भीतरी अवयवोंमें दाँतोंमें श्वतता, अधोभागकी लालिमा और अत्यन्त दीप्ति वर्णनीय गुण माने गये हैं[2]। इसके सिवा दाँतोंका बत्तीस होना भी सौभाग्यका लक्षण माना जाता है। इन गुणोंके लिए मुक्ता, माणिक्य, नारंगी, दाड़िम-कुन्दकली और ताराओंसे उपमा देते हैं[3]। सामुद्रिक लक्षणोंके अनुसार कुन्दकलीके समान दाँत स्त्रियोंको पति-सुखके दाता माने गये हैं[4]। दाँतोंका संबंध हँसीसे है। शायद इसीलिए हास्यमें भी इन गुणोंका होना आवश्यक समझा गया है। इसके लिए ज्योत्स्ना, चन्द्रमा, फूल, अमृतके फेन और कैरवकी उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। जीभकी उपमा अञ्चल दोला आदिसे देते हैं[5]। जीभकी अपेक्षा वाणीका वर्णन करना ही कवियोंमें अधिक प्रसिद्ध है। गोवर्धनने वाणीमें दो गुण वर्णनीय बताये हैं: माधुर्य और स्पष्टता (अ० शे० पृ० ४९)। इसके लिए उपमान हैं: हंसावली, शुक, किन्नर, वेणु, वीणा, कोकिल और मीठी चीजें[3]। कंठके लिए गोवर्धनने दीर्घता और त्रिरेखता ये दो गुण बताये हैं (अ० शे० पृ० ४९)। इसका उपमान कंबु (शंख) और कपोत हैं। ग्रीवा और कंठके उपमान एक ही हैं। वराहने कंबुके समान ग्रीवाको सुखका कारण माना है। वराहने कोकिल और हंसके समान वाणीको अनल्पसुखका कारण कहा है (७०-७) और ग्रीवाके लिए भी 'ग्रीवा च कंबुनिचितार्थसुखानि धत्ते'[7] (७०-७) कहा है।

यह आश्चर्यकी बात है कि कवि लोग जहाँ मुखमण्डलपर तिलका भी वर्णन करना नहीं छोड़ते वहाँ वे कानको एकदम भूल गये हैं। कानका वर्णन कवियोंने जहाँ किया है वहाँ स्वतंत्र बुद्धिसे, रूढ़िके पालनार्थ नहीं।

कंठ और कटिका मध्यवर्ती भाग—इस प्रदेशके निम्नलिखित अंग विशेष रूपसे वर्णनीय समझे गये हैं: बाहु, हाथ, अंगुलियाँ, नख, वक्षःस्थल, नाभि, त्रिवली, रोमाली, पृष्ठ और कटि। उदरका कोई स्वतंत्र वर्णन नहीं मिलता, जहाँ मिलता है वहाँ कटि या मध्यभागके अर्थमें उसका प्रयोग रूढ़ हो गया है। गोवर्धनके मतसे भुजमें मृदुता और समता; हाथमें मृदुता, शीतलता और ललाई; स्तनोंमें अग्रभागकी श्यामता और नाभिगामिता; ये वर्णनीय गुण हैं।

---

१ अ० शे० १३-७। २ गोवर्धन। ३ अलंकारशेखर १३-८। ४ बृ० सं० ७०। ६। ५ अलंकारशेखर १३-१५। ६-७ अलंकारशेखर १३-८।

इन गुणोंके अनुरूप कवियोंमें इन अंगोंके लिए कई उपमान परम्परासे प्रचलित हैं। भुजाओंके लिए बिस (कमल)-लता मृणाल-नाल और विद्युद्वल्ली, तथा हाथोंके लिए पद्म, पल्लव और विद्रुमकी उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। सामुद्रिक लक्षणोंमें हाथकी अँगुलियोंकी कृशताको सौभाग्यका लक्षण बताया गया है[१]। इसीलिए इनकी उपमा कभी कभी मूँगोंकी टहनियोंसे दी गई है[२]। हथेलीका न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना अखण्ड सौभाग्यका कारण है[३]। नखोंके लिए कभी चन्द्रकला, कभी कुंदकी कली और कभी कभी (जैसा कि कवि-कल्पलता-कारने संग्रह किया है) पल्लव भी उपमानके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं[४]। वराहने इन अङ्गोंमें इन गुणोंका होना अखण्ड सौभाग्यका लक्षण माना है।

स्त्रीका वक्षोदेश प्राचीन और मध्ययुगके कवियोंका विशेष रुचिकर अङ्ग रहा है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस अङ्गका औन्नत्य, श्यामाग्रता, विस्तृति, दृढ़ता, पाण्डुता आदि गुण काव्यशास्त्रियोंके वर्णनीय माने गये हैं। वराहने भी वर्तुलाकृत, घन, अविषम और कठिन उरस्योंको प्रशस्त कहा है (बृ०सं० ७०-६)। इन गुणोंके लिए कवियोंमें ये उपमान रूढ़ हैं; पूगफल (सुपारी), कमल कमलकोरक, बिल्व (बेल), ताल, गुच्छ, हाथीका कुम्भ, पहाड़, घड़ा, शिव, चक्रवाक, सौवीर, जम्बीर, बीजपूर, समुद्र, छोलङ्ग आदि[५]। सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार स्त्रियोंकी दक्षिणावर्त नाभि प्रशस्त मानी गई है। इस गुणको अभिव्यक्त करनेके लिए कवियोंमें निम्नलिखित उपमान प्रसिद्ध हैं: रसातल, आवर्त, ह्रद, कूप, नद आदि[६]। कभी कभी रक्तपुष्प और विवर या पुष्करिणीके कमलके साथ भी उसकी उपमा दी गई है[७]। नाभिके ऊपरसे जो हल्की रोम-राजि ऊपर उठी होती है वह भी कवियोंका बहुत प्रिय विषय रहा है। गोवर्धनने उसमें मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता और नाभिगामिता: इन गुणोंको वर्णनीय कहा है। नाभिके निचले भागको वलि कहते हैं। तीन वलियोंका होना सौभाग्यका लक्षण माना गया है[८]। इसीलिए इसकी उपमाके लिए नदी, उसकी तरंगें, सोपान, निश्रेणी आदि उपमाएँ कवियोंमें प्रसिद्ध हैं। पीठका वर्णन प्रायः

---

१ अलंकारशेखर १३-९ और बृहत्संहिता स्त्रीलक्षणाध्याय। २ कविकल्पलता। ३ बृहत्संहिता ७० अध्याय। ४-५ अलंकारशेखर पृ०४९। ६ अलंकारशेखर १३,१०-११। बृहत्संहिता ७०-४। ७ कविकल्पलता १३। ८ बृहत्संहिता ७०।

कवियोंमें प्रसिद्ध नहीं है, साधारणतः स्त्रीके अग्रभागके सौन्दर्यका वर्णन ही प्रसिद्ध है, पर अवस्थाविशेषमें (जैसे मानके समय मुँह फिराकर बैठी हुई अवस्थामें) पीठकी उपमा कञ्चन-पट्टिकासे दी जाती है। कटिका क्षीण वर्णन ही प्रशस्त माना गया है, इसकी पराकाष्ठा दिखानेके लिए कभी कभी कविगण उसका वर्णन शून्य रूपमें करते हैं। साधारणतः निम्नलिखित उपमाएँ कटिके लिए प्रसिद्ध हैं : सुईकी नोंक, शून्य, अणु, वेदी, सिंहकी कटि और मुष्टिग्राह्यता[1]।

कटिका अधोभाग—इस प्रदेशमें जघन, नितंब, उरु, चरण, अँगूठा, नख, नूपुरध्वनि, गमन आदि वर्णनीय विषय हैं। गोवर्धनने जंघामें कान्ति, वृत्तानुपूर्वता, नातिदीर्घता, अत्यन्त मंदता और शीतलता : ये वर्णनीय गुण बताये हैं। वराहने कहा है कि जिस कुमारीके चरण स्निग्ध, उन्नत, आगेको पतले, और लाल नाखूनवाले हों; सम, उपचित, सुन्दर और गुप्त गुल्फ-समन्वित हों; उँगलियाँ सटी हुई तथा चरणतल कमलकी कान्तिवाला हो; उसके साथ विवाह करनेवाले पुरुषको राज्य-प्राप्ति होती है। फिर, जिस कन्याकी जाँघें रोमरहित और शिराहीन हों; दोनों जानु सम हों; घुटनोंकी संधियाँ ऊबड़-खाबड़ न हों; उरु-देश घन और हाथीकी सूँड़के समान हों; गुह्य देश विपुल और अश्वत्थ-पत्रके समान हों; श्रेणी, ललाट और उरु कछुएकी पीठकी भाँति बीचमें ऊँचे और दोनों ओर ढालू हों; मणिबंध गूढ़ तथा नितंब विस्तीर्ण और मांसल हो; तो कन्या श्रीयुक्त होती है[2]। इन गुणोंको लक्ष्य करके कवि जघनकी उपमा पुलिनसे; नितंबकी उपमा पीढ़ा, प्रस्तर, पृथ्वी, पहाड़, चक्र आदिसे; उरुकी उपमा हाथीकी सूँड़, कदलीस्तंभ और करभसे; चरणोंकी उपमा पल्लव, कमल, स्थल-पद्म और प्रबालसे और अँगूठेके नखकी उपमा प्रबालसे देते हैं। गतिका संबंध इन्हीं अंगोंसे है अतः इनके ऐसा रहते गतिका मंद होना स्वाभाविक है। अतएव इसकी उपमा भी हाथी और हंसके गमनसे दी गई है। नूपुरध्वनिकी उपमा सारस हंस आदिके शब्दोंके साथ देना प्रसिद्ध है[3]।

इस प्रकार कवियोंमें स्त्रीरूपका वर्णन प्रसिद्ध है। स्त्रीरूपके सम्बंधमें सामुद्रिक लक्षणोंके लिये गरुड़पुराण ६४ अध्याय द्रष्टव्य है।

---

१ अलंकारशेखर १३, ११-१२। २ बृहत्संहिता ७०-१-३। ३ अलङ्कारशेखर १३—१३-१४।
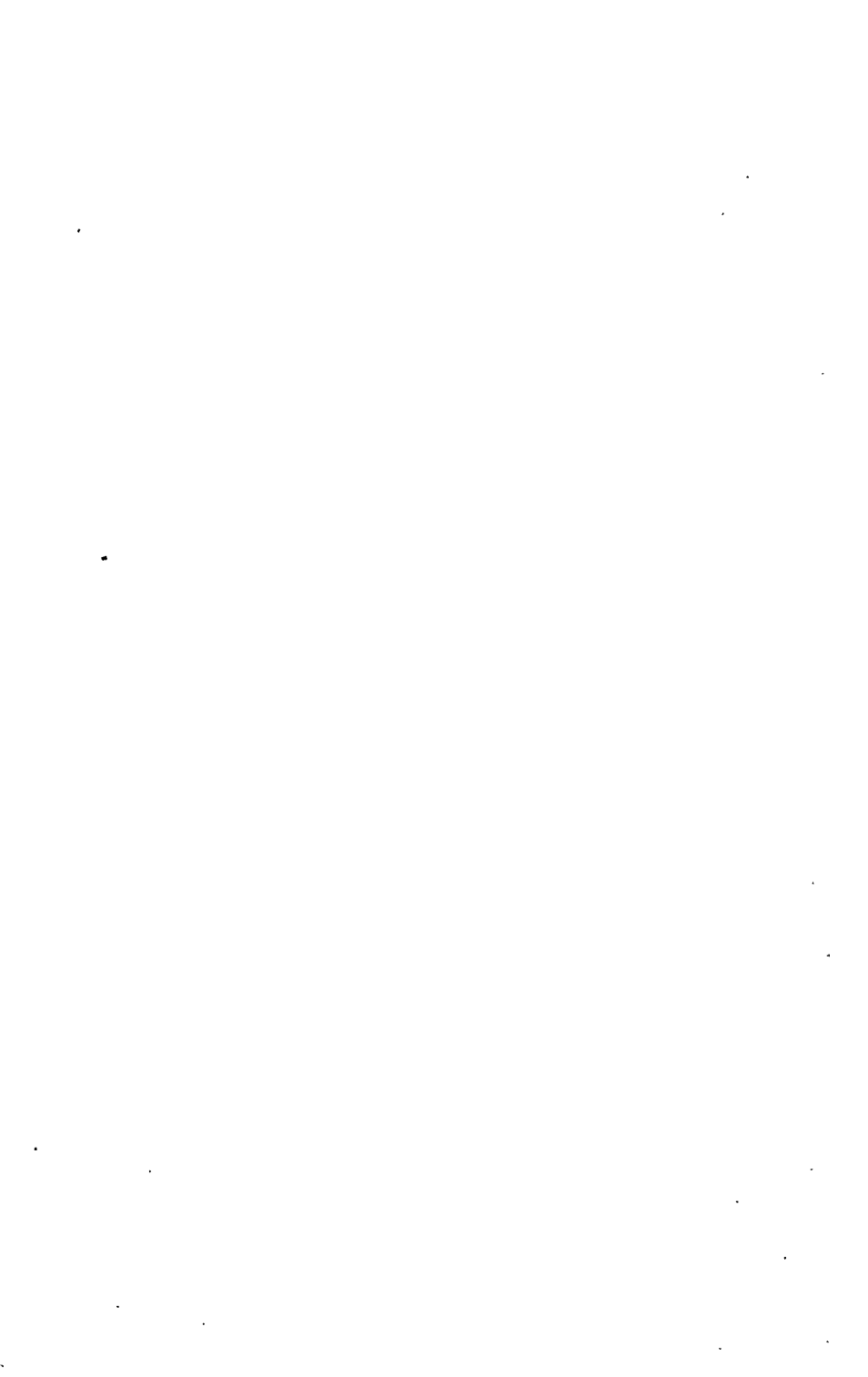
अनुक्रमणिका

[जिनके आगे (आ०) छपा हुआ है उनकी चर्चा आगे आनेवाले पृष्ठोंमें भी है और जिनके आगे (टि०) छपा हुआ है वे टिप्पणीमें आये हैं ।]